आयुर्वेद दर्शन

लेखक

आचार्य राजकुमार जैन

एच पी ए दर्शनायुर्वेदाचार्य एम ए (हिन्दी-संस्कृत)

साहित्यायुर्वेद शास्त्री साहित्यायुर्वेदरत्न

प्राक्कथन

पद्मभूषण वैद्यरत्न पं० शिवशर्मा

प्रकाशक

अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान

तिलक फार्मेसी भवन, इटारसी (म० प्र०)

मुद्रक
प्रिय प्रिंटिंग एजेंसी,
५ ४७ गली ब्राह्मण वाली
पहाड़ी धीरज दिल्ली ६

प्रकाशक
अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान
तिलक फार्मेसी भवन
इटारसी ४६११११ (म प्र)

□ संस्करण जनवरी १९७९

□ मूल्य [illegible] रुपए एक सौ पचास

पुस्तक प्राप्ति स्थान

आचार्य राजकुमार जैन
प्रथम तल
१ ई/६ स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-११ ०५५

वी के प्रकाशन
बड़ौत, (उ० प्र)
जिला—मेरठ

समर्पण

जिन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ आयुर्वेद की मूक सेवा मे
अपने जीवन के ८४ वर्ष लगा दिए और जिन के
शुभाशीर्वाद व प्रेरणा से मैं अपनी इस कृति
को मूर्त्तरूप देने मे सफल हो सका हू उन
पूज्य पिता श्री के चरण कमलो मे
अत्यन्त श्रद्धा एव विनय के साथ
समर्पित मेरे तुच्छ प्रयास का
यह सुवासित पुष्प ।

प्राक्कथन

सन् १९२८ मे (भारत विभाजन से लगभग २० वर्ष पूर्व) लाहौर औरिएण्टल कान्फ्रेन्स का एक महाधिवेशन हुआ था। उन दिनो मैं श्रीमद दयानन्द आयुर्वेद महा विद्यालय लाहौर मे कायचिकित्सा का प्राध्यापक था। महाविद्यालय के प्राचार्य तथा प्रबन्धकारिणी के आदेश पर उस सस्था की ओर से उस महाधिवेशन में मैंने भी भाग लिया था। वहीं पहली बार यह चर्चा सुनी कि चरक ने जिस ढंग से चरक संहिता मे सांख्य का प्रतिपादन किया है वह सांख्य का दर्शन अथवा साख्यकारिका का शतप्रतिशत अनुकरण नही है एक स्वतन्त्र सांख्य का स्वरुप है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि चरक ने एक नवीन दशन का निर्माण कर दिया क्योंकि उसका कोई भी वाक्य सांख्य के मौलिक सिद्धान्तो का विरोध अथवा खण्डन नहीं करता। जो भी थोडा बहुत परिवर्तन कहीं हुआ है उसका लक्ष्य आयुर्वेद के अपने विशिष्ट सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए एक सुविधाजनक तथा अनुकूल दार्शनिक नींव डालना है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आचाय राजकुमार जैन केवल सांख्य के क्षेत्र मे ही नहीं सम्पण दार्शनिक क्षेत्र मे आयुर्वेद के दृष्टिकोण को स्वतन्त्र मानते हैं।

मैं लेखक के दृष्टिकोण से सहमत हू। आत्मा मन और शरीर का काल-द्रव्य के साथ सयोग वियोग के बीच का अन्तर आयु का प्रमाण है। इस अवधि में मनुष्य को प्राकृतावस्था मे रखना आयुर्वेद का उद्देश्य है। परन्तु आयर्वेद ने जन्म और मरण की भी रोगो में ही गणना की है—स्वाभाविक रोगो मे। आयुर्वेद का यह प्रसग उन अशों मे से है जिनके कारण यह शास्त्र अन्य चिकित्सा प्रणालियो से अधिक भिन्न अधिक व्यापक तथा सम्पूण समझा जाता है। बौद्धिक चिन्तन ने इसे और भी अधिक सार्थकता प्रदान की है। इसी करण से इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र की भूमिका धारण कर प्राक् चकित्सिक विज्ञान का स्वरूप भी स्वय ही ग्रहण करना पडता है।

इस भूमिका मे षड्दशनों की पृष्ठभूमि का पूण सम्मान रखते हुए उनके आधारभूत सिद्धान्तो के साथ एक व्यापक जीवनशास्त्र की क्रियात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आयुर्वेद के प्रवर्तकों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तो का एक उपा देय तथा वांछनीय सामन्जस्य बिठाया है। यही आयुर्वेद दर्शन है।

विद्वान् लेखक ने इस महत्वपूर्ण विषय को सरल सुव्यवस्थित तथा सुग्रथित पाठ के रूप में उपस्थित किया है। प्रस्तुत पुस्तक आयुर्वेद के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए तथा साधारण अध्ययनशील शास्त्र प्रेमी व्यक्तियों के लिए उपादेय तथा शिक्षाप्रद सिद्ध होगी।

'धन्वन्तरि
बी ४/५३ सफदरजंग एन्क्लेव
नई दिल्ली

—शिवशर्मा

आत्म निवेदन

आयुर्वेद शास्त्र मात्र चिकित्सा शास्त्र नहीं है अपितु वह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है जो आध्यात्मिकता एव दर्शन से अनुप्राणित है। आयुर्वेद मे से यदि इन दोनो तत्वो को निकाल दिया जाय तो वह स्वयं निर्जीव शरीर की भांति हो जायगा। आध्यात्मिकता यदि आयुर्वेद की आत्मा है तो दार्शनिकता उसके प्राण हैं। यह निर्विवाद है कि जब से पृथ्वी पर मानव जीवन प्रारम्भ हुआ है, तब से ही आयुर्वेद अपने मौलिक स्वरुप के साथ विद्यमान है। अत यह नि सकोच कहा जा सकता है कि वह शाश्वत है। अपनी कतिपय मूलभूत विशेषताओं के कारण आयुर्वेद मानव जीवन के जितना अधिक निकट है उतना कोई अन्य शास्त्र नही है।

आयुर्वेद की अपनी चिन्तन पद्धति है, अपना मौलिक दर्शन है और उससे अनु प्राणित अपनी मौलिक विचार धारा है जिसने उसके आधारभूत सिद्धान्तों रोग निदान पद्धति एव चिकित्सा सिद्धा तो की उद्भावना की है। वे इतने व्यापक साधक उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं कि आज भी बदले हुए परिवेश मे उनकी उपादेयता को नकारा नही जा सकता। यही उनके शाश्वत होने का एक पुष्ट प्रमाण है। परिस्थिति वश हमारे दृष्टिकोण एव विचाचार मे जो परिवर्तन आया है उसने ही यह पुरातन है अत उपयोगी एव ग्राह्य नहीं है —कह कर उनको अस्वीकार करने का प्रयत्न किया है जो वास्तविकता से मुख फेरने जैसा है।

आयर्वेद शास्त्र मे जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे सब पूर्णत दार्शनिकता से अनुप्राणित हैं। उन सिद्धान्तों की विवेचना भी उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार दार्शनिक विषयों एव सिद्धान्तो की जाती है। यद्यपि आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ पुरुषो के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर (रोगी) मनुष्यो के विकार का प्रशमन करना है तथापि अ ततोगत्वा आत्मा के निर्विकार स्वरूप की प्राप्ति ही इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। आयुर्वेद का यह वैशिष्ट्य है कि उसने अभ्युदय और नि श्रेयस दोनों के लिए समान रूप से जोर देकर दोनो को ही अपना लक्ष्य बनाया है। यहां अभ्युदय का अर्थ है भौतिक समुन्नति और निःश्रेयस का अर्थ है मोक्ष प्राप्ति। इस सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो अथवा नि श्रेयस् दोनों की प्राप्ति के लिये मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त रूप से अपेक्षित है।

आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन के सम्बन्ध मे प्रकृत ग्रथ के प्रथम अध्याय में ही पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यहां मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि भले ही दर्शनों की सख्या एव परिगणन मे आयुर्वेद दर्शन को स्थान नहीं दिया है किन्तु अपनी मौलिक *चिन्तन पद्धति के कारण आयुर्वेद दर्शन की मौलिकता को अस्वीकार नहीं किया जा* सकता। इतना तो स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्र की अपेक्षा आयर्वेद का विषय क्षेत्र अधिक व्यापक है। इसमें सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना तो है ही व्यवहारिक पक्ष की विवेचना भी अधिक प्रासंगिकता पूर्वक गई है जो अन्य दर्शनो मे उपलब्ध नहीं है।

आयुर्वेद के अन्यान्य विद्वानो ने आयुर्वेदीय दर्शन या आयर्वेद के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर जिन ग्रथों या पुस्तको का निर्माण किया है उन्हें प्राय आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की संज्ञा दी गई है जो सीमित विषय का सकेत करती है। आयर्वेदीय पदार्थ विज्ञान यद्यपि आयुर्वेद का आधारभूत विज्ञान है और उसमे उन सभी तत्वो एव विषयो का समावेश है जो आयर्वेद रूपी विशाल भवन को सुदृढ आधार प्रदान करते है। अत आयर्वेद के लिए उसकी ग्राह्यता असदिग्ध एव अपरिहार्य है। यह भी सुस्पष्ट है कि आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान मे प्रतिपादित समस्त विषयो की विवेचना का मूल दार्शनिक तत्व हैं। जिन्हें पूर्णत आयर्वेदीय परिवेश मे ढाल कर उन्हें आयुर्वेदोपयोगी बनाया गया है। अत उनकी विवेचना एव समीक्षा आयुर्वेदीय दृष्टि से किया जाना अपेक्षित है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो आयुर्वेद का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा और जीवन विज्ञान के रूप मे आयुर्वेद की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लग जायगा। इससे स्पष्ट है कि इतने व्यापक सन्दर्भ एव परिवेश को मात्र आयर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' शीर्षक व्याप्त नही कर सकता। उसके लिए व्यापक क्षेत्र वाला शीर्षक ही अपेक्षित है जो उसकी मौलिकता एव सार्थकता का प्रतिपादन करने मे समर्थ हो। इन सब बातो पर विचार कर मुझे आयर्वेद दर्शन शीर्षक ही समीचन प्रतीत हुआ।

मेरा अपना विनम्र अभिमत है कि अन्य दर्शनो की भाति आयुर्वेद दर्शन को भी दर्शन शास्त्र की श्रेणी मे रखा जाना चाहिये। जब चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन को दर्शन माना गया है तो शाश्वत जीवन विज्ञान को सुदृढ आधार प्रदान करने वाले आयर्वेद शास्त्र मे वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तो को दर्शन की श्रेणी मे रखने में आपत्ति नहीं होना चाहिये। आशा है विद्वज्जन इसी सन्दर्भ मे मेरे इस क्षुद्र प्रयास को देखने की कृपा करेंगे।

विदुषामनुचर

राजकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण १
विषय प्रवेश १
दर्शन शब्द का अर्थ और उसकी व्यापकता २
दर्शन की उद्भूति ३
आयुर्वेद पर दर्शनों का प्रभाव ४
दर्शनों की सख्या और श्र णी विभाजन ५
आयुर्वेद से सम्बन्धित दर्शन ६
आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन ७
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की उपयोगिता ७
पदार्थ का लक्षण ९
पदार्थ विभाजन एव सख्या १
भाव पदाथ-अभाव पदाथ १

द्वितीय अध्याय द्रव्य निरूपण

द्रव्य का लक्षण १२
द्रव्य सख्या १४
द्रव्य क अन्य भेद १५
पथ्वी का लक्षण व भेद १७
जल का लक्षण व भेद १७
तेज का लक्षण व भेद १९
वायु का लक्षण व भेद २
आकाश का लक्षण व भेद २१
वायु और आकाश की सिद्धि २१
पञ्च महाभूत २३
महाभूतो के लक्षण व गुण २४
महाभूतो के सत्वादि गुण २७
महाभूतो की उत्पत्ति एव उनका परस्परानुप्रवेश २८
काल निरूपण ३१
काल शब्द की उत्पत्ति ३१
काल शब्द की परिभाषा और लक्षण ३१
काल के औपाधिक भेद ३३
आयुर्वेद मे काल का महत्व ३४
दिशा निरूपण ३५
आत्मा निरूपण ३६
आत्मा का लक्षण ३६

आयुर्वेद सम्मत आत्मा और उसके भेद ४५
परम आत्मा या परम पुरुष ४६
आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा ५०
राशि पुरुष या स्थूल चेतन शरीर ५५
चिकित्स्य पुरुष या कर्म पुरुष ५६
संयोग पुरुष अथवा षड धात्वात्मक पुरुष ५६
राशि पुरुष ५७
देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व ५९
आत्मा के लक्षण ६१
आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति ६३
आत्मा की उत्पत्ति ६४
मनो निरूपण ६७
मन का लक्षण ६९
मन के गुण ७२
मन के विषय तथा कर्म ७५
मन का स्थान ७६
तम का द्रव्यत्व खण्डन ७९

तृतीय अध्याय—गुण निरूपण

गुण का लक्षण २
गुण संख्या ८४
वैशेषिक गुण ८६
कर्मण्य सामान्य गुण ८६
आध्यात्मिक गुण ८८
परादि सामान्य गुण ८९
गुणों का परिचय ८९
वैशेषिक गुण ८९
शब्द (निरूपण) ८९
(शब्द) उत्पत्ति और भेद ९
स्पर्श निरूपण ९२
रूप निरूपण ९३
रस निरूपण ९४
गन्ध निरूपण ९६
कर्मण्य सामान्य गुण ९७
गुरु-लघु ९७
शीत-उष्ण ९८
स्निग्ध-रूक्ष ९९
मन्द-तीक्ष्ण १००

स्थिर-सर १०१
मृदु-कठिन १०२
पिच्छिल-विशद १०३
श्लक्ष्ण-खर १०४
सूक्ष्म स्थूल १०५
द्रव सान्द्र १०७
आध्यात्मिक गुण १०८
बुद्धि निरूपण १०९
सुख निरूपण १११
दुःख निरूपण ११२
इच्छा निरूपण ११३
द्वेष निरूपण ११३
प्रयत्न निरूपण ११४
परादि सामान्य गुण ११५
परत्वापरत्व निरूपण ११५
युक्ति निरूपण ११६
संख्या निरूपण ११७
संयोग निरूपण ११८
विभाग निरूपण ११९
पृथक्त्व निरूपण ११९
परिमाण निरूपण १२०
संस्कार निरूपण १२०
अभ्यास निरूपण १२१
न्यायोक्त चतुर्विंशति गुण १२२
गुणों का साधर्म्य १२३
गुणों का वैधर्म्य १२४
द्रव्यों में पाए जाने वाले गुण १२५
गुण प्राधान्य निरूपण १२६

चतुर्थ अध्याय—कर्म निरूपण

कर्म का लक्षण १२७
कर्म के भेद १२८
लौकिक कर्म के प्रकार १२९
न्यायोक्त कर्म के भेद १३०

पंचम अध्याय—सामान्य निरूपण

सामान्य निरूपण १३३

सामान्य का लक्षण १३३
सामान्य का आश्रय १३४
सामान्य के भेद १३५
सामान्य के अन्य भेद १३८

षष्ठ अध्याय—विशेष निरूपण

विशेष निरूपण १३६
विशेष का लक्षण १४
विशेष के भेद १४२
प्रवृत्तिरुभयस्य तु १४३

सप्तम अध्याय—समवाय निरूपण

समवाय का लक्षण १४५

अष्टम अध्याय—अभाव निरूपण

अभाव का लक्षण १४८
अभाव के भेद १४६
प्रागभाव १४६
प्रध्वंसाभाव १४६
अत्यन्ताभाव १५
अन्योन्याभाव १५

नवम अध्याय—प्रमाण निरूपण

प्रमाण निरूपण १५१
प्रमाण का लक्षण १५२
आयुर्वेद मे परीक्षा शब्द का व्यवहार १५२
प्रमा-प्रमेय प्रमाता और प्रमाण १५३
प्रमा १५३
प्रमेय १५४
प्रमाता १५४
प्रमाण १५५
प्रमाण का महत्व १५५
प्रमाण का फल १५५
आयुर्वेद सम्मत प्रमाण १५८
स्वत प्रामाण्य और परत प्रामाण्य १६०

दशम अध्याय—प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

प्रत्यक्ष का लक्षण १६१
ज्ञानोत्पत्ति प्रकार १६३
इन्द्रियों का स्वरूप एवं लक्षण १६४
इन्द्रियों का श्रेणी विभाजन एवं संख्या १६४
ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय उभयेन्द्रिय १६५
इन्द्रियों के विषय १६६
इन्द्रियों का भौतिकत्व १६६
पंच पंचक १६९
इन्द्रियों की वृत्तियाँ १७०
त्रयोदश करण १७१
करणो मे अन्तःकरण का प्राधान्य १७१
अन्तःकरणो की वृत्तियाँ १७२
प्रत्यक्ष के भेद १७३
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष १७३
सविकल्पक प्रत्यक्ष १७४
सन्निकर्ष का स्वरूप एवं भेद १७४
सामान्य लक्षणा-ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति-योगज १७६
आयुर्वेद में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का स्वरूप १७७
वेदना का अधिष्ठान १७९
वेदनानाश के हेतु १८१
इन्द्रियो की प्राप्यकारिता विचार १८२
विविध यन्त्रो द्वारा प्रत्यक्ष का विस्तार १८३
प्रत्यक्ष के रहते हुए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता १८४
प्रत्यक्ष के बाधक १८५
आयुर्वेद मे प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता १८७

एकादश अध्याय—अनुमान निरूपण

अनुमान का स्वरूप एवं लक्षण १८९
चरकोक्त अनुमान का लक्षण एवं भेद १९२
अनुमान के अन्य भेद एवं पंचावयव १९४
लिङ्ग परामर्श १९५
अन्वय व्यतिरेकी-केवलान्वयी १९६
न्यायोक्त अनुमान के भेद १९७
हेतु का स्वरूप और भेद १९८
अहेतु, असद् हेतु या हेत्वाभास २०१
व्याप्ति विमर्श २०६
दृष्टान्त २०८
तर्क का स्वरूप एवं महत्व २०९

द्वादश अध्याय-आप्तोपदेश प्रमाण निरूपण

आयुर्वेद मे आप्तोपदेश का प्राधान्य	२१२
आप्तोपदेश का लक्षण एव आप्त का स्वरूप	२१३
आगम प्रमाण	२१७
शास्त्र का लक्षण	२१८
ऐतिह्य प्रमाण	२२
निघण्टु	२२१
शब्द प्रमाण	२२१
तर्क सग्रह के अनुसार शब्द	
चरकोक्त शब्द का लक्षण एव भेद	२२
शब्दार्थबोधक वृत्तियाँ	२२६
वाक्य स्वरूप एव वाक्यार्थ ज्ञान मे हेतु	२ ८
आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि	२२९
शक्तिग्रह एव शक्ति ग्राहक	२३

त्रयोदश अध्याय अन्य प्रमाण निरूपण

युक्ति प्रमाण	२ ४
युक्ति का स्वरूप एव लक्षण	२३४
युक्ति प्रामाण्य विचार	२३८
युक्ति प्रमाण का वैशिष्टय	२४
उपमान प्रमाण निरूपण	२४१
उपमान का आयुर्वेद सम्मत लक्षण	२४२
आयुर्वेद मे उपमान प्रमाण की उपयोगिता	२४४
अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण	२४४
अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण	२४५
सम्भव प्रमाण	२४६
चेष्टा प्रमाण परिशेष प्रमाण	२४७
इतिहास प्रमाण	२४७

चतुर्दश अध्याय—तद्विद्य सम्भाषा

तद्विद्य सम्भाषा से लाभ	२४८
तद्विद्य सम्भाषा के भेद	२५
वाद-जल्प और वितण्डा	२५३
जल्प और वितण्डा	२५४
निग्रहस्थान	२५४
भ्रान्ति या विपर्यय	२५८

पंचदश अध्याय—सृष्टि उत्पत्ति क्रम एवं तत्व निरूपण

सृष्टि या सर्ग निरूपण	२६०
प्रकृति या अव्यक्त	२६२
महान् और अहंकार की उत्पत्ति	२६३
इन्द्रियो की उत्पत्ति	२६३
पञ्चतन्मात्राओ एव महाभूतो की उत्पत्ति	२६४
तत्व निरूपण	२६५
तत्वो का वर्गीकरण	२६७
प्रकृति या अव्यक्त	२६८
महत्तत्व	२६८
अहंकार	२७०
आयुर्वेद सम्मत सृष्टिक्रम	२७१
चरकानुमत चतुर्विंशति तत्व	२७१
व्यक्त और अव्यक्त मे अन्तर एव साम्य	२७३
प्रकृति-पुरुष साधर्म्य-वैधर्म्य	२७३
प्रकृति पुरुष के सयोग का कारण	२७४
त्रिगुण निरूपण	२७६
सत्व रज तम के लक्षण	२७८
सत्व गुण लक्षण	२७८
रजो गुण के लक्षण	२७९
तमो गुण के लक्षण	२८
तीनो गुणों के समान लक्षण	२८२

षोडश अध्याय—लय और प्रलय निरूपण

पुनर्जन्म	२८५
चतुर्विध प्रमाण से पुनर्जन्म की सिद्धि	२९१
मोक्ष या अपुनर्भव	२९३

सप्तदश अध्याय—कार्यकरण भाव एवं वाद निरुपण

कारण का स्वरूप एवं भेद 297
समवायि कारण असमवायि कारण (निमित्त कारण)
आयुर्वेद में कार्यकारण भाव 299
सत्कार्यवाद 3 1
असत्कार्यवाद 3 5
परमाणुवाद 3 7
स्वभावोपरमवाद 31
परिणामवाद 312
विवर्तवाद 315
क्षणभंगुरवाद 317
पीलुपाक-पिठरपाक 318
अनेकान्तवाद 32

अष्टादश अध्याय-तन्त्रयुक्ति विज्ञानीय

तन्त्रयुक्ति को उपयोगिता 327
तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन 328
तन्त्रयुक्तियो की संख्या 328
अधिकरण योग 329
पदार्थ हेत्वर्थ 33
उद्देश निर्देश उपदेश अपदेश 331
प्रदेश अतिदेश 332
अपवर्ग वाक्यशेष अर्थापत्ति 333
विपर्यय प्रसंग 334
एकान्त अनेकान्त पूर्वपक्ष निर्णय 335
अनुमत विधान 336
अनागतावेक्षण अतीतावेक्षण संशय 337
व्याख्यान स्वसंज्ञा 338
निर्वचन निदर्शन नियोग 339
समुच्चय विकल्प उह्य 34
प्रयोजन प्रत्युत्सार उद्धार, सम्भव 341

एकोनविंश अध्याय

व्याख्या कल्पना ताच्छील्य अर्थाश्रय एवं तन्त्रदोष
पञ्चदशविध व्याख्या 342
सप्तदश कल्पना 347
सप्तदश ताच्छील्य 339
एकविंशति अर्थाश्रय 352
तन्त्रगुण 356
चतुर्दश तन्त्रदोष 358

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

दीर्घायुष्यं वितरति सुखमपि परमं यो जनानामजस्र
रोगाणां जालपाशं सकृदिह मननतः साग्रहं छिनत्ति ।
ध्वस्ताधिव्याधिवर्गं निहतमलचयं सर्वलोकैः नुतं तं–
आत्रेयं चाग्निवेशं चरकमुनिवरं देवधन्वन्तरिं वा ॥

अर्थात् जो मनुष्य के दीर्घायुष्य को करता है जो लोगों को सतत श्रेय परम सुख प्रदान करता है एक बार मनन करने मात्र से जो रोगों के जाल रूपी पाश को आग्रहपूर्वक काट देता है, जिसने समस्त आधि व्याधि वर्ग को नष्ट कर दिया है दोष समूह को नष्ट करने वाले समस्त प्राणियों द्वारा वन्दनीय महर्षि आत्रेय अथवा महर्षि अग्निवेश महर्षि चरक या भगवान धन्वन्तरि को नमस्कार है।

विषय प्रवेश

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब ही से प्राणियों को सुख और दुख की अनुभूति होने लगी थी। मनुष्यो की अनुभूति में सुख उसके लिए अनुकूल प्रतीत एवं हितकारी प्रवृत्ति थी। इसके विपरीत दुख उसके लिए प्रतिकूल प्रतीत एवं अहितकार प्रवृत्ति थी। अतः आरम्भ से ही मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं सतत उसकी स्थिति तथा दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहा। मनुष्यों के इस स्वाभाविक प्रयास मे उसे सफलता दिलाने लिए इस भूमण्डल पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ। क्योंकि मनुष्यो की तत्कालीन अनुकूल प्रतीति जनित सुख (आरोग्य) की उपलब्धि एवं प्रतिकूल प्रतीति जनित दुख (विकार) की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद ही समर्थ था। मूलतः आयुर्वेद का प्रयोजन भी यही है – "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार प्रशमनम्" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रुग्ण व्यक्तियों के विकार का प्रशमन करना।

सम्पूर्ण आयुर्वेद की आधार शिला उसके मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित

है। उन मौलिक सिद्धान्तो के अध्ययन के बिना आयुवद का ज्ञान प्राप्त करना सवथा असम्भव है। अत सवप्रथम उनका अध्ययन एव ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि आयुर्वेद के समस्त मौलिक सिद्धान्त एव सम्पूण आयुर्वेद का आधारभत विज्ञान आयुर्वेद की निजी चिन्तनधारा उसका अपना प्रयोजन एव उसके स्वकीय दृष्टिकोण पर ही आधारित है तथापि वे सिद्धान्त और वह विज्ञान भारतीय दर्शनशास्त्र एव तात्विक विषयो से अनुप्राणित हैं। उन सिद्धान्ता मे दाशनिक एव आध्यात्मिक सिद्धान्तो का समावेश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र की चि तनधारा अध्ययन पद्धति मनन शली एव अनुशीलन परम्परा का उसकी समकालीन विद्याओ पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। यही कारण है कि आयुवद के आधारभूत सिद्धा त भी दशनशास्त्र और दार्शनिक त वो से पर्याप्त प्रभावित है। इसका एक कारण यह भी है कि आर्ष काल मे जिन जिन विषया एव विद्याओ का अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है तथा जिन गुरुओ ने आयुव आदि विद्याओ की शिक्षा दीक्षा दी है वे स्वय आयुर्वेद के स थ साथ दर्शनशास्त्र एव अन्य विषयो के भी ज्ञाता कर्ता एव प्रवक्ता थे। अत उनके द्वारा आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तो का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्त स प्रभावित होना स्वाभाविक है।

दशन शब्द का अथ और उसकी यापकता

दर्शन का सामा य अर्थ होता है देखना। दृश्यतेऽनेनेति दशनम् अर्थात जिसके द्वारा देखा जाय वह दशन कहलाता है। सामा यत नत्रो के माध्यम से चक्ष इ द्रिय द्वारा जो क्रिया प्रतिपादित की जाती है वह दर्शन श द से अभिप्र त है। वस्तुओ के स्वरूप को उसके ता विक अथवा वास्तविक रूप म देखना ही दर्शन कहलाता है। वस्तुओ के यथाथ स्वरूप ज्ञान को ही दशन कहते है। कुछ आचार्यों के अनुसार दशन शब्द का मोटा और स्पष्ट अथ है साक्षात्कार करना अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निणय करना।

तात्पय यह है कि विभिन्न दशनकार ऋषियो ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को जानने की चेष्टा की और उसी का बार-बार मनन चि तन और निदिध्यासन किया। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उ हे अपनी बलवती भावना क अनसार वस्तु का वह स्वरूप स्पष्ट प्रतिभासित हुआ।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक दशनकार ऋषि ने प्रथम चेतन और और जड के स्वरुप उनका पारस्परिक सम्ब ध तथा दृश्य जगत की व्यवस्था को जानने का अपना दष्टिकोण बनाया। पश्चात उसी का सतत चिन्तन और मनन धारा के परिपाक से जो तत्व साक्षात्कारकी प्रकृष्ट और बलवती भावना जाग्रत हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उन्होने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है। तत्वो का साक्षात्कार किया है आ मा के यथाथ स्वरूप का अवलोकन किया है तथा स्वात्मानुभूति के अनन्त

सागर मे अखण्ड अक्षय और परमोत्कृष्ट अलौकिक सुख का अनुभव किया है। इस प्रकार दर्शन का मूल उद्गम दृष्टिकोण से हुआ है और उनका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।

दर्शन का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक तत्वो की विवेचना कर उसके यथार्थ स्वरूप के रहस्य का ज्ञानोपार्जन कराना है। आध्यात्मिक तत्वो के अतिरिक्त अन्य तत्वो का विवेचन एव दिग्दर्शन कराना भी दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्व चिन्तन की उच्चात्युच्च कल्पना विचारो की सूक्ष्मता विविध आध्यात्मिक विषयो के अध्ययन मनन एव अनुशीलन की गम्भीरता तथा प्रत्येक तत्व की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना ही दर्शन का आधार है।

दर्शन की उदभूति

भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। अत भारतीय जन जीवन मे आध्यात्मिकता धार्मिक भावना एवं सामाजिक सौहार्द भाव की जडें इतनी गहरी जमी हुई हैं कि अनेक वर्षों के आघात प्रत्याघात भी उनका समूलोच्छेदन नही कर सकते। भारतीय चिन्तन धारा ने जहाँ परहित विवेक की प्रतिष्ठापना की वहाँ इसने मैं और विश्व तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर उन्मुक्त और गम्भीर मनन किया है। दिव्य द्रष्टा ऋषियो ने ऐहिक चिन्ता से मुक्त होकर आत्म तत्व की गवेषणा मे अपनी समग्र शक्ति एकाग्र चित्त से लगाई। उन्होन आत्म साधना की प्रक्रिया का अन्वेषण किया और ज्ञान के आधार पर अलौकिक चक्षुओ द्वारा ससार के परिभ्रमणशील चक्र का अवलोकन कर इसकी यथार्थता से मानव मात्र को अवगत कराया।

सृष्टि के आदि काल से ही बौद्धिक चिन्तन एव आत्मानुशीलन मे एकाग्र चितवृत्ति द्वारा समस्त प्रवृत्तियो को अन्तर्मुख करने वाले ऋषि महर्षियो के हृदय मे सृष्टि के प्रति बाल सुलभ जिज्ञासा एव औत्सुक्य वृत्ति प्रादुर्भूत हुई। इस सृष्टि तथा उससे सम्बन्धित विविध भावो के विषय मे अनेक प्रश्न उन ऋषियो के अन्त करण मे समुत्पन्न हुए। उन प्रश्नो का समाधान उन्होने अपनी तप साधना द्वारा आत्म साक्षात्कार पूर्वक किया। कालान्तर मे एवभूत विविध जिज्ञासाओ का समाधान लिपिबद्ध करके शास्त्र के रूप मे उन्हे सुरक्षित रखा गया। जिन ग्रन्थो मे विशेषत उस ज्ञान को लिपिबद्ध किया गया है इस प्रकार के शास्त्र एव ग्रन्थो को ही दर्शन शास्त्र की सज्ञा से व्यवहृत किया गया। दर्शनशास्त्र एक वैज्ञानिक शास्त्र है, जो नित्यप्रति अनेक तत्वो के विषय मे अन्वेषण कर गम्भीरता पूर्वक उनका चिन्तन करता है उससे सम्बन्धित प्रत्येक पहलू का विचार कर उसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उसे हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

यह सृष्टि क्या है। इसका प्रयोजन क्या है? इसकी उत्पत्ति कब हुई? इसका सृष्टा कौन है? सृष्टि करने का उद्देश्य क्या था? आत्मा क्या है? परमात्मा क्या

है ? हम कौन हैं ? क्या हैं ? और कहा से आये हैं ? हमारा क्या कतव्य है ? और जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? इ यादि प्रश्नो का समुचित समाधानात्मक उत्तर हमे दर्शन शास्त्र ही दे सकता है ? क्योंकि उपयु क्त प्रश्नो का समाधान करना ही दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्व ज्ञान द्वारा परम सुख या मोक्ष प्राप्ति का उपाय बतलाना दशनशास्त्र की मौलिक विशेषता है।

आयुर्वेद पर दर्शनों का प्रभाव

लगभग समस्त भारतीय दर्शन आध्या मिकता से अनुप्राणित रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय दशनो ने आ मा मन इ द्रिय और उससे सम्ब धित विषयो के प्रतिपादन को विशेष महत्व दिया। भारतीय दर्शनो की स्वत त्र चिन्तन धारा ने अपनी समकालीन विधाआ को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरुप आयुवद भी दाशनिक विचारधारा दाशनिक तत्वो एव दाशनिक अनुचिन्तन क प्रभाव से मुक्त नही रह सका। यह बात दूसरी है कि दष्टिकोण की भिन्नता और आयुवदीय सिद्धान्तो क अनुसार कतिपय विषयो म दाशनिक त वो की अनुकलता क कारण किसी दशन ने अ प रूप मे तो किसी दशन ने अधिक रूप मे आयुवद को प्रभावित किया। किन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सभी दर्शनो न आयुवद और उसके सिद्धा तो को न्यूनाधिक रूप मे प्रभावित किया है। आयुवद का इतना वशिष्टय अवश्य है कि उसने दशना के प्रतिपाद्य आ मा मन इ द्रिय के अधिष्ठान भत शरीर का सर्वांगपूण विवेचन कर दाशनिक सिद्धान्तो के अनुरुप उसकी उपयोगिता एव साथकता को प्रतिपादित किया।

भारतीय दशनशास्त्र एव आयुवद दोना ही भारतीय सस्कृति का पोषण एव मवधन करने वाले अभिन्न अग रहे हैं। भारतीय दर्शनकार ऋषिया ने दशनशास्त्र के माध्यम से जहाँ विश्व की चेतना भूत आ मा को जाग्रत कर उमे नि श्रयस के पथ पर अग्रसर किया वहाँ आयुवद ने आ मा के निवास स्थान भत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा आरोग्य एव अनातुरावस्था के लिए विभि न उपायो का निदश किया ताकि स्वम्थ एव अनातुर शरीर के माध्यम से आ मा अपने चरम लक्ष्य निवत्ति को प्राप्त कर सके। जिस प्रकार ससार चक्र क रूप मे आ मा और शरीर परस्पर सयुक्त है उसी प्रकार शास्त्रीय अध्ययन पद्धति के रूप म दशन और आयुर्वेद का पारस्परिक सम्ब ध प्रारम्भ से ही चला आ रहा है।

आयुव के दाशनिक पक्ष को इस दृष्टि से ग्रहण किया जाना चाहिए कि आयु वदीय चिकि सा क अनेक मह वपूर्ण सिद्धान्त दाशनिक सिद्धा तो से पूणत प्रभावित अथवा उन पर आधारित हैं। इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—

वैशेषिक दशन ने अन्य पदार्थों क साथ सामान्य और 'विशेष को पदार्थ माना है। आयुवद मे भी इ हें पदार्थ स्वीकार किया गया है। इसक अतिरिक्त आयुर्वेद मे चिकि त्सा सिद्धान्त क रूप मे भी इन दोनो पदार्थों की व्यापकता हुई। जसे शरीर मे

रक्ताल्पता की स्थिति की चिकित्सा मे 'सामान्य' सिद्धान्त के अनुसार 'सामान्य वृद्धिकारणम' के आधार पर रक्त के समान गुणधर्म वाले द्रव्यो के प्रयोग से रक्त का वृद्धि होती है तथा रक्ताल्पता दूर होकर व्याधि का नाश होता है। ज्वर के रोगी को पित्त नाशक द्रव्यो का प्रयोग विपरीत गण धम होने से 'विशेष' के आधार पर किया जाता है। जैसे बडचीसत्व पित्तनाशक एव वरघ्न होने से ज्वर का शमन करता है। इसी प्रकार आयुवद मे अय दाशनिक तत्वो एव सिद्धान्तो का विवेचन भी चिकित्सा सिद्धान्तानुसारी होने से महत्वपूण है। अत यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आयुर्वेद का दार्शनिक पक्ष अत्यधिक समृद्ध समुन्नत एव प्रबल है।

दशनो की सख्या और श्रेणी विभाजन

भारत मे प्रचलित दर्शनो को मुख्य रूप से दो श्रणियो मे विभाजित किया गया है—

(१) आस्तिक दर्शन और (२) नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दशन वह माना जाता है जो वेद मतावलम्बी है वेदो मे श्रद्धा व भक्ति रखता है वेदो को अपौरुषय एव ईश्वरकृत मानता है तथा वेदा का अस्तित्व व प्रामाण्य स्वीकार करता है। एतद्विध वदिक या वेदमतावलम्बी दर्शनो की सख्या छ है। यथा—गौतमकृत न्याय दशन कणादकृत वशेषिक दशन कपिलकृत साख्य दर्शन जमिनीकृत मीमासा दशन तथा व्यासकृत ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दशन। इन षडविध दशनो का मूलस्रोत उपनिषद् हैं। इन दर्शनो (तत्व ज्ञान या तत्व चिन्तन के मूल शास्त्रो) का जन्म उपनिषदो से ही हुआ है ऐसा विद्वानो का अभिमत है। दशन के बीज उपनिषदा मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्द होते हैं। उपनिषद् वेद के भाग हैं। इन उपनिषदो की सख्या १ ८ है। जिनमे म १ उपनिषद ऋग्वेद से सम्बन्धित है १९ शुक्ल यजुर्वेद से ३२ कृष्ण यजुर्वेद से १६ सामवेद से और ३१ अथववेद से सम्बन्धित है।

नास्तिक दर्शन वे समझ जाते है जो वेदो को ईश्वरकृत नहीं मानते। वे वेदो मे श्रद्धा भक्ति या विश्वास नही रखते। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं। नास्तिक समझ जाने वाले दर्शनो की सख्या तीन है। यथा—जैनदशन बौद्ध दशन और चार्वाक दशन। इनमे चार्वाक दर्शन पूर्णत नास्तिक अनात्मवादी भौतिकवादी एव प्रत्यक्षवादी है। उसके मतानुसार आत्मा परमात्मा स्वग नरक मोक्ष आदि कुछ नही है। जो कुछ प्रत्यक्ष है वही सत्य है अन्य समस्त अप्रत्यक्ष असत्य मिथ्या एव भ्रममात्र है। अत असत्य मिथ्या और भ्रम को स्वीकार करना कभी हितकारी नही हो सकता। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दोनो (जैन व बौद्ध) दर्शन स्वय को नास्तिक नही समझते। क्योंकि वे आत्मा परमात्मा स्वर्ग नरक मोक्ष कर्म कर्म फल पुण्य-पाप धम-अधर्म पुनर्जन्मादि समस्त तत्वो के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जो अनात्मवादी होता है और उपर्युक्त तत्वो के अस्तित्व को स्वीकार नही करता है वही

नास्तिक कहलाता है। मात्र वेद मन्त्रो को अपौरुषय मानने से किसी को नास्तिक मानना संकुचित मनोवृत्ति का ही द्योतक है। अत दशन के क्षेत्र म दृष्टिकोण की भिन्नता होते हुए भी उदात्त भाव पूवक अन्य आचार्यों के मन्तव्य एव विचार सरणि के विषय मे चिन्तन एव मनन पूर्वक उसे ग्राह्याग्राह्य करना एक स्वस्थ परम्परा है। किन्तु उपर्युक्त दोनो दर्शनो को केवल वेदो को ही ईश्वर कृत (अपौरुषय) न मानने तथा उनमे श्रद्धा व भक्ति न होने के कारण उन्हे नास्तिक माना गया है।

आयुर्वेद से सम्बन्धित दशन

सामान्यत सभी दर्शनो ने न्यूनाधिक रूप मे आयुवद और उसके सिद्धान्तो को प्रभावित किया है। क्योकि आयुवद के सहिता ग्रथ ऐसे काल की देन है जब दर्शनो ने भारत मे प्रचलित तत्कालीन समस्त विद्याओ को प्रभावित किया था। अत आष काल मे दशन और आयुवद का विकास समान रूपेण होने से तथा दोनो शास्त्रो का समान ज्ञान अर्जित करने वाले प्रवक्ताओ (ऋषिओ) द्वारा इनकी रचना किये जाने से दशन तथा दाशनिक विचारो का पर्याप्त प्रभाव आयुवद पर पडा है। तथापि साख्य दशन एव वैशेषिक दशन के तात्विक विवेचन ने आयुवद के सद्धान्तिक पक्ष को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कुछ विद्वानो के मतानुसार ता आयुवद ने सॉख्य दशन के कतिपय उपयोगी सिद्धान्तो को अविकल रूप से ग्रहण कर लिया है तथा उनका प्रतिपादन भी अपने शास्त्रो म उसी रूप मे किया है। मेरे विचार से इस कथन मे कुछ सत्याश हो सकता है किन्तु उसमे यह तथ्य अन्तर्निहित है कि आयुवद ने अपने मूल उद्देश्य के लिए ही सम्भवत ऐसा किया था।

किन्तु इसका यह तात्पय कदापि नही है कि आयुवद का कोई मौलिक दशन ही नही है तथा उसने अपने दाशनिक पक्ष की परिपुष्टि के लिए साख्य और वशेषिक दशन (विशेष रूप से साख्य दशन) को प्रमुख आधार बनाया है। इसके विपरीत आयुवद का अपना स्वतन्त्र मौलिक दशन है तथा अपने सद्धान्तिक विवेचन मे कतिपय स्थलो पर न्यूनाधिक रूप मे अन्य दशनो का भी आश्रय लिया है। इस सन्दभ मे यह उल्लेखनीय हैं कि आयुवद मे जहाँ कही भी विभिन्न दशनो के दाशनिक सिद्धान्तो को अविकल रूप मे ग्रहण की जो प्रतीति होती है वह दोना की सज्ञाओ मे समानता होने के कारण है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि दशनशास्त्र और आयुर्वेद दोनो के ग्रन्थो मे सज्ञाओ की समानता होने पर भी दर्शन ने एक ही पदार्थ के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादित किया है उसी के सम्बन्ध मे आयुर्वेद ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने भिन्न मन्तव्य को भी व्यक्त किया है जिससे स्थिति अधिक स्पष्ट हो गयी है तथा आयुवद के दार्शनिक पक्ष की मौलिकता स्पष्टत प्रतिभासित होती है।

आयुर्वेद के दाशनिक पक्ष को इस रुप मे ग्रहण किया जाना चाहिये कि जिससे यह ज्ञात हो कि आयुवदीय चिकित्सा के अनेक महत्वपूण सिद्धान्त दाशनिक सिद्धान्तो से पूणत प्रभावित अथवा उन पर आधारित हैं।

आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन

जो लोग यह सोचते हैं कि आयुर्वेद का अपना कोई स्वतन्त्र मौलिक दर्शन नहीं है और वह सर्वथा अन्य दर्शनो पर आधारित है तो उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम मूलक एव मिथ्या है। कुछ विद्वानो का मत है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनो में द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव इन पदार्थों का दार्शनिक विवेचन किया गया है तथा इनके ज्ञान और सिद्धि के लिए प्रमाणो का आधार लिया गया है उसी प्रकार आयुवद मे भी षट पदार्थों का परिगणन उनका स्वतन्त्र विवेचन तथा उनके ज्ञानार्जन एव सिद्धि के लिए प्रमाणो का अवान्तर भेद सहित सागोपाग वणन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य दशनो की भाति आयुर्वेद मे सृष्टि के मूल तत्व प्रकृति पुरुष एकादश इन्द्रियो पचतन्मात्राओ और पचमहाभूतो का अविकल वर्णन किया गया है। इसके उत्तर मे मेरा विनम्र निवेदन कि पदाथ विज्ञान एव सष्टि विज्ञान का वर्णन प्राय समस्त दशनो म किया गया है किन्तु आयुवद मे इनका वणन कुछ भिन्न रूप म भिन्न उद्देश्य के आधार पर है। अत आयुवदीय दर्शन कुछ अशो मे अन्य दशनो से पथक हो जाता है। अन्य दशनो मे पदाथ विज्ञान का वणन ससार के विविध विषयो के ज्ञान के लिए तथा सष्टि के मल तत्व प्रकृति पुरुष का वर्णन ससार के सद्धान्तिक एव व्यवहारिक विषयो की सिद्धि के लिए किया गया है। इसके विपरीत आयुवदीय दर्शन मे उपयुक्त समस्त तत्वो का विवेचन रोग रोगी औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए किया गया है। आयुवद का उद्देश्य अन्य दर्शनो से भिन्न है। अन्य दशन केवल आत्मा की मुक्ति या मोक्ष साधन के लिए ही प्रयत्नशील है तथा उसी के लिए अपने सिद्धान्तो एव प्रमाणो द्वारा उसका माग निर्देशन करते है। इसके विपरीत आयुवद का उद्देश्य अन्य दशनो मे सवथा भिन्न है। वह केवल स्वस्थ मनुष्यो के स्वास्थ्य की रक्षा एव आतुर (रोगी) मनुष्यो के विकार प्रशमन के लिए प्रयत्नशील रहता है और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति तथा रोग रोगी औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। अत आयुवदीय दर्शन भी अन्य दर्शनो की भाति सर्वथा मौलिक एव स्वतन्त्र दशन है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की उपयोगिता

आयुवदीय पदाथ विज्ञान आयुवद का आधारभूत विज्ञान है। आयुर्वेद का सम्पूर्ण दाशनिक पक्ष उसके पदार्थ विज्ञान पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त आयुवद के अन्य चिकित्सा आदि विषयक सिद्धान्त भी पदार्थ विज्ञान पर ही आधारित हैं। आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के अध्ययन के बिना आयुर्वेद और उसके अन्य सिद्धान्तों का ज्ञान असभावित है। जिस प्रकार आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के लिए उसके आधार भूत भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) रसायन शास्त्र (केमिस्ट्री) और जीव विज्ञान

(बायलाजी) का अध्ययन और ज्ञान नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार भारतीय चिकित्सा शास्त्र (आयुर्वेद) के अध्ययन और ज्ञानार्जन के लिए उसके आधारभूत पदार्थ विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना भी अ यत आवश्यक है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान केवल चिकित्सा शास्त्र का ही आधारभूत नही है अपितु यह आयुवदीय रचना शारीर क्रिया शारीर द्रव्यगुण विज्ञान स्वस्थवृत्त रसा यन तथा वाजीकरण के सि द्धातो की भी समुचित व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त रोग परीक्षा एव रोगी परीक्षा के लिए भी समुचित माग दशन करता है। चिकित्सा के लिए जो सिद्धान्त अपेक्षित ह उनका विवेचन भी आयुर्वेदीय पदाथ विज्ञान के अन्तगत आ जाता है। उदाहरणाथ **धातव पुन शारीरा समानगुण समानगुणभूयिष्ठ र्वा ऽप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैव द्धि प्राप्नुवन्ति ह्रासस्तु विपरीतगुण विपरीतगुणभयिष्ठ र्वाऽप्याहारविहाररभ्यस्यमान** अर्थात् शरीर म स्थित धातुए समान गुण वाले अथवा समान गुण की अधिकता वाले आहार के सेवन से वद्धि को प्राप्त होती है तथा विपरीत गुण वाले अथवा विपरीत गुणो की अधिकता वाल आहार विहार के सेवन से ह्रास को प्राप्त होती है। आयुर्वेदीय चिकित्सा का यह सिद्धा त पूणत पदाथ विज्ञानीय सामा य एव विशेष सिद्धान्त पर आधारित है। क्योकि सामान्य वद्धि का और विशेष ह्रास का कारण होता है। इसी भाति पदाथ विज्ञान के सिद्धा त भी चिकित्सा व अन्य अगो के लिए लागू होन है।

आयु ही जीवन है आयु का ज्ञान ही आयुवद है अत आयुवद एक सम्पूण जीवन विज्ञान है। इस दष्टि स आयुवद म पदाथ विज्ञान का महत्व और भी अधिक है। क्योकि पदाथ विज्ञान क अन्तर्गत जिन विषयो एव सिद्धान्ता का प्रतिपादन किया गया है वे सब सामान्य जीवन म प्रतिघटित होने मे मह वपूण एव उपयोगी हैं। पदाथ विज्ञान क अ तगत की गइ द्रव्य व्यवस्था के अनुसार ससार का प्र यक द्रव्य उसमे समाविष्ट हो जाता है। इन द्रव्यो मे से अधिकाश द्रव्य जीवन को प्रभावित करते हैं। क्याकि वे जीवन के लिए उपयोगी है और नि य प्रति उनका व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार गुण औ कम भी जीवन को प्रभावित करते है। क्योकि गुण और कम प्र यक द्रव्य म अवश्य होते है। गुण और कम के कारण ही द्रव्य की उपयोगिता है। मान लीजिए हम दूध का उपयोग करते ह। दूध एक द्रव्य है उसमे शीत द्रव स्निग्ध आदि गुण तथा शरीर की पुष्टि करना पित्त का शमन करना आदि कम होते हैं। इन्ही गुण-कर्मो के कारण दूध की उपयोगिता है। इस प्रकार प्र येक द्रव्य हमारे सामा य जीवन के लिए अथवा चिकित्सा के लिए उपयोगी हो सकता है। अत आयुवद के लिए इन से सम्ब धित सिद्धान्ता का ज्ञान अपेक्षित है। जिसकी पूर्ति पूणत पदाथ विज्ञान द्वारा हो जाती है।

पदार्थ का लक्षण

पदस्य पदयो पादनां वाऽर्थ इति पदार्थ[1] अर्थात् पद के अर्थ को दो पदो के अर्थ को तीन पद या उससे अधिक पदो के अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

पद का अभिप्राय यहा शब्द से है। वण (अक्षर) के समूह को शब्द कहते हैं। प्रत्येक पद या शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ होता है। अत अर्थ का ज्ञान कराने वाली अभिधा शक्ति से युक्त वर्णों के समूह को ही पद कहते हैं। जिस पद से जिस वस्तु का अथ प्रतीत होता है वही पदाथ है। जसे घट 'पट आदि। यहा घट और पट ये दोनो पद (शब्द) हैं। इन पदो का अथ क्रमश घडा और कपडा है। अत ये दोनो क्रमश पदाथ है। पदो (शब्दो) के समूह (वाक्य) से भी जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ कहलाता है। इससे यह निष्कष निकलता है कि घडा घट पद का और कपडा पट पद का अर्थ है अत जिस वस्तु के लिए पद या शब्द विशेष का प्रयोग किया जाता है वही पदाथ कहलाता है।

शास्त्रा का प्रतिपाद्य विषय भी पदाथ कहलाता है। किसी ग्रथ या शास्त्र को पढने वाला व्यक्ति यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि अमुक ग्रथ मे क्या लिखा है ? ग्रथकार भी अपने ग्रथ मे किसी न किसी विषय का प्रतिपादन अवश्य करता है। इसके अतिरिक्त पढने वाला व्यक्ति एव अपने ग्रथ मे विषय का प्रतिपादन करने वाला ग्रथकार दोनो का लक्ष्य ऐसे विषय की ओर होता है जिसका ससार मे किंचिन्मात्र भी अस्तित्व हो। अस्तित्वहीन वस्तु या विषय की कोई उपादेयता नही रहती। जसे खर विषाण आकाश कुसुम बन्ध्या पुत्र आदि। ये ऐसे विषय हैं जिनका अस्तित्व नही होने से इनकी कोई उपादेयता नही है। ऐसे विषय किसी ग्रथ या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय नही हो सकते और न ही ये विषय जानने के योग्य हैं। जब कोई व्यक्ति किसी विषय या वस्तु को जानने के लिए उत्सुक रहता है तो वह वस्तु या विषय प्रमेय या ज्ञेय कहलाता है। इसी प्रकार ग्रथकार किसी वस्तु या विषय के सबध मे कुछ कहना चाहता है तो वह वस्तु या विषय कथन की अपेक्षा रखता है। अत वह वस्तु या विषय अभिधेय कहलाता है। प्रमय और अभिधय वस्तु वही होती है जिसका ससार मे कुछ अस्तित्व रहता है। अत वह वस्तु या विषय जो अस्तित्ववान हो अभिधय हो और प्रमेय हो पदार्थ कहलाता है। यही पदाथ का सामान्य लक्षण है[2]।

१—(क) पदजन्यप्रतीतिविषयत्व पदार्थत्वम् ।

(ख) पदार्थस्तु पदस्यार्थोऽभिधयत्वादिरूच्यते ।

२— षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधयत्वज्ञेयत्वानि —प्रशस्तपादभाष्य

पदार्थ विभाजन एवं संख्या

पदार्थ को सामान्यत दो भागो मे विभाजित किया है[1]—(१) भाव पदार्थ और (२) अभाव पदार्थ ।

भाव पदार्थ

आयुर्वेद मे केवल भाव पदार्थ ही स्वीकार किए गए हैं। **भवन्ति सत्ताम नुभवन्तीति भाव** अर्थात जो सत्तावान् हो और जिसका अनुभव किया जा सके वही भाव है। ससार मे ऐसे भाव पदार्थ असख्य हैं किन्तु फिर भी आयुर्वेद मे सुविधा की दृष्टि मे मुख्य भाव पदार्थों की सख्या छह मानी गई है। यथा-द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय । शेष समस्त पदार्थों का समावेश इन्ही षट पदार्थों मे हो जाता है। इन षट पदार्थों से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नही है। आयुर्वेद के अतिरिक्त कुछ अन्य दर्शन भी उपर्युक्त षडविध पदार्थ मानते है[3] ।

अभाव पदार्थ

भाव के विपरीत जिसका अभाव हो अर्थात् न तो जिसकी सत्ता हो और न ही जिसका अनुभव हो सकता हो वह अभाव पदार्थ कहलाता है। इसे असत पदार्थ भी कहते है। यह चार प्रकार का होता है। यथा—प्रागभाव प्रध्वसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। आयुर्वेद मे अभाव को पदार्थ नही माना गया है। किन्तु जो दर्शन अभाव को भी पृथक पदार्थ मानते हैं उनके मतानुसार पदार्थों की सख्या सात हो जाती है।

आयुर्वेद मे यद्यपि एक स्थान पर सत और असत् (भाव और अभाव) का उल्लेख किया गया है। किन्तु वह उल्लेख प्रसगवशात ही किया गया है सिद्धान्त रूप मे नही। यथा—**द्विविधमेव खलु सर्व सच्चासच्च** — चरक सहिता सूत्रस्थान १/१७ अर्थात् इस ससार मे समस्त वस्तुए दो भागो मे विभक्त है—सत और असत ।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि आयुर्वेद केवल भाव पदार्थान्तगत षट पदार्थ ही मानता है। उसे सप्तम अभाव पदार्थ अभीष्ट नही है। इसका मुख्य कारण यह है कि अभाव तो स्वत सिद्ध है। अभाव से कोई कार्य नही होता। मानव शरीर मे रोगोत्पत्ति भाव पदार्थ से ही होती है तथा उस रोग का उपचार भी भाव पदार्थ (द्रव्यो) द्वारा ही सम्भावित है। जो वस्तु ससार मे है ही नहीं अथवा ससार मे

१—सक्षेपत पदार्थो द्विविध भावोऽभावश्च ।
२—सामान्यं च विशेष च गुणान द्रव्याणि कर्म च ।
समवाय च तज्ज्ञात्वा ॥—चरक सहिता सूत्रस्थान १ । २७
३—भाव षडविध द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायभेदात् ।
४—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा सप्तपदार्था —तर्क संग्रह

जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसे कैसे माना जा सकता है ? अत आयुर्वेद मे अभाव को स्वीकार नहीं किया गया । इसके अतिरिक्त अभाव मे कोई कारण नहीं होता । इसके विपरीत भाव पदार्थ सदा सकारण होता है । साधर्म्य और वैधर्म्य भाव की कल्पना भी केवल भाव पदार्थों में ही सभव है । अभाव मे इस साधर्म्य-वैधर्म्य भाव की कल्पना भी असभावित है । अत ऐसी स्थिति मे अभाव को पदार्थ न मानना ही उचित एव युक्ति सगत है ।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद मे महर्षि चरक ने एक स्थल पर जगत के पदार्थों को सत और असत् रूप मे स्वीकार कर पदार्थ के द्वैविध्य का उल्लेख किया है ।[1] इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आयुर्वेद के आचार्यों ने अभाव का नितान्त निषेध नही किया है । उन्होंने सृष्टि मे अभावात्मक पदार्थों को स्वीकार किया है । किन्तु आयुर्वेद मे उन अभावात्मक पदार्थों का प्रयोजन एव उपयोगिता नही होने से आयुर्वेदीय पदार्थ परिगणन मे केवल षट भाव पदार्थ का ही निरुपण किया गया है । आयुर्वेद के अध्येता एव भावी चिकित्सक को रोगी की उत्तम चिकित्सा के लिये प्रधानत स्थूल भावात्मक औषधि द्रव्यो (पदार्थों) का ही आश्रय लेना पडता है । अत उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाव पदार्थ से होने के कारण अभाव उसके लिये अभीष्ट एव प्रतिपाद्य नही है ।

---

१ सदसत्त्वाद्द्विधा भिन्न सप्तधा परिकीर्तित ।—चरक

द्वितीय अध्याय

द्रव्य निरुपण

द्रव्य का लक्षण

यत्राश्रिता कर्मगुणा कारणं समवायि यत् ।
तद् द्रव्यम् । —चरकसंहिता सूत्रस्थान १/१५
द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम् ।—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४ /३
गुणवत्त्वं द्रव्यत्वजातिमत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्

कर्म (क्रिया) और गुण जिसमे समवाय सम्बन्ध से रहते हो तथा जो द्रव्य गुणो और कर्मों के प्रति समवायि कारण हो वह द्रव्य कहलाता है ।

अथवा जो गुणत्व तथा द्रव्यत्व जाति से युक्त होता है वह द्रव्य कहलाता है । यही द्रव्य का सामान्य लक्षण है ।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षणो के अनुसार द्रव्य मे निम्न तीन बातें आवश्यक रूप से विद्यमान होना चाहिये—गुण कर्म और द्रव्यत्व जाति । इन तीनो की स्थिति द्रव्य मे नित्य एव स्थायी रूपेण होती है । अर्थात गुण कर्म और द्रव्यत्व जाति द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहती है ।

संसार मे द्रव्यो अथवा पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रकार का होता है । एक नित्य सम्बन्ध और दूसरा अनित्य सम्बन्ध । प्रथम नित्य सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है और दूसरा अनित्य सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध कहलाता है । प्रथम प्रकार के नित्य समवाय सम्बन्ध मे कार्य द्रव्य अपने कारण द्रव्य की अपेक्षा रखता है अथवा आधार द्रव्य अपने आधेय द्रव्य की अपेक्षा रखता है । इनमे दोनो ही द्रव्यो का पारस्परिक जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होता है । इसीलिये उसे नित्य माना गया है । द्रव्य का अपने अवयवो गुणो और कर्मों से जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होने से नित्य होता है । अर्थात जब तक उस द्रव्य की स्थिति बनी रहती है तब तक उसका अपने अवयवो गुणो व कर्मों से सम्बन्ध भी बना रहता है । यही उसका स्थायित्व व नित्यत्व है । द्रव्य का अपने गुणो और कर्मों के साथ एतद्विध सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध कहलाता है । इसी बात को अन्य प्रकार से कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि दो या दो से

अधिक पदार्थों या द्रव्यों का इस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध जो परस्पर मिले हुए पदार्थों को उस की अपनी स्थिति (अस्तित्व) पर्यन्त कभी विच्छेदित विघटित या पृथक न कर सके नित्य ही उन का सम्बन्ध बना रहे समावाय सम्बन्ध कहलाता है। जैसे तन्तु और पट मिटटी और घट। इसी प्रकार द्रव्य का अपने अवयवो गुणो और कर्मों के साथ जो अविच्छिन्नात्मक या अविनाभाव सम्बन्ध होता है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार द्रव्यो या पदार्थों का परस्पर होने वाला अल्पकालिक एव अस्थायी सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध कहलाता है। यह अनित्य होता है। अर्थात् कुछ काल पश्चात उन द्रव्यो या पदार्थों का सम्बन्ध विघटित हो जाता है और वे द्रव्य अलग-अलग हो जाते हैं। जसे घोडा और घुडसवार वस्त्र और जुलाहा घट और कुम्भकार आदि।

द्रव्य के उपयुक्त लक्षण से यह आभास मिलता है कि द्रव्य अपने गुणो एव कर्मों के प्रति समवायि कारण होता है। यहा पर उल्लेखनीय है कि उत्पद्यमान द्रव्य गुण या कम का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो वह उसका कारण होता है और उस कारण को ही समवायि कारण कहते है। अथवा जिस द्रव्य या पदाथ का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध होता है वह द्रव्य या पदाथ ही समवायि कारण कहलाता है। जसे मिट्टी का घडा शीतल जल श्वेत वस्त्र आदि। यहाँ क्रमश मिट्टी जल और वस्त्र का अपने अवयव या गुण क्रमश घडा शीतल और श्वेत (वण) के साथ समवाय सम्बन्ध है। क्योकि वे अवयव या गुण उस मिटटी जल एव वस्त्र से पथक नही है। अत वे तीनो द्रव्य क्रमश अपने अपने अवयव एव गुण के प्रति समवायि कारण है। मिट्टी घट के प्रति जल अपने शीतल गुण के प्रति एव वस्त्र अपने श्वेत वण के प्रति समवायि कारण है।

यहा सुविधा की दृष्टि से ऐसा भी समझा जा सकता है कि द्रव्यो या पदार्थों मे यदि आधाराधेय भाव की कल्पना की जाय तो समवायि कारण आधार द्रव्य होता है और तद्गत गुण कम आदि आधेय होते है। अत आधार होने से द्रव्य समवायि कारण है।

द्रव्य के उपयुक्त लक्षणो से यह स्पष्ट है कि द्रव्य मे गुण और कर्म सदव समवाय सम्बन्ध से रहते है। द्रव्य का अपने गुण और कम के साथ समवाय सम्बन्ध होने से वह अपने अवयवो गुण और कम के प्रति समवायि कारण होता है। क्योकि उत्पद्यमान गुण और कर्म जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहेग अथवा जिस द्रव्य मे वे स्थित रहेगे उस द्रव्य के साथ उनका नित्य सम्बन्ध होने से समवाय सम्बन्ध होगा। अत वह द्रव्य उन गुणो और कर्मों के प्रति समवायि कारण कहलायेगा।

ससार मे उत्पन्न होने वाला प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी कारण की अपेक्षा अवश्य रखता है। बिना कारण कोई द्रव्य उत्पन्न नही होता। इसमे कुछ कारण ऐसे होते है जो द्रव्य की उत्पत्ति के अनन्तर भी द्रव्य के साथ संयुक्त रहते हैं तथा उन्हे द्रव्य

से पृथक नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ कारण ऐसे होते हैं जो द्रव्य की उपत्ति के पश्चात् उससे पृथक हो जाते है और फिर द्रव्य के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही रहता। प्रथम प्रकार के कारण जो द्रव्य के साथ द्रव्योत्पत्ति के पश्चात् भी बने रहते हैं द्रव्य मे नित्य या समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ये कारण ही समवायि कारण कहलाते हैं। इन्हें द्रव्य स पथक नही किया जा सकता। जैसे तन्तु और पट। यहा तन्तु कारण है और पट द्रव्य है। तन्तु और पट का समवाय सम्बन्ध होने से तन्तु पट के प्रति समवायि कारण है और पट द्रव्य है। इसी भाति मिट्टी और घट। ससार के अन्य द्रव्य जो अपने अवयवो गुणो तथा कर्मों के आश्रयभूत हैं आधार कहलाते है तथा उन द्रव्यो मे जो गुण और कम रहते है वे आधय कहलाते है। वे गुण और कर्म उनमे समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अत वे द्रव्य अपने उन गुण और कर्मों के प्रति समवायि कारण होते है। इस प्रकार द्रव्य और उसमे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण व कम का अधाराधय भाव सम्बन्ध भी होता है।

सक्षेप मे यदि कहा जाय तो जिसमे गुण और कम इस प्रकार से रहे कि उन्हे उससे पथक न किया जा सके तथा जो अपने गुण और कम के प्रति समवायि कारण अर्थात् कभी पथक न होने वाला कारण हो द्रव्य कहलाता है अर्थात् जिसमे गुण व कम समवाय सम्बन्ध से रहते हो तथा जो अपने उन गुण व कम के प्रति समवायि कारण हो द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य सख्या

खादीन्यात्मा मन कालो दिशश्च द्रव्य सग्रह ।

(चरक सहिता सूत्रस्थान १/४)

'पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नव द्रव्याणि।

'क्षित्यप्तेजोमरुद व्योमकालदिग्देहिनो मन इति द्रव्याणि। (कारिकावलि)

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

(वशेषिक सूत्र १/१५)

आकाश आदि (आकाश वायु तेज जल और पृथ्वी) पाच महाभूत आत्मा मन काल और दिशा ये नव द्रव्य होते है।

अन्य आचार्यों ने भी नव द्रव्य ही माने हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन मे भी द्रव्यो की सख्या नौ ही मानी गई है। केवल द्रव्यो के क्रम परिगणन मे भिन्नता है जिसका कोई महत्व नही है। न्याय एव वैशेषिक दशन मे नव द्रव्यो को निम्न क्रमानुसार परिगणित किया गया है—पृथ्वी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन।

ससार मे द्रव्यो की सख्या अपरिमित है। उनकी कोई गणना नही की जा सकती। तथापि आयुर्वेद में मूल द्रव्यो की सख्या नौ ही मानी गई है। मूल द्रव्य कहने का तात्पर्य यहाँ यह है कि ससार के अन्य समस्त द्रव्यो की उत्पत्ति इन्हीं नौ द्रव्यों से होती है। ससार का कोई भी द्रव्य इन नव द्रव्यो से अतिरिक्त नही है। ससार के समस्त द्रव्यो की उत्पत्ति का कारण होने से इन्हे मूल द्रव्य कहा गया है।

इन नव द्रव्यो मे प्रारम्भ के पाच द्रव्य—पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश महाभूत कहलाते है। द्रव्यो की उत्पत्ति मे इन पच महाभूतो का महत्वपूर्ण योग रहता है। इसीलिए स्थूलो द्रव्यो को भौतिक या पाच भौतिक कहा जाता है। द्रव्यों की स्थूलता एव आकृति विशेष के निर्माण मे महाभूतो की प्रमुखता रहती है। अत ससार के प्रत्यक्षगम्य समस्त जड चेतन द्रव्य भौतिक कहलाते है।

द्रव्य के अन्य भेद

मुख्य रूप से द्रव्य यद्यपि नौ ही प्रकार के होते है किन्तु कारण सापेक्षता की दृष्टि से उसके अन्य भेद भी होते है। जसे—

१ उत्पत्ति भेद से द्रव्य दो प्रकार का होता है—कारण द्रव्य या मूल द्रव्य तथा कार्य द्रव्य। इनमे पृथ्वी आदि नव द्रव्य कारण या मूल होते हैं। क्योंकि इन्ही द्रव्यो से ससार के अन्य द्रव्यो की उत्पत्ति होती है। अत ससार के अन्य द्रव्यो की उत्पत्ति मे कारण होने से इन्हे कारण द्रव्य कहा गया है। इन नव कारण द्रव्यो के अतिरिक्त ससार के अन्य समस्त कार्य द्रव्य कहलाते हैं।[1]

२ ससार के समस्त द्रव्यो को दो भागो मे बाँटा गया है—प्रत्यक्ष द्रव्य और अप्रत्यक्ष द्रव्य। कुछ द्रव्य स्थूल रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य हैं तथा कुछ द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य नही हैं। **प्रत्यक्ष द्रव्य**—जो द्रव्य इन्द्रियगोचर अथवा इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य होते हैं वे प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते है। इन्द्रिय गोचर द्रव्यो मे कुछ द्रव्य चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं कुछ द्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा कुछ द्रव्य घ्राणेन्द्रिय द्वारा कुछ द्रव्य रसनेन्द्रिय द्वारा और कुछ द्रव्य त्वगिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं। **अप्रत्यक्ष द्रव्य**—कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही किये जा सकते। वे परमाणु रूप या अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इन्द्रिय द्वारा अगोचर होने से उन्हे अप्रत्यक्ष द्रव्य कहते हैं।[2]

---

१ तत्र पृथिव्यादीनी मूलद्रव्याणि तेषाम। —रस वैशेषिक सूत्र

पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि मूलद्रव्याणि तेषामिति स्थावरजंगमानां कार्यद्रव्याणाम् भाष्य।

२ अथ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्याणि परमाणुद्व्यणुके अप्रत्यक्षे महत्त्वभूतत्वात् यत्र तानि पृथिवीजलतेजांसि प्रत्यक्षाणि आत्मा च मानसप्रत्यक्ष वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसी त्वप्रत्यक्षाणि। बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्वप्रयोजकम्।

३ चेतनता की दृ टि से भी द्रव्यो का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी द्रव्य दो प्रकार का होता है- चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य। जो द्रव्य च तन्य युक्त होते है वे चेतन द्रव्य कहलाते हैं। चेतन द्रव्यो मे प्राय इन्द्रिय या इन्द्रियो का समावेश होता है। क्योकि इन्द्रियो के माध्यम से ही उनकी चेतनता व्यक्त होती है। अत चेतन द्रव्य सेन्द्रिय कहलाते हैं। इसके विपरीत जो द्रव्य चतन्य विरहित होते है वे द्रव्य अचेतन या जड कहलाते है। उन द्रव्यो मे इन्द्रियाभिनिवेश नही होने से उन्हे निरिन्द्रिय द्रव्य कहा जाता है।[1]

इस प्रकार भिन्न दृष्टि से द्रव्य क भिन्न भिन्न भेद होते है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के कुछ अवान्तर भेद भी होते है। अत सम्प्रति उनका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। उपयु क्त नव द्रव्यो म आकाश काल आ मा और दिशा ये द्र य विभुरूप हैं। मन परमाण रूप है प वी जल तेज वायु ये द्विविध रूप है। अर्थात प्र येक दो दो प्रकार के है। परमाण और सावयव। सावयव द्रव्य पुन त्रिविध रूप होता है। अर्थात सावयव के पुन तीन भद होते है—शरीर इन्द्रिय और विषय।

इस प्रकार विविध प्रका एव अवान्तर भेद वाला द्रव्य अनेक प्रकार का होते हुए भी द्रव्यत्व जाति सामान्य होन से एक ही प्रकार का होता है।

आयुर्वद के मतानुसार द्रव्य का वर्गीकरण बहुत ही अच्छे ढग से किया गया है। निम्न तालिका द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण को अच्छी त से समझा जा सकता है—
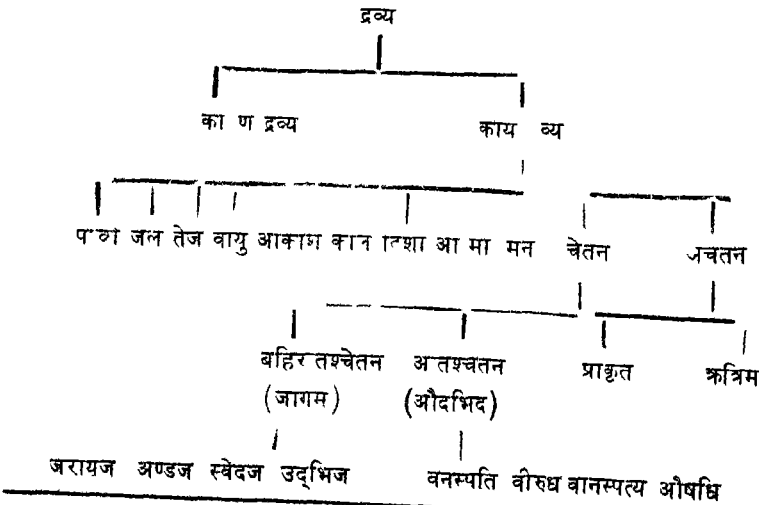
1 सेन्द्रिय चेतनं द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम। —चरक संहिता सूत्रस्थान १/४

पृथ्वी का लक्षण व भेद

'तत्र गन्धवती पृथ्वी' यह पृथ्वी का सामान्य लक्षण है। अर्थात गन्ध गुण जिसमे समवाय सम्बन्ध से रहता हो वह पृथ्वी कहलाती है। यद्यपि गन्ध गुण अन्यत्र जल आदि मे भी पाया जाता है किन्तु अन्यत्र वह गन्ध गुण सयोग सम्बन्ध से रहता है। समवाय सम्बन्ध से तो गन्ध गुण केवल पृथ्वी मे ही रहता है अन्यत्र जल आदि मे नही। अत गन्धवान् होना पृथ्वी का लक्षण है।

वह पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य और अनित्य। नित्य पृथ्वी परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होती है। उनका कभी विनाश नही होने (अविनाशी होने) से ही उसे नित्य कहा गया है। दूसरी अनित्य अर्थात विनाशशील, होती है। अनित्य पृथ्वी स्थलरूप होती है। यह व्यवहार मे आने वाले घट पट आदि रूप मे होने से कायरूपा भी कहलाती है। इस अनित्य स्थूलरूप या कार्यरूपा पृथ्वी के तीन भद होते है शरीर इन्द्रिय और विषय[1]।

पार्थिव शरीर—इस मर्यलोक मे दृश्यमान मानव शरीर पशु शरीर पक्षि शरीर तथा अन्य जीव जन्तुओ के शरीर पृथ्वी तत्व द्वारा निर्मित होने से पार्थिव शरीर कहलाते है। अनित्य होने से ये शरीर नश्वर हैं। इनके माध्यम से आत्मा सुख दुख इत्यादि का अनुभव करता है। अत यह शरीर आत्मा का भोगायतन है तथा समस्त इन्द्रियो व चेतना का आश्रय है।

पार्थिव इन्द्रिय—जिस इन्द्रिय के द्वारा पथ्वी के प्रत्यात्मनियत गुण गन्ध का ग्रहण होता है नासिका के अग्रभाग मे शक्तिरूप से स्थित घ्राण ही पार्थिव इन्द्रिय है। पथ्वी तत्व स निर्मित तथा पथ्वी के गन्ध गुण को ग्रहण करने के कारण ही घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। नासा (नासिका) घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है।

पार्थिव विषय—जो पार्थिव वस्तुए पार्थिव शरीर एव पार्थिव इन्द्रिय से भिन्न है वे ही पथ्वी के विषय कहलाते हैं। जसे–मिट्टी पत्थर स्थावर आदि।

जल का लक्षण व भेद

'शीतस्पर्शवत्याप' यह जल का सामान्य लक्षण है। अर्थात शीतल स्पर्श

---

१ सा द्वेधा नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्य रूपा। (अनित्या) पुनस्त्रिविधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

२ शीर्यते इति शरीरम् चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम् (न्या सू १/१/११)

चेष्टाश्रय इन्द्रियाश्रय अर्थाश्रय अत्र अर्थशब्द सखदु:खान्यतर पर आत्मनो भोगायतनमिति वात्स्यायन।

जिस द्रव्य मे समवाय सम्बध से विद्यमान रहता हो वह जल कहलाता है। यद्यपि स्पश अन्य द्रव्यो मे भी पाया जाता है किन्तु वहाँ शीतल स्पर्श का उस द्रव्य के साथ सयोग सम्बध होता है। अत वह द्रव्य जल नहीं कहा जा सकता। शीतल स्पर्श का समवाय सम्बध तो केवल जल के साथ ही होता है अन्य द्रव्य के साथ नहीं। अन्य द्रव्य मे शीतल स्पर्श की अनुभूति उस मे विद्यमान जल के कारण होती है। अत शीतल स्पर्श होना जल का सामान्य लक्षण है।

यह जल भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य जल परमाणु रूप अ यन्त सूक्ष्म होता है। यह ससार के समस्त जलीयाँश वाले द्रव्यो की उत्पत्ति मे कारण होता है। इस परमाणु रूप जल का कभी विनाश नही होता। अविनाशी होने से ही उसे नि य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का जल अनित्य होता है। यह अनित्य जल विनाशशील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। स्नान पान आदि के व्यवहार मे आने से यह स्थूल जल कार्य रूप भी कहलाता है। यह कार्यरूप स्थूल अनित्य जल पुन शरीर इद्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है[1]।

जलीय शरीर—जलीय शरीर वरुण लोक मे अवस्थित है। वह भी आ मा के सुख दुख आदि के उपभोग का साधन होने से आ मा का भोगायतन है। यद्यपि वह शरीर भी पाँच भौतिक है कि तु जिस प्रकार पार्थिव शरीर मे पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होती है। उसी प्रकार जलीय शरीर म जल तत्व की प्रधानता होती है। वरुण लोक जल प्रधान स्थान है। अत वहाँ जलीय शरीर की अवस्थिति ही सभावित है। अन्य शरीर की नही।

जलीय इद्रिय—जिस इन्द्रिय के द्वारा मधुरादि षड रसो का ग्रहण एव ज्ञान होता है तथा जो जिह्वा के अग्रभाग मे स्थित रसनेन्द्रिय है वही जलीय इद्रिय है। रस जल का प्रत्या मनियत गुण है। मधुर अम्ल लवण कट तिक्त और कषाय भेद से वह रस छ प्रकार का होता है। इसी रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय द्वारा होने से रसनेन्द्रिय जलीय इद्रिय मानी गई है। रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान जिह्वा है।

जलीय विषय— नदी समुद्र तालाब बर्फ ओले इ यादि जल के विषय रूप द्रव्य हैं। जलीय विषय रूप द्रव्य ही सामा य व्यवहार मे लाये जाते हैं।

---

१ ता द्विविधा-नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्यरूपा (अनित्या) पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात।

२ शरीर वरुणलोके प्रसिद्धम्।

३ इद्रिय रसग्राहक रसनाग्रवर्ति।

४ विषय सरित्समुद्रादि।

तेज का लक्षण व भेद

उष्णस्पर्शवत्तेज· यह तेज का सामान्य लक्षण है। अर्थात् जिस द्रव्य मे उष्ण स्पर्शरूप गुण समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हो वह तेज कहलाता है। तेज के अतिरिक्त अन्य द्रव्य मे जहाँ उष्ण स्पर्श की अनुभूति होती है वहाँ उष्ण स्पर्श उस द्रव्य मे सयोग सम्बन्ध से रहता है। अत वह द्रव्य तेज नहीं है। तेज मे उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से होता है।

यह तेज भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य तेज परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह ससार के समस्त तैजस् द्रव्यों की उत्पत्ति मे कारण होता है। इस परमाणुरूप तेज का कभी विनाश नहीं होता। अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का तेज अनित्य होता है। यह अनित्य तेज विनाश शील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। भोजन बनाने यन्त्रादि चलाने प्रकाश रूप मे उपयोग करने आदि के व्यवहार में आने से यह स्थूल तेज कार्य रूप कहलाता है। यह कार्य रूप स्थूल अनित्य तेज शरीर इन्द्रिय और विषय भेद से पुन तीन प्रकार का होता है[1]।

तैजस् शरीर— आदित्य लोक में तजस् शरीर होता है। सौर मण्डल के देदीप्यमान ग्रह नक्षत्र तजस् शरीर वाले होते है। स्वय भगवान् सूर्य तैजस् शरीरवान् हैं। तैजस् शरीर मे तेज महाभूत की प्रधनता होती है।

तजस इन्द्रिय— तेज का प्रत्यात्मनियत गुण हैं रूप। अत जिस इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण व ज्ञान होता है तथा नेत्रान्तर्गत कृष्ण तारा मडल के अग्रभाग मे स्थित कनीनिका रूप चक्षु इन्द्रिय ही तेज होती है। इस चक्षु इन्द्रिय की उत्पत्ति तैजस् तत्व द्वारा होती है। इसका अधिष्ठान नेत्र है[3]।

तैजस् विषय— यह चार प्रकार का होता है। यथा भौम दिव्य औदर्य और आकरज।

भौम तेज— भूमण्डल पर दृश्यमान अग्नि जो भोजन आदि पकाने के काम मे आती है।

दिव्य तेज— आकाश में अप्ईंधन जल से उत्पन होने वाली विद्युत आदि।

---

१ तद् द्विविधं नित्यमनित्य च। नित्य परमाणुरूपमनित्य कार्यरूपम्। (अनित्य) पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

२ शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्।

३ इन्द्रिय रूपग्राहक चक्षु· कृष्णताराग्रवर्ति।

औदर्य तेज—अशित पीत लीढ खादित रूप चतुर्विध अन्न का पाक करने वाली उदरस्थ अग्नि ।

आकरज तेज—खान से उत्पन्न होने वाले सुवर्ण आदि ।

वायु का लक्षण व भेद

अनुष्णशीतस्पर्शवान वायु तथा **रूपरहितस्पर्शवान वायु** इस लक्षण के अनुसार जो द्रव्य रूप रहित किन्तु स्पर्श युक्त होता है वह वायु कहलाता है । अर्थात् वायु मे स्पर्श गुण होता है । वायुगत यह स्पर्श अनुष्णशीत होता है । वायु के सामान्य स्पर्श मे न उष्णत्व होता है और न शीतत्व । वायु के स्पर्श मे यदि उष्णत्व या शीतत्व की अनुभूति होती है तो उसे अग्नि या जल से सपक्त समझना चाहिये । इसीलिए वायु को योगवाही कहा गया है ।

यह वायु भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य । नित्य वायु परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है । वह स्पर्श द्वारा ग्राह्य नही होता । यह समस्त वायवीय द्रव्यो की उत्पत्ति या निर्माण मे कारण होता है । इस परमाणु रूप नित्य वायु का विनाश नही होता । अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है । इसके विपरीत अनित्य वायु नश्वर होता है । यह अनित्य वायु काय रूप होता है । इसे स्थूल रूप भी कहा जाता है । स्थूल कायरूप वायु हमारे दैनिक जीवन के लिए उपयोगी होने से हमारे जीवन मे विभिन्न रूप से व्यवहृत होता है । जैसे—श्वासोच्छवास लेना मोटर-साइकिल आदि के ट्यूब मे हवा भरना ग्रीष्म ऋतु मे बिजली के पंखे द्वारा वायु प्राप्त करना आदि । यह कायरूप अनित्य वायु शरीर इन्द्रिय और विषय भेद से पुन तीन प्रकार का होता है[1] ।

अन्य पृथ्वी जल और तेज की भाँति कायरूप या स्थूल रूप वायु चक्षुग्राह्य नही है । वह केवल त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है । प्रत्यात्मनियत इन्द्रिय ही उसे ग्रहण करने मे समर्थ है ।

वायवीय शरीर—वायवीय शरीर वायु लोक मे स्थित है । वायु की भाति वायवीय शरीर भी वायु द्वारा निर्मित होने से चक्षु गोचर नही है ।

वायवीय इन्द्रिय— वायु की प्रतिनिधि इन्द्रिय त्वक है । त्वगिन्द्रि द्वारा मात्र स्पर्श का ज्ञान होता है । स्पर्श वायु का नैसर्गिक गुण है । त्वगिन्द्रिय शरीर के सम्पूर्ण बाह्य प्रदेश मे व्याप्त है । अत शरीर के किसी भी बाह्यांग द्वारा स्पर्श का ज्ञान हो

---

१ स द्विविध: नित्योऽनित्यश्च । नित्य परमाणुरूपोऽनित्य: कायरूप । (अनित्य) पुनस्त्रिविध: शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।

सकता है । यदि वायु ग्रीष्म कालीन सूर्य के ताप से संयुक्त होकर हमारे शरीर से टकराती है तो त्वगिन्द्रिय द्वारा उसके स्पर्श से उष्णता की अनुभूति होती है । इसी भांति शीतल जल आदि से सयुक्त वायु द्वारा शरीर के किसी भी अग का स्पर्श होने से शीतलता की प्रतीति होती है । अत त्वगिन्द्रिय का वायवीय होना प्रमाणित है ।

वायवीय विषय—वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु विषय रूप वायु है । इसके अतिरिक्त आधी शरीरगत वायु-सचार तथा अन्त विधियों द्वारा वायु का ग्रहण करना आदि वायु के समस्त स्वरूप वायवीय विषय हैं ।

आकाश का लक्षण व भेद

शब्दगुणाकाशम अथवा , **समवायेन शब्दाश्रयत्वमाकाशत्वम्** —आकाश के इस लक्षण के अनुसार शब्द गण वाला आकाश होता है अथवा जो समवाय सम्बन्ध से श ‍ का आश्रय हो वह आकाशत्व है । श द आकाश का प्रत्यात्मनियत गुण है । अत शब्द व आकाश मे समवाय रूप से विद्यमान रहता है ।

आकाश का सामान्य अथ अवकाश (खाली स्थान) होता है । अत वह सर्वत्र व्यापक रूप स अवस्थित है । य अ य पृथ्वी आदि की की भाति काय रूप अथवा स्थूल रूप मे नही होता । अत वह विनाशशील या अनित्य भ नही है । विनाशशील नही होने स सवदा उसका स्थिति बनी रहती है । अत वह नि य है । उसके कोई अवान्तर या मौलिक भद प्रभद नही होने स यह एक ही है । इसीलिए आकाश के विषय में कहा गया है — **तच्चैक विभु नित्य च** अर्थात् वह आकाश एक है विभु (व्यापक) और नित्य है ।

आकाश के प्र या मनियत गुण शब्द की ग्राहक श्रोत्र न्द्रिय है जो कर्ण शष्कुलि के आभ्य तर प्रदेश को व्याप्त कर अवस्थित रहती है । श्रोत्र न्द्रिय आकाशा मक होने स आकाश के मूल ग ण केवल शब्द को ही ग्रहण करती है अन्य को नही । यहा यह स्मरणीय है कि श्रोत्र न्द्रिय ही आकाश नही है अपितु वह आकाश द्वारा निर्मित होने से आकाशात्मक है । मूलत आकाशत्व एव श्रोत्र न्द्रिय भिन्न भिन्न वस्तुए हैं । आकाश का मूल गुण श ब्दत्व है जो आकाश मे समवाय सम्बन्ध से रहता है । श्रोत्र न्द्रिय आकाश के उस गुण को ग्रहण मात्र करती है ।

वायु और आकाश की सिद्धि

वायु और आकाश दोनो अमूर्त द्रव्य हैं । ये दोनो पृथ्वी जल और तेज की भांति चक्ष ग्राह्य नहीं हैं ? चक्ष द्वारा केवल उन्ही द्रव्यों का ग्रहण होता है जो मूर्तिमान होते हैं तथा जिनका कुछ आकार या परिणाम विशेष होता है । वायु और आकाश न

तो मूर्तिमान हैं और न ही इन दोनो का कोई आकार प्रकार या परिमाण विशेष होता है। अत चक्षु द्वारा इन दोनो द्रव्यो का ग्रहण नहीं होता। दोनो क्रमश त्वक एवं श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षगम्य हैं। इनका अनुमान क्रमश स्पर्श और शब्द द्वारा किया जाता है।

स्पश और शब्द ये दोनो गुण हैं। गुण की स्थिति सदव द्रव्याश्रित होती है। गुण द्रव्य के बिना नही रह सकता। स्वतन्त्र रूप से उसका कोई अस्तित्व नही रहता और न ही उस की कोई प्रतीति या अनुभूति हो पाती है। गुण का परिज्ञान द्रव्य के माध्यम से ही होता है तथा द्रव्य के माध्यम से ही गणानुसार क्रिया होती है। अत स्पश और शब्द गण जिस किसी के आश्रित हो वह द्रव्य विशेष अवश्य है। वायु का जो लक्षण किया गया है उसके अनुसार तदगत स्पर्श अनुष्णशीत होता है। अर्थात् वायु का स्पश न तो उष्ण होता है और न शीतल होता है। यह अनुष्णशीत स्पश यदि पृथ्वी के आश्रित मान लिया जाय तो उस स्पश मे ग ध का होना नितान्त अपेक्षित है जबकि स्पश मे ग ध का अभाव रहता है। **तत्र गन्धवती पृथ्वी** —पथ्वी के इस लक्षण के अनुसार पथ्वी मे केवल ग ध ही आश्रित रहता है स्पश नही। अत स्पश का आश्रय पथ्वी नही है। इसी प्रकार जल और तज को भी इसका आश्रय मानना सम्भव नही है। क्योकि जल शीतल होता है और तज उष्ण होता है। अत तत् सयुक्त स्पश भी केवल शीतल अथवा केवल उष्ण होगा। इसके अतिरिक्त जल केवल रस का आश्रय और तज केवल रूप का आश्रय होता है। अत ये दोनो स्पश के आश्रय नही हो सकत। ऐसी स्थिति मे जब कि पथ्वी जल और तज तीनो ही अनुष्णशीत स्पर्श के आश्रय नही हैं चतुथ वायु ही इसका आश्रय हो सकता है। इस प्रकार अनुमान द्वारा अमूर्त (आकार प्रकार रहित) वायु की सिद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त अवशिष्ट आकाश काल दिक और आत्मा मे भी अनुष्णशीत स्पश का आश्रयत्व सिद्ध नही होता। क्योकि ये चारो ही द्रव्य विभु (व्यापक) है। विभु द्रव्य स्पश का आश्रय नही होत अर्थात् उनका स्पश नही किया जा सकता। स्पर्श गुण का आश्रय मन भी नही हो सकता। क्योकि मन परमाणु है और परमाणु सदा अतीद्रिय होता है। परमाणु और अतीन्द्रिय द्रव्य का स्पर्श नही किया जा सकता। इसके विपरीत अनुष्णशीत स्पश का अनुभव अवश्य त्वगिन्द्रि द्वारा होता है जिसका माध्यम वायु है। अत चक्षु द्वारा अग्राह्य वायु की सिद्धि होती है।

आकाश भी वायु की भाँति चाक्षष प्रत्यक्ष नही है। जिस प्रकार अन्य रूप रस गध आदि गण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं उसी प्रकार शब्द गुण भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित अवश्य होता है। पृथ्वी मे उसका

आश्रयत्व सिद्ध नहीं है। क्योंकि उस शब्द में गंध नहीं है। शब्द में रस रूप और स्पर्श का अभाव होने से उसे जलान्वित या तेज या वाय्वान्वित भी नहीं माना जा सकता। काल दिक् आत्मा और मन में शब्द का आश्रयत्व किसी भांति प्रमाणित नहीं है। अत उपर्युक्त आठ द्रव्यो मे से किसी मे भी शब्दाश्रयत्व सिद्ध नहीं होने से केवल आकाश ही शेष रह जाता है। अत वही शब्द का आश्रय है। शब्द का आश्रय होने से आकाश के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

पच महाभूत

द्रव्य प्रकरण के अन्तर्गत पृथ्वी जल तज वायु और आकाश का जो वर्णन किया गया है वह उनके द्रव्यत्व की दृष्टि से किया गया है। आयुर्वेद में इन्ही पाँचो द्रव्यो को महाभूत की सज्ञा दी गई है। यद्यपि अन्य दर्शन शास्त्रो मे भी इन द्रव्यो को महाभूत माना गया है। तथापि आयुर्वेद मे चिकित्सा की दृष्टि से इनकी विशेष उपादेयता एव महत्व है। आयुवद का पचमहाभूत सिद्धान्त अपनी मौलिक विशेषता रखता है। यह सिद्धान्त आयुर्वेद की ऐसी आधार शिला है जिस पर समस्त आयुवद टिका हुआ है। आयुवद के अनुसार समस्त द्रव्य पाच भौतिक हैं। अर्थात् ससार के समस्त कार्य द्रव्यो की उत्पत्ति पच्च महाभूतो से होती है। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन पुरुष की चिकित्सा कर उसे स्वास्थ्य लाभ पहुचाना है। चिकित्सा शरीर की की जाती है। यह शरीर तथा इसके समस्त अवयव पाच भौतिक ही होते हैं। जिन औषध द्रव्यों से शरीर की चिकित्सा की जाती है वे द्रव्य भी पाच भौतिक ही होते है। चिकित्सा के साधनभूत औषधि द्रव्य एव चिकित्स्य शरीर मे यदि भौतिकत्व की एकरूपता न हो तो चिकित्सा का उद्दश्य प्राप्त नही किया जा सकता।

हमारे शरीर का आधार दोष धातु-मल हैं[1]। उन्ही पर यह शरीर अवलम्बित है। ये दोष धातु-मल भी पाच भौतिक ही होते हैं। यद्यपि इसका भौतिकत्व स्थूलत्वेन प्रत्यक्षगम्य नही है तथापि गुणकर्मानुमेय होने से इनके भौतिकत्व की सिद्धि की जाती है। इसी भांति अन्य द्रव्यो के विषय मे भी यही सिद्धान्त लागू होता है। अर्थात समस्त द्रव्यो की भौतिकता गुणकर्मानुमेय होती है। जैसे कोई द्रव्य तैजस् (आग्नेय) है। उसका आग्नेयत्व सामान्यत प्रत्यक्षगम्य नही है। किन्तु शरीर मे इस द्रव्य का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर जब उष्णता (गरमी) बढ़ जाती है या जलन आदि होने लगती है तब अनुमान लगाया जाता है कि अमुक द्रव्य आग्नेय अथवा तेज महाभूत प्रधान है। इसी भाँति अन्य महाभूतों का अनुमान भी द्रव्य के गुण—कर्मों के आधार पर लगा लिया जाता है।

---

१ दोष-धातु-मलमूलं हि शरीरम्।

प्रत्येक महाभूत के गण और कर्म पृथक पथक् होते हैं। किन्तु भौतिकत्व की दृष्टि से सभी महाभूत समान होते हैं। इनके जो जो गण और कम होते हैं वे ही गुण कर्म इनसे समुत्पन्न द्रव्य म व्यष्टि या समष्टि रूपेण विद्यमान रहते हैं। किसी द्रव्य मे किसी महाभूत की न्यनता रहती है और अ य महाभूत की अधिकता। इसी आधार पर उस द्रव्य मे कोई गण कर्म कम होता है और कोई गुण कम अधिक। जैसे गिलोय का सेवन करने से शरीर मे पित्त (उष्णता) का शमन होता है तथा चन्दन भी पित्त शामक है। किन्तु गिलोय की अपेक्षा चन्दन म पित्त शामक व गुण अधिक है। इसका तात्पय यह हुआ कि गिलोय की अपेक्षा चन्दन मे जल महाभत का श य गण अधिक है।

आयुवद मे महाभता की स्थल रचना का यपदेश नही मिलता। यही कारण है कि उनका स्थल स्वरूप चाक्ष ष प्रत्यक्षगम्य नही है। द्रव्या की उत्पत्ति म भी महाभतो का स्थल स्वरूप कारण नही होता। स्थूल रूपेण दृश्यमान पथ्वी जल तेज वायु और आकाश मूल महाभत त व नही है अपितु महाभूता के विषय अथवा विकार है। इनम एक महाभत की अपेक्षा अ य महाभतो का भी मिश्रण अथवा अनुप्र वश हाता है। मूल महाभत त व जा सूक्ष्मतम हाता है केवल काय य की उत्पत्ति म कारण होता है तथा उस द्रव्य म एक ममान गण कम का अधिष्ठाता होता है। इसके विपरीत स्थू नरूपेण ी व अपने गणा का अ य द्रव्य म अभिनिविष्ट करन म समथ होते है। अत इ हे ही महाभत नही समझना चाहिए। मू न महाभत त व सूक्ष्मतम एव कवल गुण कर्मानुमय होत है। चाक्ष ष प्र यक्ष द्वारा उनकी उप र्ा ध सम्भव नही हे। इस स दभ म एक मह वपूण तथ्य यह भी है कि कायद्र य क नष्ट हो जान पर भी इनका विनाश न ी ोता और य त सम कायद्रव्य क। पुन उत्पत्ति म कारण बन जात है।

महाभूतो के लक्षण व गुण

जसा कि पहले स्पष्ट किया जा च वा है कि चिकि सा की दष्टि से महाभूतो का आयुवद मे विशेष मह व होने से महाभता के सम्ब ध मे आयुवद मे अन्य दशनो की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र दष्टिकोण अपनाया है। अत यहा आयुवदीय दृष्टि कोण से महाभतो का लक्षण व उनक गणो का विवचन अपेक्षित है। आयुवद मे महा भतो की गणना एव उनके गुणा का का निदश निम्न प्रकार से किया गया है—

महाभतानि ख वायुरग्निराप क्षितिस्तथा।
शब्द स्पशश्च रूप च रसो गन्धश्च तदगुणा ॥

—चरक सहिता शारीर स्थान १/२७

आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत होते हैं तथा शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये उनके लक्षण प्रतिपादक क्रमशः पांच गुण होते हैं। अर्थात् आकाश का गुण शब्द वायु का गुण स्पर्श अग्नि का गुण रूप जल का गुण रस और पृथ्वी का गुण गन्ध होता है। इन्हीं गुणो के आधार पर महाभूतो का ज्ञान होता है। ये गुण महाभूतो के नैसर्गिक गुण कहलाते हैं जो इन महाभूतो के अतिरिक्त अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त महाभूतो के असाधारण लक्षण भी हैं जो उनके भौतिक गुणो पर ही आधारित हैं—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम्॥
चरक संहिता शारीर स्थान १/२९

पृथ्वी का खरत्व (खुरदुरापन) जल का द्रवत्व (पतलापन) वायु का चलत्व (गतिशीलता) अग्नि का उष्णत्व (गरम होना) तथा आकाश का अप्रतिघात (गति में बाधक नहीं होना तथा स्पर्श नहीं होना) ये महाभूतों के विशेष चिन्ह होते हैं।

महाभूतों के उपर्युक्त शब्द स्पर्श आदि गुण दार्शनिक दृष्टि से एवं खरत्व द्रवत्व आदि गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए आयुर्वेद में शब्द आदि गुणो को महाभूतो का साधारण लक्षण एवं खरत्व आदि गुणो को असाधारण (विशेष) लक्षण माना है। इसका एक कारण यह भी है कि महाभूतों के साधारण गुणो की अपेक्षा असाधारण गुणो में एक विशेषता होती है। वह यह कि असाधारण गुण स्पर्शनेन्द्रिय गोचर होते हैं। अर्थात् उनका ज्ञान त्वचा से होता है। यह तथ्य निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट है—

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः॥
—चरक संहिता शारीर स्थान १/३

अर्थात महाभूतो के उपर्युक्त खरत्व आदि समस्त लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के द्वारा जाने जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा विपरीत स्पर्श अर्थात् स्पर्श के अभाव का भी ज्ञान होता है। जैसे किसी वस्तु के उष्णत्व का ज्ञान होना तथा अन्य वस्तु के उष्णत्वाभाव का ज्ञान होना स्पर्शनेन्द्रिय का ही विषय है।

यहां महाभूतो के जिन विशेष लक्षणों का निर्देश किया गया है उनमें पृथ्वी का खर होना जल का द्रव होना वायु का चचल (गतिशील) होना तथा अग्नि का उष्ण होना इनका ज्ञान तो त्वगिन्द्रिय से हो जाता है किन्तु आकाश के अप्रतिघात या स्पर्श

के अभाव का ज्ञान त्वचा द्वारा कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर मे उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि जिन इन्द्रियो के द्वारा जिसके भाव का प्रत्यक्ष होता है उन्ही इन्द्रियो से उसके अभाव का ज्ञान भी होता है । जब स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के प्रतिघात (रुकावट) का ज्ञान होता है तो उसी प्रतिघात के अभाव (रुकावट के न होने) का ज्ञान भी स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही होता है । जसे किसी अग्नि सतप्त वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा के द्वारा उसकी उष्णता का ज्ञान होता है । उसके बाद किसी शीतल वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा के द्वारा उस वस्तु म उष्णता के अभाव का ज्ञान भी होता है । इसी प्रकार किसी व्यक्ति की आँख बन्द कर उसे आगे बढ़ने (चलने) के लिए कहा जाय । बीच मे किसी वस्तु के आ जाने पर उसे ज्ञान होगा कि यहा प्रतिघात या व्यवधान है । किन्तु वह वस्तु वहाँ से हटा लेने पर उस प्रतिघात (रुकावट) के अभाव का ज्ञान भी उसे स्पश के द्वारा ही होगा । अपने हाथ को इतस्तत हिलाकर वह कह सकता है कि वहाँ कुछ नही है । यही आकाश (खाली स्थान) है और प्रतिघात नही होना ही उसका विशेष लक्षण है जिसका ज्ञान स्पशनेन्द्रिय द्वारा होता है । इस प्रकार पच महाभूतो के ये विशेष लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते है । अत महाभूतो का त्वाच प्रत्यक्ष होता है यह उपयुक्त प्रमाण मे सिद्ध है ।

महाभूतो के लक्षणात्मक गुण विवचन के सन्दर्भ मे अन्य आचार्यों के मत भी दृष्टव्य है जिनमे महाभूतो के अन्य गुणो का प्रतिपादन किया गया है । यथा—

खस्याप्रतिषेधो लिंग वायोश्चलन तेजस औष्ण्य अपां द्रवत्व पृथिव्या स्थयम । —काश्यप सहिता शारीरस्थान पृष्ठ ७९

अथात आकाश का लक्षण अप्रतिषध (रुकावट न होना) वायु का लक्षण चलन अग्नि का लक्षण उष्णता जल का लक्षण द्रवता और पथ्वी का लक्षण स्थिरता है ।

यहा पर अन्य लक्षण तो पूववत् ही बतलाए गए है । केवल पृथ्वी का लक्षण खरत्व के स्थान पर स्थिरता बतलाया गया है । स्थिरता यद्यपि पथ्वी का ही गुण है किन्तु यह त्वाच प्रत्यक्ष (स्पशनेन्द्रिय गोचर) नही होने से इसे विशेष लक्षणो मे नहीं गिना गया है ।

एक अन्य आचार्य के मतानुसार—

लघुगुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् ।
नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणा स्मृता ॥

—भाव प्रकाश

लघ (हल्का) गुरू (भारी) स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखा) और तीक्ष्ण (तीव्र) ये क्रमश आकाश पथ्वी जल वायु और अग्नि के गुण होते हैं । अर्थात्

आकाश का लघुत्व पृथ्वी का गुरुत्व जल की स्निग्धता वायु की रूक्षता और अग्नि की तीक्ष्णता ये महाभूतों के नैसर्गिक गुण होते है। चिकित्सा की दृष्टि से इन गुणो की उपयोगिता होने से आयुर्वेद मे इन गुणों का भी महत्व है।

महाभूतों के सत्वादि गुण

'तत्र सत्वबहुलमाकाशम् रजोबहुलो वायु सत्वरजोबहुलोऽग्नि सत्वतमोबहुला आप तमोबहुला पृथिवीति।

—सुश्रुत संहिता शारीर स्थान १/२

इनमें सत्व गुण की अधिकता वाला आकाश है रजो गुण की अधिकता वाला वायु है सत्व और रजो गुण की अधिकता वाली अग्नि है सत्व और तमो गुण की अधिकता वाला जल है तथा तमो गुण की अधिकता वाली पृथ्वी है।

आकाश आदि पाँचो महाभूतो में यद्यपि सत्व रज-तम तीनो गण विद्यमान रहते हैं तथापि प्रत्येक महाभूतो मे एक या दो गुणो की अधिकता होने से उनमे उसी अधिकता वाले गण का व्यपदेश मुख्य रूप से किया जाता है। गुण की यह अधिकता ही प्रत्येक महाभूतो की अपनी अपनी विशेषता एव अपने अपने गुण कर्म के कारण होती है।

आकाश आदि पाचो महाभूतो मे सत्व गुण की बहुलता उसके प्रकाशत्व (विषयो का ज्ञान कराने मे सहायक होने) के कारण होती है। वायु मे रजोगुण की बहुलता उसके चलत्व (गतिशीलता चचलता एव समस्त चेष्टाओ के कारण होने से) होती है। अग्नि मे सत्व और रजो गण की बहुलता उसके प्रकाशतत्व एव चलत्व होने से होती है। जल मे सत्व और तमो गुण की अधिकता उसके स्वच्छत्व प्रकाशकत्व गुरुत्व और आवरणत्व के कारण होती है तथा पृथ्वी मे तमोगुण की अधिकता उसके आवरणत्व के कारण होती है। इस प्रकार समस्त महाभूत त्रिगुणात्मक होते है तथा इन्हीं गुणो के आधार पर वे अपने क्रिया कलापो का सम्पादन करते है।

स्वतन्त्र रूप से महाभूत किसी भी कम को करने मे असमर्थ हैं। वे प्राय द्रव्य के माध्यम से ही कार्य करने मे समर्थ होते हैं। द्रव्य से अभिप्राय यहा कार्य द्रव्य से है। आकाश आदि महाभूत भी द्रव्य हैं किन्तु उनकी गणना कारण द्रव्यो मे की जाती है। जिस कार्यद्रव्य में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह द्रव्य उसी महाभूत के आधार पर क्रिया करता है। द्रव्य में संकलित महाभूत के ये गुण उसके नैसर्गिक गुण भी होते हैं। उसके लक्षण विशेष को बतलाने वाले असाधारण गुण भी उसमे होते हैं तथा उसमे व्याप्त सत्वादि गुण भी होते हैं। सभी गुणो की अनुकूलता के अनुसार ही द्रव्य कार्य करता है। किसी भी द्रव्य मे न तो परस्पर विरोधी गुण ही होते हैं और न ही द्रव्य

परस्पर विरोधी कार्य करता है। उदाहरणार्थ जो द्रव्य खर गुण वाला होगा उसमें श्लक्ष्णत्व गुण असम्भावित है। इसी भाँति जो द्रव्य उष्ण गुण प्रधान है उसमें शैत्य गुण असम्भावित है। कार्य की दृष्टि से जा द्रव्य उष्णता कारक है वह उष्णता का शमन नहीं कर सकता—यह एक सामान्य सिद्धान्त है। इस प्रकार द्रव्यो मे गणो की अनु कलता एव तदनुरूप क्रियाशीलता महाभूत और उनके गुणो के कारण होती है।

महाभूतों की उत्पत्ति एव उनका परस्परानु प्रवश

तन्मयान्येव भतानि तद गुणान्यव चादिशेत ।
तश्च तल्लक्षण कृत्स्नो भतग्रामो व्यवस्यत ॥
तस्योपयोगोऽहिभहितश्चिकित्सां प्रति सवदा ।
भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चि ता चिकित्सिते ॥

—सुश्रुत सहिता शारीर स्थान १/१२ १३

अपने पृथक पथक गण धम वाले प वी आदि महाभूत त मय अर्थात मूल प्रकृतिमय है। उस मूल प्रकृति स ही अवा तर रूपेण पाच महाभूतो की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए पाचा महाभूता का मूल प्रकृति का परिणाम या विकार बतलाया गया है तथा उ ह त मय कहा गया है। प्रकृति के अ य परिणामो या विकारो की भाति ये पाच महाभत भी तद्गुणा मक (त्रिगुणा मक याने स व रज तम इन तीनो गुणा से युक्त) हाते है। उन्ही महाभूता से उन्ही महाभता वाला यह समस्त भूतग्राम (स्थावर जगम युक्त सम्पूण जगत) उत्प न ोता है। कथन का अभिप्राय यह है कि तीना (सत्व रज-तम गणो मे युक्त महाभूता मे जिस गण या जिन गणा की अधिकता होती है उन्ही गुणो के अनुसार उन महाभतो मे अपने अपन विशेष धम तथा गुण कर्म होते है। एतद्विध पाचा महाभतो के सयोग स ही विभिन्न गण धर्मों वाले स्थावर व जगम समस्त द्रव्यो की उत्पत्ति हाती है। महाभतो मे जो गुरुत्व स्थिर व उष्णत्व द्रवत्व आदि गुण हाते है व ही गण स्थावर जगम द्रव्यो मे भी होते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आयुर्वेद मे मात्र चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है। क्योकि चिकित्सा मे महाभूतो एव उनके गुण कर्मों की ही उपयोगिता है। महाभूतो के अतिरिक्त उनके मूल कारण रूप प्रकृति आदि का विचार चिकित्सा शास्त्र मे उपयोगी नही होने से नही किया गया है।

इस प्रकार महाभूतो की उत्पत्ति मूल प्रकृति या अव्यक्त से होती है। इसलिए प्रकृति के गुण महाभूतो मे सक्रान्त हो जाते हैं और वे भूतादि प्रकृतिमय तथा प्रकृति के गुण युक्त कहलाते हैं। सृष्टयुत्पत्ति क्रम मे अव्यक्त (प्रकृति) से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है महत्तत्व से अहकार की उत्पत्ति होती है अहकार से पच तन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है और पच त मात्राओ से पच महाभूतो की उत्पत्ति होती है। इन समस्त

तत्वों की उत्पत्ति का मूल कारण अव्यक्त तत्व है जो मूल प्रकृति कहलाता है। अत उस अव्यक्त या प्रकृति के गुण क्रमानुसार उससे समुत्पन्न समस्त तत्वो (द्रव्यो) में सक्रमित हो जाते हैं।

महाभूतों के उत्पत्ति क्रम मे एक तथ्य यह भी है कि एक महाभूत से क्रमश अन्य महाभूत की उत्पत्ति होती जाती है और अपने नैसर्गिक गुण के अतिरिक्त उसमें पहले वाले महाभूत के गुण सक्रमित होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आदि मे प्रथम आकाश महाभूत स्वय सिद्ध रहता है। वह नित्य और विभु (व्यापक) होने से विनाश को प्राप्त नहीं होता। आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द है। जिस प्रकार आकाश को नित्य माना जाता है उसी प्रकार उसका नसर्गिक गुण शब्द भी नित्य होता है। जिस समय केवल आकाश वर्तमान रहता है उस समय उसमे केवल एक गुण शब्द ही पाया जाता है। उसके बाद जब आकाशाद्वायु —आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है तो उस वायु मे उसका अपना नैसर्गिक गुण स्पर्श तो विद्यमान रहता ही है, किन्तु उसके साथ जिस आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है उस आकाश का शब्द गुण भी आ जाता है। इस प्रकार वायु मे शब्द और स्पर्श ये दो गुण रहते हैं। इसके अनन्तर जब वायोरग्नि —वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है तो उसमे अग्नि का अपना नैसर्गिक गण रूप' तो होता ही है इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आकाश और वायु के गुण क्रमश शब्द और स्पर्श भी उसमे रहते हैं। इस प्रकार अग्नि मे शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गण रहते हैं। तत्पश्चात् जब अग्नेराप —अग्नि से जल महाभूत समुत्पन्न होता है तब जल मे उसका अपना नैसर्गिक गुण रस तो विद्यमान रहता ही है इसके अतिरिक्त उसमे तत्पूववर्त्ती महाभूत आकाश वायु और अग्नि के गुण भी अवस्थित रहते हैं। इस प्रकार जल महाभूत क्रमश शब्द स्पर्श, रूप और रस इन चार गणो से समन्वित रहता है। इसके बाद सबसे अन्त मे अदभ्य पृथ्वी —जल से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है। पथ्वी का अपना नैसर्गिक गुण गन्ध है जो उसमे सर्वदा विद्यमान रहता है किन्तु इसके अतिरिक्त उसमे उसके पूर्ववर्ती महाभूत आकाश वायु, अग्नि और जल के क्रमश शब्द स्पर्श रूप और रस गुण भी रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में अपने नैसर्गिक गुण गन्ध के साथ अन्य चारों महाभूत के गुण विद्यमान रहने से उसमे पांच गुण हो जाते हैं। महाभूतों का यह उत्पत्ति क्रम उनमें स्थित गुणो की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। निम्न श्लोक द्वारा यही भाव व्यक्त होता है—

तेषामेकगुण पूर्वो गुणवृद्धि परे परे।
पूर्व पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृत ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/२८

महाभूतों मे पहला महाभूत आकाश एक गुण वाला है। अर्थात् आकाश मे केवल एक गुण शब्द विद्यमान रहता है और उनके बाद पिछले पिछले महाभूत में अपने से पूर्व पूर्व महाभूत के गुणो के अनुप्रवेश से क्रमश गुण की वृद्धि हो जाती है। गुणी अर्थात् महाभूत में क्रमानुसार पूर्व मे रहने वाले महाभूत और उनके गुणो का अनुप्रवेश माना जाता है।

उपयुक्त तथ्य के स्पष्टीकरण अर्थात् भूतानुप्रवेशजन्य गुणवृद्धि क्रम को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

आकाश—शब्द

वायु—शब्द स्पर्श

अग्नि—शब्द स्पर्श रूप

जल—शब्द स्पर्श रूप रस

पृथ्वी—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध

महाभूतो के उपयुक्त उत्पत्ति क्रम के अनुसार एक एक महाभूत मे उत्तरोत्तर एक एक गुण की वृद्धि होती जाती है। गुण वृद्धि के इस क्रम के आधार पर इस तथ्य का स्वत प्रतिपादन होता है कि प्रत्येक महाभूत उत्पत्ति क्रम से अपने अपने पूर्व के महाभूतो से युक्त होता है। जैसे वायु मे आकाश का प्रवेश होता है अग्नि मे वायु और आकाश का प्रवेश होता है जल महाभूत मे अग्नि वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश होता है तथा पृथ्वी महाभूत मे जल अग्नि वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश रहता है। यही अन्योन्यानुप्रविष्ट कहलाता है। अर्थात् एक महाभूत मे अन्य महाभूत का प्रवेश होना कहलाता है। महर्षि सुश्रुत ने इस तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्त लक्षणमिष्यते॥

—सुश्रुत संहिता शारीर स्थान १/२१

अर्थात् ये पाचो महाभूत एक दूसरे मे अनुप्रविष्ट समझना चाहिए। किन्तु इन महाभूतो के अपने विशिष्ट लक्षण अपने अपने द्रव्य मे ही व्यक्त होते हैं।

कालनिरूपणम्

काल का सामान्य अर्थ होता है समय। आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से भी काल का महत्व पूर्ण स्थान है। आयुर्वेद के अनुसार यह भी एक द्रव्य है और संसार के अन्य द्रव्यों के आवस्थिक परिवर्तन में कारण होता है। संसार में उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य द्रव्य काल द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। कारण की दृष्टि से काल समस्त कार्य द्रव्यो की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों का युगपत् होना शीघ्र होना विलम्ब से होना रात्रि में होना दिन मे होना वर्षा शरद्, हेमन्त शिशिर बसंत ग्रीष्म आदि किसी ऋतु मे होना वर्तमान काल में होना आदि इस प्रकार का ज्ञान केवल अनित्य (उत्पत्तिशील) द्रव्य में होता है। नित्य द्रव्य के विषय में उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। जिसके द्वारा यह ज्ञान होता है उसे काल कहते हैं।

काल शब्द की उत्पत्ति —

'कलाशब्दस्य ककाराकारौ ली धातोश्च लकारमादाय "काल" शब्दस्य निष्पत्तिः'।

अर्थात कला शब्द का ककार और 'अकार' तथा ली धातु का लकार' लेकर काल शब्द की निष्पत्ति हुई है।

इसे निम्न प्रकार से समझना चाहिए—

कला शब्द का ककार + अकार और ली' धातु का 'लकार' अर्थात् क + अ + ल = काल।

काल शब्द की परिभाषा और लक्षण

१ 'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। —सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ६/२

२ 'स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः'। —सुश्रुत सूत्रस्थान ६/२

३ संकलयति वा भूतानीति कालः। —सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ६/४

४ 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'।

समस्त प्राणियों का सकलन करने से यह काल कहलाता है।

५ सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति कालः।

समस्त प्राणियों को जो सुख और दुःख से युक्त करता है वह काल कहलाता है

६ कलयति संक्षिपतीति कालः मृत्यु समीपं वा नयतीति कालः"

जो आयु को घटाता है अथवा प्राणियों को मृत्यु के समीप ले जाता है वह काल कहलाता है।

७ अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि । —वै द २ २-६

अपर मे अपर ज्ञान पर मे पर ज्ञान युगपत् ज्ञान चिरज्ञान क्षिप्रज्ञान ये सब काल के चिन्ह है ।

८ जन्यानां जनक कालो जगतामाश्रयो मत ।
परापरत्वधीहेतु क्षणादि स्यादुपाधित ॥ —मुक्तावलि

उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक जगत का आश्रय परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु 'काल है । यह काल एक होने पर भी उपाधि भद से क्षण आदि व्यवहार वाला होता है ।

९ कालो निमित्त कार्याणां सर्वाधारस्तथा मत ।
परापरत्वधीहेतुर्नित्यो व्यापक उच्यते ॥
उपाधिभेदादेकोऽपि क्षणादिव्यवहार भाक ॥

काल ससार के समस्त अनि य (उत्पत्ति और विनाश वाले) कार्य द्रव्यो का निमित्त कारण समस्त द्रव्यो का आधार पर व (येष्ठ) और अपरत्व (कनिष्ठ) बुद्धि का कारण नित्य और व्यापक होता है । उपाधि भेद से एक होता हुआ भी क्षण आदि व्यवहार वाला होता है ।

१ अतीतादिव्यवहारहेतु काल —स चैको विभुर्नित्यश्च ।

भूत भविष्य वतमान आदि व्यवहार के कारण को काल कहते हैं । वह एक विभ (व्यापक) और नित्य होता है ।

काल का सम्ब ध प्र यक्षत सूय क्रिया से है । बिना सूय क्रिया के काल की स्थिति असम्भावित है । लोक व्यवहार मे भी सूय क्रिया के आधार पर ही काल का व्यवहार किया जाता है । जसे सूर्योदय होन पर प्रात काल मध्याकाश मे सूय की स्थिति होने पर मध्याह्न काल सूर्यास्त के समय सायकाल और सर्यास्त के पश्चात रात्रिकाल का व्यवहार सुविदित है । अत काल का प्र यक्ष सम्ब ध सूय क्रिया से है । किसी वस्तु का उत्पन्न होना कुछ समय तक उसका स्थित रहना एव नियत समय आने पर उनका विनाश होना काल के ही आधीन है । वस्तु का वृद्धिगत होना भी काल की अपेक्षा रखता है । हम नित्य प्रति जो यह व्यवहार करते है कि अमक बच्चा एक दिन का है और अमुक दस वष का । इस व्यहार का कारण काल ही है । जो बच्चा एक दिन का है वही बच्चा आगे जाकर एक वर्ष दस वष पचास वर्ष या इससे भी अधिक का कहलाता है । इसमे काल अथवा सूर्य क्रिया की ही अपेक्षा है । यदि काल न हो अथवा सूर्य क्रिया न हो तो उपयु क्त समस्त व्यवहार समाप्त हो जायेगा । ऐसी स्थिति मे न किसी द्रव्य की उत्पत्ति होगी न उसकी स्थिति होगी और न उसका विनाश होगा ।

उपर्युक्त आधार पर ही द्रव्यो 'अथवा मनुष्यो मे पर एव अपर व्यवहार किया जाता है । दस वर्ष के बालक की अपेक्षा बारह वर्ष का बाल क ज्ये ष्ठ(बड़ा)कहलाता

है वही उसका परत्व है। दस वर्ष वाला बालक कनिष्ठ (छोटा) कहलाता है। यही उसका अपरत्व है। किन्तु आठ वर्ष के बालक की अपेक्षा वही दस वर्ष वाला बालक ज्येष्ठ होने से पर है और आठ वर्ष वाला अपर। इस प्रकार संसार के समस्त द्रव्यों मे परत्व और अपरत्व भाव की योजना भी काल कृत ही होती है।

आयुर्वद के अनुसार काल भी एक द्रव्य है। आयुर्वदोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जिसमे कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो वह द्रव्य कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार काल मे भी कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित होना चाहिए। सूर्य क्रिया के कारण काल भी गमनशील होता है। अतः गमन कार्य समवाय सम्बन्ध से कालाश्रित है। इसी प्रकार पर त्व अपरत्व आदि गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय होने के कारण काल एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

काल के औपाधिक भेद

काल के विषय मे कहा गया है कि वह एक नित्य और विभु होता है। किन्तु व्यवहार मे वर्तमान भूतकाल भविष्यकाल आदि का प्रयोग होने से उसके अनेकत्व की पुष्टि होती है ऐसी शका कुछ लोगो द्वारा की जाती है। उनके अनुसार— अतीतभविष्यव्यवहारहेतु काल यह जो काल का लक्षण प्रतिपादित किया गया है वह भी काल के भूत वर्तमान भविष्य आदि भेदो की ओर सकेत करता है। इसका समाधान यह है कि क्षण निमेष दिन मास वर्ष वर्तमान भूत भविष्य आदि जो काल के भेद प्रतीत होते हैं वे वस्तुत काल के भेद न होकर उसकी उपाधियाँ हैं। इसीलिए काल के लक्षण मे निर्दिष्ट है कि क्षणादि स्यादुपाधित तथा उपाधिभेदा देकोऽपि क्षण दि व्यवहृ रभाक्। इससे स्पष्ट है कि उपाधियाँ सूर्य क्रिया से उत्पन्न होती है अर्थात सूर्य की गति के कारण ही क्षण निमेष दिन रात मास वर्ष आदि का निर्माण होता है। अत समस्त उपाधियाँ सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखती हैं।

सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखने वाले काल प्रविभाग का वर्णन महर्षि सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—

तस्य सवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभाग करोति। —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ३/३

अर्थात् भगवान सूर्य अपनी गति विशेष से उस सवत्सरात्मक काल का अक्षि निमेष काष्ठा कला मुहूर्त अहोरात्र पक्ष मास ऋतु अयन वर्ष और युग इस प्रकार विभाग करते हैं।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि सुश्रुत ने आगे लिखा—

'तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेष पञ्चदशाक्षिनिमेषा' काष्ठा त्रिंशत्काष्ठा' कला विंशतिकलो मुहूर्त कलादशभागश्च त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्र पञ्चदशाहोरात्राणि पक्ष' स च द्विविध शुक्ल' कृष्णश्च तौ मास । तत्र माघादयो द्वादशमासा' ।

अर्थात् अकार आदि लघु अक्षर के उच्चारण मे जितना समय लगता है उसे 'अक्षिनिमेष' या निमेष कहते हैं। ऐसे पन्द्रह निमेषो की एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओं की एक कला बीस कला का एक मुहूर्त तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन रात) पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। वह पक्ष दो प्रकार का होता है—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—इन दो पक्षो का एक मास होता है। माघ आदि कुल बारह मास होते हैं। दो दो मास की एक ऋतु के अनुसार छ ऋतुए होती हैं। तीन तीन ऋतुओ के दो अयन होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। दो अयन अथवा छ ऋतुओ या बारह मास का एक सवत्सर या वर्ष होता है। पाच सवत्सर का एक युग होता है।

आयर्वेद मे काल का महत्त्व

आयुर्वेद मे व्यवहारिक रूप से काल की उपयोगिता एव महत्व तो है ही किन्तु चिकित्सा भेषज प्रयोग एव आतुरावस्था की दृष्टि काल का बहुत ही महत्व है। आयुर्वेद मे काल का जो वर्णन किया गया है वह इसी दृष्टि से है। महर्षि चरक ने स्पष्ट रूप से काल के व्यावहारिक प्रयोग एव आतुरावस्था सम्बन्धी प्रयोग का उल्लेख किया है। यथा—

काल' पुन' सवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र सवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यत प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। चरक सहिता विमान स्थान /१२४

अर्थात् काल दो प्रकार होता है—सवत्सर और आतुरावस्था। इनमे सवत्सर (दक्षिणायन और उत्तरायण भेद से) दो प्रकार का (शीत उष्ण और वर्षा भेद से) तीन प्रकार का (वर्षा शरद हेमन्त शिशिर वसन्त-ग्रीष्म इन षड ऋतु भेद से) छह प्रकार का (चैत्र बैसाख ज्येष्ठ आषाढ श्रावण आश्विन कार्तिक मृगशीर्ष पौष माघ फाल्गुन इन द्वादश मास भेद से) बारह प्रकार का तथा इससे भी अधिक विभाग वाला होता है।

आतुरावस्था के प्रति महर्षि चरक ने निम्न मन्तव्य स्पष्ट किया है—

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्य प्रति कालाकालसज्ञा। तद्यथा-अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकाल काल पुनरन्यस्येति एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसज्ञा। —चरक सहिता विमान स्थान ८/१२६

अर्थात आतुरावस्थाओं में भी कार्य एवं अकार्य के प्रति काल और अकाल की संज्ञा होती है। जैसे रोगी की अमुक अवस्था मे अमुक औषधि का अकाल है (अर्थात् अमुक अवस्था मे अमुक औषधि देने योग्य नहीं है) और अमुक अवस्था मे औषधकाल है। यह सब रोगी की अवस्था विशेष से होता है। इसलिए रोगी की अवस्थाओं में काल—अकाल संज्ञा होती है।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त प्रकार से विभक्त काल की नित्यग और आवस्थिक संज्ञा भी दी है। यथा—

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च। तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्ष।
—चरक संहिता विमान स्थान १/३०

अर्थात् काल दो प्रकार का होता है—नित्यग और आवस्थिक। इनमे आवस्थिक काल विकार की अपेक्षा रखता है और नित्यग काल ऋतु सात्म्य की।

यहा पर संवत्सर काल को नित्यग और आवस्थिक काल को आतुरावस्था काल कहा गया है।

आयुर्वेद मे रोगी की चिकित्सा के लिए जो औषधि दी जाती है—काल के अनुसार उसका बडा महत्व है। आयुर्वेद मे इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है कि काल के अनुसार औषधि देने से अपेक्षित फल की प्राप्ति (आरोग्य लाभ) होती है। इसीलिए आचार्यों ने रोगी का स्वभाव प्रकुपित दोष औषध-द्रव्य आदि को ध्यान में रखते हुए औषध देने के दस काल निर्धारित किये हैं। यथा—

१ अभक्त (खाली पेट) २ प्राग्भक्त (खाने के पूर्व) ३ अधोभक्त (खाने के बाद) ४ मध्यभक्त (भोजन के मध्य मे) ५ अन्तरा भक्त (दो भोजनकाल के मध्य मे) ६ सभक्त (भोजन के साथ साथ) ७ सामुद्ग (अन्नपान के पहले और बाद मे) ८ मुहुर्मुहु (बार बार) ९ सग्रास (एक या कुछ ग्रासों के साथ) १ ग्रासान्तर (दो ग्रासो के मध्य)।

इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से उपर्युक्त औषध देने के दस काल का उल्लेख प्राय सभी आचार्यों ने किया है। इसका विस्तृत विवरण सुश्रुत संहिता उत्त र तन्त्र अ ६४ अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान अ २३ शार्ङ्गधर संहिता प्र खं० अ २ तथा अ ६ सू १३ मे देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्यकृत द्रव्यगुण-विज्ञान (उत्तरार्ध) के परिभाषा खण्ड में भी इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है।

दिशा निरूपण

लोक व्यवहार मे दिशा का प्रयोग पूर्व पश्चिम आदि के लिए किया जाता है। आयुर्वेद मे भी इसी रूप मे दिशा का प्रयोग किया गया है। कि तु आयुवद मे दिशा के सद्धान्तिक एव व्यवहारिक दोनो पक्षो को समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। दर्शन शास्त्र एव आयुवदीय दृष्टि कोण से दिशा का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

इत इदमिति यस्तद्दिश्य लिगम। —**वशषिक दपण** २ २ १

अर्थात इसकी अपेक्षा यह दूर है और इसकी अपेक्षा यह समीप है—इस प्रकार का ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह दिशा कहलाती है।

दरान्तिकादि धीहतुरका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादकापि प्राच्यादि व्यपदशभाक॥ —**मक्तावली**

अर्थात दूर और अन्तिक (समीप) के ज्ञान का कारणभूत दिशा नि य और व्यापक होती है। वह एक होते हुए भी उपाधि भद से प्राची आदि नाम से व्यवहृत होती है।

सामा यत पूर्व पश्चिम उत्तर-दक्षिण इन चार दिशाओ का ज्ञान दिशा शब्द से होता है। किन्तु दिशा श द का व्यापक अथ करने पर हमारे दनिक जीवन मे इसकी व्याप्ति की अनुभूनि होती है। हम यदि पूव पश्चिम उत्तर-दक्षिण दिशा बोधक इन चार शब्दा तक ही सीमित रहे तो उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने पर भी हम इनका नही पा सकते। उदाहरणाथ यदि हम पूर्व दिशा मे उसकी प्राप्ति के लिए सतत बढते चले जाव तो अनन्त काल तक भी उसकी उपलब्धि नही हा सकती। अत पूव पश्चिम आदि मात्र दिशा वाचक शब्द है।

आयुवद म दिशा के व्यावहारिक पक्ष का समथन करते हुए दिशा का अथ देश या स्थान किया गया है। यथा— **दिशा देश स्थानम** । अत व्यवहार म देश या स्थान का प्रयोग हाने से उसके व्यापकत्व की और कभी भी उसका विनाश नही होने से उसके नित्यत्व की सिद्धि होती है।

जिस प्रकार सामान्य व्यवहार मे कालिक परत्व (ज्यष्ठत्व) और कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) का प्रयोग होता है उसी प्रकार दशिक परत्व और अपरत्व का प्रयोग भी होता है। दैशिक परत्व का अभिप्राय दूर और दैशिक अपरत्व का अभिप्राय समीप होता है। जसे अमुक वस्तु इससे इतनी दूर है—यह दशिक परत्व है और अमुक वस्तु इससे समीप है—यह दशिक अपरत्व है। इस प्रकार दूरत्व

का अभिप्राय दैशिक परत्व और अन्तिकत्व (समीपत्व) का अभिप्राय दैशिक अपरत्व होता है। इन दोनो (दूरत्व और अन्तिकत्व) का हेतु दिशा है।

व्यवहार मे इसका प्रयोग प्रभूत रूप से होता है कि अमुक वस्तु दूर है अथवा अमुक वस्तु समीप है। समीप देश (स्थान) मे विद्यमान मूर्त द्रव्य में दिशाकृत परत्व होता है। इसी प्रकार दूर देश मे विद्यमान घट आदि मूर्त द्रव्य की अपेक्षा समीप देश मे विद्यमान मूत द्रव्य मे दिशा कृत अपरत्व होता है। इसी आधार पर दिशा के द्रव्यत्व की सिद्धि भी की गई है। अर्थात परत्व-अपरत्व ये दोनों गुण होते हैं। घट आदि मूतद्रव्य मे जिस प्रकार रूप आदि गुण जन्य होते हैं उसी प्रकार परत्व-अपरत्व गुण भी जन्य हैं। जन्य गुण सदव असमवायि कारण के द्वारा जन्य होता है और असमवायि कारण सयाग दो द्रव्यो का ही हो सकता है। यहाँ घट आदि एक द्रव्य तो विद्यमान है उसम परत्व-अपरत्व गुणोत्पादक असमवायिकारण सयोग रूप अन्य द्रव्य होना चाहिये वह अ य द्रव्य दिशा ही है।

आयुवद सम्मत द्रव्य लक्षण के अनुसार द्रव्य मे गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से होना चाहिए। दिशा मे सख्या परिमाण पथकत्व सयोग और विभाग गुण समवायि रूप से विद्यमान रहते हैं और द्रव्यो मे दूरत्व या अन्तिक व उत्पन्न करना ये कम भी समवाय सम्ब ध से रहते हैं। इस प्रकार दिशा के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

लोक व्यवहार मे प्रधानत चार दिशाओ का प्रयोग होता है पूव-पश्चिम-उत्तर दक्षिण। दिशा का यह चतुर्विध व अथवा नानाविधत्व केवल औपधिक है वास्तविक नही। दिशा की उपाधि आदित्य सयोग है। आदित्य सयोग रूप उपाधि होने से ही दिशा मे पूव पश्चिम आदि का व्यवहार होता है। वस्तुत दिशा एक ही है। पूर्व दिशा को प्राची पश्चिम दिशा को प्रतीची उत्तर दिशा को उदीची और दक्षिण दिशा को अवाची भी कहा गया है। इसके क्रमश निम्न लक्षण है —

१ प्राची (पूर्व दिशा) — आदित्यसयोगात भूतपूर्वाद भविष्यतो भूताच्च प्राची अर्थात भूत भविष्य और वतमान काल मे होने वाले सूय के सयोग से दिशा की प्राची सज्ञा है। अथवा 'प्रागस्यामञ्चति सूर्य इति प्राची' अथवा प्रथममञ्चतीति प्राची' अर्थात् जिस दिशा मे सूय का उदय होता हैं या जिस दिशा मे भगवान सूर्य का दर्शन सर्व प्रथम होता है उसको प्राची कहते है अथवा तओदयाचलसन्निहितमूर्त्तावच्छिन्ना दिक प्राची' अर्थात् उदयाचल के समीप की दिशा प्राची या पूर्व कहलाती हैं।

२ प्रतीची (पश्चिम दिशा)— प्रतिकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची अथवा प्रत्यक अञ्चतीति प्रतीची अर्थात् जिस दिशा मे सूर्य अस्त होता है या जिस दिशा मे भगवान् सूर्य का दर्शन अन्त में होता है उसे प्रतीची या 'पश्चिम' दिशा

कहते हैं अथवा **तद् व्यवहितमर्तावच्छिन्ना (अस्ताचलसन्निहिता) च दिक प्रतीची'** अर्थात् उसके (पूर्व दिशा के) विपरीत अस्ताचल (जहा भगवान सूर्य का अस्त होता है) के समीप की दिशा प्रतीची या पश्चिम कहलाती है।

६ **उदीची (उत्तर दिशा)— उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची' अथवा उदगञ्चतीति उदीची** अर्थात जिस दिशा मे सूय सयोग ऊँचे होकर गमन करते हैं। या पूर्वाभिमुख स्थित होने पर वाम हस्त की ओर वाली दिशा उदीची या उत्तर दिशा कहलाती है अथवा **मेरुसन्निहित मर्तावछिन्ना दिगुदीची** अर्थात सुमरु पर्वत के समीप मे स्थित दिशा को उदीची या उत्तर दिशा कहते हैं।

४ **अवाची (दक्षिण दिशा) अर्वागस्यामञ्चति सूर्य इति अवाची** अथवा **अर्वागञ्चतीति अवाची** अर्थात जिस देश मे सूर्य सयोग नीचे होकर होता हो या पूर्वाभिमुख होने पर दक्षिण (दहिने हाथ की ओर वाली) दिशा को अवाची या दक्षिण दिशा कहते हैं। अथवा **तद् व्यवहृतमूर्तावच्छिन्ना तु दिग्दक्षिण।** अर्थात उसके (उत्तर दिशा के) विपरीत दिशा को दक्षिण दिशा कहते हैं।

— —

आत्मा निरूपण

पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश इन पांच महाभूतों तथा काल और दिशा द्रव्यो के अनन्तर अष्टम द्रव्य आत्मा का निरूपण किया जा रहा है। आयुर्वेद में आत्मा की गणना द्रव्यों के अन्तर्गत की गई है। यह आयुर्वेद का सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण द्रव्य है। वैसे तो समस्त द्रव्यो एव पदार्थों की उपयोगिता एव महत्ता अपने अपने स्थान पर है तथापि आत्मा को विशेष महत्व दिया गया है। इसके अनेक कारण हैं जिनका उल्लेख आगे प्रसगवश किया जायगा। यहाँ एक बात यह स्मरणीय है कि आयुर्वेद मे आत्मा के लिए पुरुष' शब्द का व्यवहार किया गया है। इसकी सार्थकता में अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि आत्मा एक ऐसा रहस्यमय गूढ़ तत्व है कि उसके मम ज्ञानोपलब्धि हेतु अनेक मनीषियो योगियो एव ऋषियो ने अपने जीवन का व्युत्सर्ग कर दिया। समस्त भारतीय दर्शन शास्त्रो मे आत्मा सम्बन्धी गहनतम विवचन विस्तृत रूपेण प्रस्तुत किया गया है। तथापि आयुर्वेद मे आत्मा के विषय मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यो का प्रतिपादन किया गया है तथा कुछ ऐसे तथ्य स्वीकार किए गए हैं जो आयुर्वेद के क्षत्र तक ही सीमित हैं और आयुर्वेद के लिए ही जिनकी विशेष उपयोगिता है। अत यह आवश्यक है कि आयुर्वेद मे आत्मा के सम्बन्ध मे जिन तथ्यो का प्रतिपादन जिस रूप मे किया गया है उसे उसी रूप मे समझकर ग्रहण किया जाय।

आत्मा का लक्षण

ज्ञानाधिकरण ह्यात्मा निर्विकारोऽद्वितीयक ।
अनादिनिधनो व्यापी जीवो सोपाधिकस्तु स ॥
उपाधिपरिनिमु क्त केवलत्व प्रपद्यते ॥

अर्थात आत्मा ज्ञान का अधिकरण निर्विकार अद्वितीय अनादि अनन्त और व्यापक होता है। वही आत्मा उपाधि विशिष्ट से युक्त होने पर जीव सज्ञा द्वारा व्यवहृत होता है। अर्थात् जीव कहलाता है। उपाधियो से रहित होकर जीव केवल विशुद्ध आत्म स्वरूप होता है। तब वह मुक्ति अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है।

'ज्ञानाधिकरणमात्मा—अधिकरणपदं समवायेन ज्ञानाश्रयत्वलाभार्थम्। भूतलादिवारणाय ज्ञानेति कालादिवारणाय समवायेनेत्यपि देयम्। अतो लक्षणघटितम् ज्ञानवानात्मा आत्मत्वसामान्यवान् वा।'

आत्मा ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) है। यहाँ अधिकरण पद समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व प्रतिपादन के लिए दिया गया है। पृथ्वी आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण हेतु ज्ञान पद तथा काल आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण

हेतु समवाय पद का प्रयो किया गया। अत लक्षण यह हुआ —आत्मा ज्ञानवान अथवा आत्मत्व सामान्यवान होता है।

आत्मा सम्बधी उपयु क्त लक्षणा के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण है। अर्थात् जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय है उसे आत्मा कहते है। सामान्यत हमे जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात आत्मा को ही होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पृथ्वी जल तेज वायु आकाश काल दिशा और मन इन आठ द्रव्यो मे से किसी मे भी नही रहता। वह ज्ञान इन आठ द्रव्यो के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य मे रहता है। क्योकि ज्ञान गुण है और गुण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय करके ही रहता है। गुण बिना द्रव्य के रह नही सकता। द्रव्य के बिना गुण का कोई अस्तित्व नही होता। पृथ्वी आदि उपयु क्त आठ द्रव्यो मे ज्ञान गुण नही होता। अत उपयु क्त आठ द्रव्यो के अतिरिक्त नवम द्रव्य को ही ज्ञान का आश्रय स्वीकार किया जायेगा। वह नवम द्रव्य आत्मा है। इस प्रकार ज्ञानाधिकरण नवम द्रव्य आत्मा की सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

इसके अतिरिक्त तथ्यपूर्ण तर्क के आधार पर भी ज्ञान के आश्रय रूप आत्मा की सिद्धि होती है। ज्ञान गुण है और वह मानस प्रत्यक्ष होता है। महाभूतो के रूप रस गन्ध आदि गुण मानस प्रत्यक्ष नही होते। केवल चक्षु रसना घ्राण आदि के प्रत्यक्ष होते है। ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही होता। अत ज्ञान महाभूतो का गुण नही हो सकता। ज्ञान एक विशेष गुण होता है तथा अपने आश्रय द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। मन ... ज्ञान काल और दिशा का गुण भी नही हो सकता। क्योकि काल आदि मे विशेष गुण नही होता तथा समवाय सम्बन्ध से काल आदि मे ज्ञान का अभाव है। अत ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है और वह आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार तर्क के द्वारा आत्मा और उसके अधिकरणत्व की सिद्धि होती है। उपनिषदो मे आत्मा को ज्ञानरूप मानकर उसका विवेचन किया गया है। किन्तु यहा आत्मा को ज्ञानरूप गुण का अधिकरण माना है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद मे आत्मा को द्रव्य माना गया है। द्रव्य मे प्रतिपादित द्रव्य के लक्षण के अनुसार किसी भी द्रव्य मे गुण और कर्म का समवाय रूप से रहना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जो द्रव्य समवाय रूप से किसी गुण और कर्म का आश्रय नही है वह द्रव्य नही हो सकता। इस सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय है। अत आत्मा एक द्रव्य है।

आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो चक्षुओ द्वारा देखा नहीं जा सकता श्रोत्र द्वारा जिसका कोई शब्द नही सुना जा सकता त्वक द्वारा उसका कोई स्पर्श नहीं किया जा

सकता रसना द्वारा जिसका कोई आस्वादन नहीं किया जा सकता और घ्राण द्वारा जो सूंघा नही जा सकता अर्थात भौतिक इन्द्रियो द्वारा वह ग्राह्य नहीं है। अनुमान द्वारा ही उसकी सिद्धि सम्भावित है। आप्तवचन अथवा आगम उसकी सिद्धि मे प्रमाण हैं। तथापि कुछ मूढ़मति वाले भ्रमवशात चैतन्य युक्त होने से शरीर को ही आत्मा मान लेते है और कुछ लोग इन्द्रियो में ही आत्मा का व्यवहार करने लगते हैं। क्योंकि इन्द्रियो द्वारा ही ज्ञानोपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त कुछ अल्पज्ञ जन मन को ही आत्मा समझ लते ह। क्योंकि मनसा सयुक्त इन्द्रिया ही ज्ञान प्राप्ति मे सहायक होती हैं। इनक विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि शरीर इन्द्रियाँ और मन से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसी तथ्य का प्रतिपादन मुक्तावलि की निम्न कारिका म निम्न प्रकार स किया गया है—

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ॥
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ॥

अर्थात आत्मा इन्द्रियो का अधिष्ठाता है क्योकि कारणो का कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) अवश्य होता है। चेतनता शरीर का गुण नही है क्योकि मृत्यु हो जाने पर शरीर म चैतन्य का अभाव पाया जाता है। मृत मे व्यभिचार होने से शरीर मे चैतन्य नही होता। चेतनता इन्द्रियो का गुण मानने पर इन्द्रियो के उपघात होने पर इन्द्रिया द्वारा ग्रहीत विषयो का स्मरण कैसे होगा? इसी भाँति मन भी चैतन्यवान् नही है। क्योकि मन के अन्दर रहने वाले ज्ञान सुख दुःख आदि का प्रत्यक्ष नही हो सकेगा। क्योकि वह स्वय अणु परिमाण वाला है।

आत्मा एक शाश्वत अविनाशी नित्य द्रव्य है। अतः उसका उपघात या विनाश कभी नही होता। आत्मा मे बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार आदि गुणो का निवास रहता है। शरीर इन्द्रिय और मन मे इन गुणो का सर्वथा अभाव रहता है। अतः आत्मा शरीर इन्द्रिय और मन स भिन्न एक स्वतन्त्र सत्तावान द्रव्य है। शरीर द्वारा अनेक बार जो अहं शब्द का प्रयोग होता है वह शरीर के लिए न होकर वस्तुत आत्मा के लिए ही होता है। यहा यह शका उत्पन्न होती है कि आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता नही है, शरीर का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अहं शब्द का व्यवहार भी तत्कालीन प्रत्यक्षगम्य शरीर के लिए ही होता है। अतः शरीर को ही आत्मा मान लेना उपयुक्त है। इससे भिन्न वस्तु की कल्पना निरर्थक है। इस शका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—यदि शरीर को ही आत्मा मानने तो मृत शरीर से भी इसका व्यभिचार होगा। अर्थात् चैतन्य आत्मा का स्वभाव है और

ज्ञान आत्मा का गुण है। मृत शरीर मे चतन्य का सवथा अभाव होता है। अत' शरीर आत्मा नहीं हो सकता। ज्ञान गण का अभाव जीवित और मृत दोनों प्रकार के शरीर मे होता है। जबकि ज्ञान गण उसमे समवाय सम्बन्ध से अनिवाय रूपेण होना चाहिए। जिसमे ज्ञान गुण समवाय सम्ब'ध से नही रहता वह आत्मा नही हो सकता। अत' ज्ञान गुण और चैतन्य धम वाला आत्मा स्वतन्त्र सत्तावान् शरीर से सवथा पृथक् द्रव्य है। इसके अतिरिक्त शरीर को आत्मा मानने मे एक यह भी आपत्ति है कि शरीर क हस्त-पाद आदि अवयवो क विनष्ट हो जाने पर कई बार शरीर का भी विनाश हो जाता है। शरीर को ही आत्मा मान लेने पर आ'मा का भी विनाश हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अह शब्द का प्रयोग भी मत शरीर द्वारा नहीं किया जाता है। अत शरीर आ'मा नही है।

इन्द्रिया भी आ'मा नही हैं। क्योकि इ'द्रिया भौतिक होती हैं और वे भौतिक गुणो एव भौतिक विषयो को ही ग्रहण करने मे समथ होती हैं। समवायत्वेन इन्द्रियो मे ज्ञान गुण का अभाव होता है। वे तो कवल भौतिक अथ (विषय) को ही ग्रहण करती हैं। इद्रि'या मे चतन्य का भी सवथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त इ'द्रियो को ही आत्मा मान लेने पर इ'द्रियो की भाति आत्मा का भी पचविधत्व स्वीकार करना पड गा। जब कि शरीरान्तगत आ'मा एक ही होता है। उपयु क्त स्थिति मे इ'द्रियो क द्वारा ग्रहीत वस्तु का ज्ञान भी भिन्न भिन्न इन्द्रिय के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होगा और वह वस्तु एक न होकर दो तीन चार या पाच हो सकती है। अर्थात जिस इन्द्रिय क द्वारा जिस वस्तु का ग्रहण किया जायगा वह वस्तु तदिन्द्रिय जनित ज्ञानरूप होगी। उमके पश्चात् दूसरी इन्द्रिय द्वारा उसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर तज्जनित ज्ञान भी भिन्न प्रकार का होगा और उस ज्ञान के आधार पर वही वस्तु प्रथम इ'द्रिय द्वारा ग्रहीत वस्तु से सवथा भिन्न प्रतीत होगी। इसी भाति ततीय इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर पुन' उसम भिन्नता की प्रतीति होगी। इस प्रकार एक ही वस्त भिन्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर उसमे द्व विध्य त्र विध्य चातर्विध्य या पाचविध्य उत्पन्न हो जायगा। इसके विपरीत जब हम अपनी आँखो से किसी वस्त को देखते है तथा रुचिकर होने पर उसे हम अपने हाथो से छते भी हैं आवश्यकता पडने पर उसे सू घते भी हैं और अन्त मे उसे खा भी लते हैं। इस सम्पूण प्रक्रिया मे हमारा ज्ञान यह रहता है कि वस्तु एक ही है। किन्तु इन्द्रियो का आ'मत्व स्वीकार कर लेने पर वस्त का ज्ञान एकात्मक न होकर चतुर्विधात्मक होगा। ऐसी स्थिति मे वस्तु का सम्यक ज्ञान होने मे बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु इन्द्रिय व्यतिरिक्त शारीरान्तगत स्वतन्त्र एक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने में यह बाधा या अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती।

प्राय' देखा जाता है कि इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर

तज्जनित ज्ञान की स्मृति चिर काल तक बनी रहती है। किंचित् कालोपरान्त उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर या इन्द्रियोपघात हो जाने पर भी तज्जनित ज्ञान की स्मृति बनी रहती है। इन्द्रिय को ही आत्मा मान लिया जाय तो इन्द्रिय का विनाश हो जाने पर तज्जनित ज्ञान का भी विनाश हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता। इन्द्रियो-पघात के अनन्तर भी आत्मा मे तज्जनित ज्ञान की स्मृति सुरक्षित रहती है। अत इन्द्रिय से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

इसी प्रकार अनुभव से यह सिद्ध है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पडता है। उदाहरणत अपने समीपस्थ व्यक्ति को रसगुल्ला खाता हुआ देखकर देखने वाले उस व्यक्ति के मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है। इससे प्रतीत होता है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पड़ता है। इसका कारण यह है कि जिसके मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है उसने पूर्व मे कभी रसगुल्ले का आस्वादन किया है। जिसका स्मरण उसे पुन रसगुल्ला देखने पर हुआ। उसे पूर्व मे आस्वादित रसगुल्ले के मधुर रस के कारण ही वर्तमान में उसी के आस्वादन का पुन स्मरण हो आया। ऐसी स्थिति मे प्रथमावस्था मे अनुभवकर्ता एव बाद मे स्मरणकर्ता का एक होना आवश्यक है। इन्द्रियो को आत्मा मानने से एतद्विध अनुभतिजन्य स्मृति असम्भव है। क्योंकि जो इन्द्रिय अनुभवकर्ता होगी उसे ही स्मरणकर्ता भी होना चाहिए। अत ऐसी स्थिति मे एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर नही पडना चाहिए। किन्तु अनुभवकर्ता एव स्मरणकर्ता आत्मा एक होने से ऐसा होना सभव है। अत आत्मा इन्द्रियो से सर्वथा भिन्न द्रव्य है। इन्द्रियो मे आत्मत्व या चैतन्य स्वीकार नही किया जा सकता।

अब पुन यह शका होती है कि यदि शरीर और इन्द्रियो को आत्मा मानने मे व्यवधान होता है तो मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए। क्योंकि मन नित्य होता है और उसी के सयोग से इन्द्रिया अपने विषयो को ग्रहण करने मे प्रवृत्त होती हैं। अत मन को ही आत्मा स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं है। इसके समाधान के लिए कहा गया है कि मन को भी आत्मा स्वीकार नही किया जा सकता। यद्यपि मन नित्य है किन्तु आत्मा के लिए केवल नित्यत्व होना ही आवश्यक नहीं है। मन अणुरूप होता है और अणु द्रव्य का प्रत्यक्ष नही होता। अत मन भी प्रत्यक्ष द्रव्य नहीं है। जिन द्रव्यो में इन्द्रिय गोचरता होती है वे ही प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते हैं। अर्थात् इनका ज्ञान देखकर सुनकर, सूंघकर स्पर्शकर अथवा चखकर किया जा सकता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष के लिए उनमें महत् परिमाण तथा उद्भूतरूपत्व का होना अनिवार्य है। परमाणु और द्वयणुक अप्रत्यक्ष होते हैं। इसके बाद से त्रसरेणु आदि प्रत्यक्ष होते हैं। क्योंकि उनमें महत्-

और उद्भूतरूपत्व दोनो विद्यमान रहते हैं । आत्मा मानस प्रत्यक्ष होता है । मन अणु रूप होने से प्रत्यक्ष नहीं है । यदि मन को ही आत्मा मान लिया जाय तो आत्मा में होने वाले समस्त दुःख-सुख इच्छा द्वेष आदि गुण मन के भी हो जायेंगे । किन्तु मन का प्रत्यक्ष नहीं होने से उसमे विद्यमान सुख दुःख आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा । इससे बडी विडम्बना उत्पन्न हो जायगी । अतः मन में आत्मत्व सिद्धि नितान्त असम्भाव्य है । आत्मा मज्ञावान मन से पृथक एक स्वतन्त्र द्रव्य है ।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः । (वै द ३।१।२)

अर्थात इन्द्रिय तथा उसके गन्धादि विषयो में यह चक्षु है यह रूप है इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न प्रकार के द्रव्य की सिद्धि में हेतु है । जिस प्रकार घट निर्माण प्रक्रिया के साधनभूत दण्ड कुम्हाल चक्र मिट्टी पानी आदि का प्रयोग करने वाला इन साधनो से सर्वथा भिन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान के साधनभूत चक्षु आदि इन्द्रियो का प्रेरक भी उन इन्द्रियो से भिन्न है क्योंकि जो प्रेरक है वह साधनो से भिन्न होता है यह नियम है । इस नियम के अनुसार जो चक्षु आदि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों में प्रेरित करता है वह एक स्वतन्त्र सत्तावान् द्रव्य है । वही आत्मा शब्द से व्यवहृत होता है ।

सामान्यतः आत्मा दो प्रकार का होता है—जीवात्मा और परमात्मा । सब शरीरो में अवस्थित शरीर के माध्यम से समस्त कर्मों का कर्ता तथा कर्म फल का भोक्ता जीवात्मा ही होता है । यह जीवात्मा सुख दुःख आदि के ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला होता है । इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि आध्यात्मिक गुणो का आश्रय यह जीवात्मा ही है । यह प्रति शरीर भिन्न भिन्न होता है तथा नित्य और विभु होता है । आत्मा जब शरीर इन्द्रिय और मन से संयुक्त होकर विविध योनियो में भ्रमित होता है तब वह जीवात्मा संज्ञा को धारण करता है । कर्मों का कर्ता एवं कर्मफल का भोक्ता होने से वह जीवात्मा बन्धन और मोक्ष के योग्य होता है । परमात्मा इससे भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान नित्य ज्ञान का अधिकरण ईश्वर कहलाता है । वह नित्य व्यापक तथा एक होता है । रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द रहित होने से वह बाह्य प्रत्यक्षगम्य नहीं है । सुख दुःख आदि से परे होने के कारण इसका आन्तर (मानस) प्रत्यक्ष भी सर्वथा असम्भव है । अतः अनुमान एवं आप्त वचन ही ईश्वर की सत्ता मे प्रमाणभूत होते है । ससार मे जितने भी कार्य द्रव्य उपलब्ध होते है उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए । बिना कर्ता के कार्य द्रव्यो की उत्पत्ति असम्भावित है । इसी भाति द्व्यणुक बीजो के उत्पन्न होने वाले अकुरो आदि का भी कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए । मनुष्य की शक्ति इनके मूल निर्माण या मूल उत्पत्ति में सर्वथा असमर्थ है । अतः ईश्वर ही इनका कर्ता है । इस तथ्य की पुष्टि

स्वत हो जाती है। वह ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत का कर्ता नियन्ता और संहारकर्ता है। इस तरह जीवात्मा और परमात्मा भेद से आत्मा दो प्रकार का होता है। जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी उपयुक्त विवेचन का सारांश यह निकलता है कि अनित्य ज्ञान और इच्छादि का समवायी कारण जीवात्मा तथा नित्य ज्ञान और इच्छा आदि का अधिकरण परमात्मा (ईश्वर) है।

आयुर्वेद सम्मत आत्मा और उसके भेद

आयुर्वेद मे आत्मा के विषय मे उतना ही विशद एव व्यापक विवेचन किया गया है जितना दशन शास्त्रो मे किया गया है। किन्तु दोनो के उद्देश्य में अन्तर है। दशन शास्त्रो मे आत्म तत्व का विवेचन उसकी मुक्ति या कैवल्य के लिए किया गया है। ससार की विविध योनियो मे भ्रमित होने वाले आत्मा को कर्म बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु आयुर्वेद मे आत्म तत्व का विवचन भिन्न प्रयोजन से किया गया है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर पुरुष के विकार का प्रशमन करना है। इसके लिए आत्मा सत्व और इन्द्रिया से अधिष्ठित शरीर ही अभिप्रेत है। यही स्वास्थ्य रोग और चिकित्सा का विषय है। स्वास्थ्य की रक्षा एव रोगो के उपशमन के लिए आयुर्वेद मे आत्मा रहित शरीर सत्व और इन्द्रियो का कोई महत्व नही है। इसी भाँति शरीर सत्व और इन्द्रिया से रहित आत्मा का भी कोई महत्व नही है। क्योकि केवल आत्मा या केवल शरीर का रोगग्रस्त होना सभव नही है। अत उसकी चिकित्सा का भी प्रश्न नही उठता। यद्यपि आयुर्वेद म आत्मा की मुक्ति या कर्म बन्धन से छुटकारे अथवा जन्म मरण से छुटकारे का भी वणन है किन्तु वह प्रसगवश एव गौण रूप से है। मुख्य रूप से आत्मा युक्त शरीर की चिकित्सा करना या उसे रोग मुक्त करना ही उद्देश्य है। इसी लिए आयुर्वेद मे मोक्ष को विशेष महत्व न देकर धर्म अर्थ और काम को ही विशेष महत्व दिया गया है। क्योकि इह लौकिक जन्म मे सशरीर आत्मा के लिए ये तीन ही साध्य हैं। इन समस्त कारणो से आयुर्वेद मे आत्मा को पुरुष शब्द से व्यवहृत किया गया है। पुरुष शब्द अपने आप मे परिपूर्ण एव सार्थक शब्द है। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार **पुरि शरीरे शेते वसति इति पुरुष** अर्थात् जो शरीर मे निवास करता है वह पुरुष है। आयुर्वेदाभिमत आत्मा के लिए यह शब्द अत्यन्त उपयोगी महत्वपूर्ण एव सार्थक है। आयुर्वेद मे आत्मा या पुरुष के तीन प्रकार स्वीकृत किए गए हैं। अर्थात उसके तीन स्वरूप होते हैं—१—परम आत्मा या परम पुरुष २—आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) युक्त आत्मा ३—स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष।

१—परम आत्मा या परम पुरुष

निर्विकार परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियै ।
चैतन्ये कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रिया ॥
—चरक संहिता सूत्रस्थान १/५६

परम आत्मा निर्विकार होता है। वही आत्मा जब सत्व (मन) भूत (पंच महाभूत) गुण (महाभूतो के गुण शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध या सत्व रज-तम) और दस इन्द्रियो से युक्त होता है तब वह चैतन्य (शरीर को चेतनता प्रदान करने और ज्ञान प्राप्त करने) मे कारण होता है। वह आत्मा नित्य है समस्त चराचर जगत का दर्शक है और क्रियाओ को देखता है।

आत्मा शब्द का व्यवहार सामान्यत परमात्मा एव जीवात्मा दोनो के लिए किया जाता है। यहाँ निर्मल शुद्ध स्वरूपवान् आत्मा ही परमात्मा शब्द से अभिप्रेत है। यह परमात्मा स्वभावत निर्विकार होता है। निर्विकार का अर्थ है निर्दोष अर्थात विकार रहित या दोष रहित। विकार का अभिप्राय यहा षड् विकारो से है। यथा जन्म मरण अस्तित्व विपरीत परिणाम वृद्धि और क्षय। आत्मा इन छ प्रकार के विकारो से रहित होता है अत निर्विकार माना गया है। निर्विकार का अभिप्राय निर्दोष भी होता है। राग-द्वेष आदि द्वन्द्व भाव दोष कहलाते है। इन राग-द्वेष आदि प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्वो से रहित होने के कारण उसे निर्दोष भी कहा जा सकता है।

यह परम आत्मा ज्ञानवान् चैतन्यवान् दृष्टा और नित्य होता है। यह अद्वितीय एक और जन्म-मरण से रहित होता है। इसकी कभी उत्पत्ति नही होने से अनादि तथा कभी अन्त (विनाश) नही होने से अनन्त होता है। यह परम आत्मा अतीन्द्रिय और व्यापक है। यह किसी लक्षण से वेद्य नही हैं क्योकि किसी वैशिष्टय युक्त वस्तु का ही किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्रहण सम्भव है किन्तु आत्मा तो निर्विशेष है। अत॰ वह किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्राह्य नही है। यह चैतन्यवान् ज्ञानरूप परमात्म तत्व सत्वरूप उपाधि वैशिष्टय से युक्त होकर जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण बनता है तथा विविध देव तिर्यञ्च मनुष्य आदि योनियो को प्राप्त कर स्वपूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार शरीर को धारण कर इतस्तत॰ भ्रमित होता है। जब वह आत्मा एतद्विध शरीरो को धारण करता है तो वह परमात्मा रूप न होकर जीवात्मा शब्द से व्यवहृत एव बोधित होता है।

आत्मा नित्य होता है किन्तु तदाश्रित ज्ञान अनित्य होता है। यदि यह शका की जाय कि आत्मा का गुण ज्ञान जब अनित्य होता है तो उस ज्ञान गुण का अधिकरण गुणी आत्मा भी अनित्य है। किन्तु यह ठीक नही है क्योकि शब्द गुण के अनित्य होते

हुए भी उसका आश्रय गुणी (धर्मी) आकाश अनित्य नहीं होता। अत. आत्मा नित्य होता है। उसमें स्वभावत उत्पत्ति और विनाश का अभाव होने से उसका नित्यत्व स्वत सिद्ध है। इसी लिए जन्म धारण करने के अनन्तर अनुभूतिजन्य विषयों का यह आगामी जन्मान्तर मे अनुसधान करता है जिससे वह नवजन्म में प्राप्त अज्ञात विषयो को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। जैसे बालक का जन्म होने के पश्चात् माताएं बालक का मुख अपने स्तन मे लगाती हैं। बालक का मुख स्तन में लगने पर वह स्वत ही स्तन को चूसने लगता है और उसमें से स्रवित होने वाले दूध को पीने लगता है। इसके लिए बच्चे को शिक्षा देने की आवश्यकता नही पडती और वह बिना शिक्षा दिए ही स्तन आचषण एव दुग्धपान प्रारम्भ कर देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस बच्चे ने जब इससे पूर्व जन्म धारण किया था तब भी इसी भांति माता के स्तन का आचूषण एव दुग्धपान किया था। उसी अनुभव के आधार पर वह आगामी जन्मान्तर मे भी उसी भाति की क्रिया करता है। यह पूर्वजन्म कृत सस्कार कहलाता है। यदि आत्मा को अनित्य मान लिया जाय तो उसे पूर्व जन्म मे अनुभूत विषयो का स्मरण नही होगा। उस स्मृति के अभाव मे बालक की दुग्धपान की स्वत प्रवृत्ति एव स्वसम्पादित क्रिया का होना सम्भव नहीं है। क्योकि उसमे शिक्षा का अभाव है। अत इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है।

आत्मा को दृष्टा बतलाया गया है। दृष्टा का सामान्य अर्थ होता है देखने वाला। अभिप्राय यह है कि चैतन्यवान् और ज्ञानवान् आत्मा ससार के समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायो को सर्वविध रूपेण जानता व देखता है। जिस प्रकार कोई योगी या आप्त पुरुष जिसने राग-द्वेष आदि भावो से मुक्त होकर वैराग्य धारण कर लिया है तथा निर्लिप्त भाव से ससार मे स्थित है, तटस्थ भावेन वह ससार की समस्त वस्तुओ का अपने ज्ञान चक्षुओ द्वारा अवलोकन करता है। राग-द्वेष आदि भाव नहीं होने के कारण वह न किसी के प्रति अनुरक्त रहता है और न किसी से घृणा करता है किन्तु सामान्य रूप से निर्लिप्त भावेन वह सभी को जानता व देखता है। वस्तुओ के एतद्विध दर्शन में उसे न सुखानुभूति होती है और न दुखानुभूति। उसी भांति आत्मा भी ससार की समस्त वस्तुओ को देखता है। इसीलिए आत्मा के लिए दृष्टा विशेषण का प्रयोग किया गया है। ससार के समस्त द्रव्यो के प्रति समत्व दृष्टि रखने के कारण वह दृष्टा आत्मा ही परमात्मा कहलाता है। यह परमात्मा सत्व और शरीर से पृथक होने पर भी सत्व तथा शरीर के सम्पर्क मे आता है और राशि पुरुष में चैतन्य का कारण बनता है। तब वही एक परमात्मा जीवात्मा सज्ञा का धारक बन जाता है और जीवात्मा संज्ञा से व्यवहृत होता है। आत्मा की उपर्युक्त दोनों ही

अवस्थाओं (परमात्मा एवं जीवात्मा) में चैतन्य की स्थिति प्रत्यात्मनियत लक्षण के रूप मे होती है। सामान्यत चेतनस्य भाव चैतन्यम अर्थात चेतन का भाव ही चैतन्य अथवा चेतनता कहलाती है। यह चेतना यद्यपि स्वय प्रकाशरूपा है किन्तु पर प्रकाशिनीय है। सत्वादि के योग से आत्मगत चेतनता प्रकाशित होती है। जैसे राशि पुरुष मे प्राणापानोन्मेषनिमेष आदि लक्षणो की अभिव्यक्ति तब ही होती है जब वह राशिपुरुषगत आत्मा शरीरगत मन इन्द्रिय तथा महाभूतो के गुण शब्द आदि विषयो के सम्पर्क मे आता है। तब चेतना का प्रकाश तथा उससे भौतिक विषयो की ज्ञानोपलब्धि होती है। इस प्रकार आत्माश्रित इन्द्रिय द्वारा विषयो के सन्निकर्ष से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह आत्म स्वरूप भूत ज्ञान से भिन्न है। क्योकि इस ज्ञान मे प्रथम आत्मा का मन के साथ सयोग होता है तदनन्तर आत्मसयुक्त मन का इन्द्रियो के साथ और मन सयुक्त इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सयोग होता है। इसके पश्चात ज्ञान की समुत्पत्ति होती है। भौतिक विषयो के ज्ञान का यही समुत्पत्ति क्रम है। ये मन और इन्द्रिय जड होने के कारण विषयो मे स्वत प्रवृत्त नही हो सकते। किन्तु आत्मा के सयोग और तज्जनित प्रेरणा से प्रवृत्त होते है। इस प्रकार आत्मा द्वारा विषयो मे प्रेरित किए गए मन और इन्द्रियाँ आत्माधिष्ठित या आत्माश्रित कहलाती हैं।

उपयुक्त रूप से आत्माश्रित हुई चक्षु आदि इन्द्रियो का प्रत्येक रूप आदि विषयो के साथ सयुक्त सयुक्त समवाय सयुक्तसमवेत समवाय आदि सन्निकर्ष द्वारा विषयो का जो ग्रहण व ज्ञान होता है वह जन्य (उत्पत्तिशील) होने से आत्मा के स्वरूप ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है। अर्थात नित्य आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है और जन्य ज्ञान वाला होने के कारण जीवात्मा चेतन नही किन्तु चिद्रूप होने से चेतन और जन्य ज्ञान का साक्षी या द्रष्टा है। इस अभिप्राय से उपयुक्त श्लोक मे आत्मा का द्रष्टा अर्थात समस्त क्रियाओ को देखने वाला कहा गया है।

> ज्ञ साक्षीत्युच्यते नाज्ञ साक्षी त्वात्मा यत स्मृत ।
> सर्व भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिका ॥
> —चरकसंहिता शारीर स्थान १ ८३

जो (ज्ञ) ज्ञाता अर्थात जानने वाला होता है वही साक्षी होता है अज्ञ (अज्ञानी) नही। आत्मा ही ज्ञ अर्थात ज्ञाता या जानने वाला है। अत आत्मा को ही साक्षी माना जाता है। समस्त महाभूतो के समस्तभाव (कार्य) आत्मा की साक्षी मे ही होते हैं।

ऊपर आत्मा के लिए द्रष्टा विशेषण का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर उसी आत्मा को द्रष्टा होने के कारण साक्षी बतलाया गया है। वस्तुत जो द्रष्टा होगा

वही साक्षी बन सकता है, अन्य नहीं। सामान्य अर्थ मे साक्षी गवाह को कहा जाता है। आत्मा को भी इसी रूप मे साक्षी कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है—'साक्षीभूतस्य कस्याय कर्ता ह्यन्यो न विद्यते?' अर्थात् जब आत्मा के पूर्व कोई वस्तु नही है तब यह गवाह किसका है? इसी प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त श्लोक मे दिया गया है। बतलाया गया है कि काय के पूर्व जो सदा वर्तमान रहता है, वह होने वाले काय स्वरूप महाभूतो का साक्षी (गवाह) तो होगा ही। क्योकि वह सभा की उत्पत्ति को देखता है। आयुर्वेद के मतानुसार 'खादयश्चेतना षष्ठा धातव पुरुष स्मृत' से पच महाभूत और आत्मा के सयोग को पुरुष कहते हैं। अत महाभूतो के समस्त काय आत्मा के साक्षित्व मे ही सम्पादित होते हैं। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष के चतुर्विंशति तत्वो मे महदादि भाव आत्मा की साक्षी मे ही होते हैं। इस प्रकार ससार के समस्त भावो की उत्पत्ति आत्म साक्षी पूवक मानी गई है। अत आत्मा को साक्षी कहा गया है।

एतद्विध रूपण आत्मा के लिए दृष्टा ज्ञ साक्षी आदि विशेषणो का प्रयोग किया गया है जो साथक रूप मे प्रयुक्त होने से तद्वाचक पर्याय के रूप म व्यवहृत होते हैं। आत्मा के इन पर्यायवाचक शब्दो द्वारा आत्मा मे ज्ञान के नित्य अस्तित्व का बोध होता है। यहा यह स्मरणीय है कि आत्मा मे रहने वाला नित्य ज्ञान उस ज्ञान से सवथा भिन्न है जो आत्मा का सयोग होने पर मन और इन्द्रिय के द्वारा समुत्पन्न होता है। क्योकि इन्द्रिय और मानस जन्य ज्ञान समुत्पत्तिशील है तथा भौतिक साधनो एव विषयो से सम्बन्धित है अत अनित्य होता है। इसके विपरीत आत्म स्वरूपभूत ज्ञान जो आत्मा मे सवदा विद्यमान रहता है पुन पुन उत्पत्तिशील नहीं होने से नित्य एव शाश्वत होता है। आत्मा उस शाश्वत नित्य ज्ञान का आश्रय या अधिकरण है।

अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञ शाश्वतो विभुरव्यय ।

—चरक सहिता शारीरस्थान १/६१

वह आत्मा (परमात्मा) अव्यक्त क्षेत्रज्ञ शाश्वत विभु और अव्यय होता है।

आयुर्वेद मे अव्यक्त शब्द का व्यवहार आत्मा (परमात्मा) अथवा प्रकृति पुरुष के लिए किया जाता है। वैशेषिक दशन के अनुसार प्रकृति-पुरुष का सयुक्त स्वरूप ही अव्यक्त कहलाता है और वह अव्यक्त ही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। साख्य शास्त्र मे केवल प्रकृति को ही सृष्टि का कारण माना गया है और वह प्रकृति ही अव्यक्त पद वाच्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त जहां आत्मा के नित्यत्वानित्यत्व (स नित्य किमनित्यो निर्वाचित) का प्रश्न उत्पन्न होता है वहां अव्यक्त पद से केवल आत्मा का ही ग्रहण होता है और व्यक्त पद से राशि पुरुष लिया जाता है। अव्यक्त पुरुष

नित्य और व्यक्त राशि पुरुष अनित्य होता है । व्यक्त राशि पुरुष का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होता है और अव्यक्त पुरुष परमात्मा का केवल लिंग अर्थात् लक्षण या अनुमान के द्वारा ही ज्ञान किया जा सकता है । वह अतीन्द्रिय होने से भौतिक इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नही है । महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

व्यक्तमैन्द्रियक चैव गृह्यते तदिन्द्रियै ।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्त लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम ॥

—चरक सहिता शारीर स्थान १/६२

अर्थात् जिसका इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किया जाता है वह व्यक्त और ऐन्द्रियक होता है । इससे भिन्न जो होता है वह अव्यक्त कहलाता है । अव्यक्त अतीन्द्रिय होता है और केवल लिंग (लक्षण या अनुमान) के द्वारा ही वह ग्राह्य होता है ।

प्रस्तुत प्रकरण मे अव्यक्त पद का प्रयोग परमा मा के लिए ही किया गया है क्योकि वह इ द्रियातीत (अतीन्द्रिय) इ द्रियागोचर (इ द्रियो द्वारा अग्राह्य) और इ द्रियो के द्वारा अज्ञ य है । वह परमात्मा प्रकृति तथा उससे उत्पन्न द्रव्य जि हे क्षेत्र कहा जाता है उनका ज्ञाता होने से क्षत्रज्ञ कहलाता है । वह त्पत्ति और विनाश से रहित है अनादि निधन है अत शाश्वत माना जाता है । वह सर्वगत एव सर्वत्र व्यापक होने से विभु कहलाता है तथा उसका कभी ह्रास या क्षय (व्यय) नही होता । अत वह अव्यय होता है । इस प्रकार परम पुरुष या परम आत्मा अव्यक्त क्ष त्रज्ञ शाश्वत विभु अव्यय आदि विशेषणो से युक्त होता है ।

अनादि पुरुषो नित्य । — **चरक सहिता शारीरस्थान** १/५९
प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मन । **चरक सहिता शारीरस्थान** १/५३
विभत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान । **चरक सहिता शारीर स्थान** १/

आत्मा सम्ब धी इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चका है कि परम पुरुष या परमा मा आदि (उत्पत्ति) और अ त (विनाश) से रहित होने से अनाद्यनन्त है और अनाद्यनन्त होने से नित्य या शाश्वत है । वह सर्वगत और महान् होने से उसमे व्यापकत्व है ।

२ आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा

आयुर्वेद मे आतिवाहिक पुरुष या सक्ष्म शरीर युक्त आत्मा को लिंग शरीर धारक आत्मा भी कहा गया है । आयुर्वेद मे लिंग शरीर की कल्पना सर्वथा मौलिक है । अन्य दशनो मे आ मा के एतद्विध स्वरूप का विवेचन समुपलब्ध नहीं है । आत्म तत्व के जिज्ञासु महर्षियो के अन्त करण मे जब यह प्रश्न जिज्ञासा के रूप मे समुद्भूत हुआ कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे कैसे प्रवेश करता है ? (**देहात कथं देहमुपैति चान्यमात्मा**) तब उन्होने समाधिस्थ होकर अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा इस तथ्य का अवलोकन किया कि भौतिक शरीर के पचत्व प्राप्ति के अनन्तर आत्मा अपने लिंग

(सूक्ष्म) शरीर के साथ शरीर के बाहर निकलता है और जन्म के समय इसी लिंग (सूक्ष्म) शरीर के साथ संयुक्त होकर नवीन शरीर (गर्भ) में प्रवेश करता है। यह लिंग शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अत भौतिक चक्षुओं के द्वारा यह दिखलाई नहीं पड़ता। केवल दिव्य दृष्टि के द्वारा ही उसका स्वरूप दर्शन सम्भव है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर युक्त आत्मा ही आतिवाहिक पुरुष संज्ञा से अभिप्रेत है।

परमात्मा के प्रकरण मे इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है कि आत्मा ही विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है। यद्यपि परम आत्म तत्व एक विभु और शाश्वत है, किन्तु प्रति शरीर की दृष्टि से ये आत्माएं असंख्य हैं। प्रलय काल में समस्त आत्माए परम आत्म तत्व मे विलीन हो जाती हैं। प्रलय काल समाप्त होने पर नवीन सृष्टि के प्रारम्भ मे प्रत्येक आत्मा को एक एक लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) प्राप्त होता है। आत्मा के साथ इस शरीर का सयोग अगला प्रलय काल आने तक रहता है। प्रलय काल आने पर इस लिंग शरीर का विनाश हो जाता है। सृष्टि चक्र मे इस सक्ष्म शरीर युक्त आत्मा का ही मृत्यु के समय एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह मे प्रवेश होता है। एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह मे लिंग शरीर युक्त आत्मा के प्रवेश का मुख्य कारण यह है कि आत्मा लिंग शरीर के साथ साथ मन से भी युक्त रहता है। उस मन मे जन्म जन्मान्तरो की अनेक वासनायें निहित होती हैं। उन्हीं वासनाओ के वशीभूत होकर आत्मा मानस जनित व्यापार के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर मे आता जाता रहता है। माता और पिता (रज और शुक्र) के सयोग से प्राप्त शरीर को आत्मा जब तक उपभोग के योग्य समझता है तब तक वह उसे धारण किए रहता है और ज्यों ही स्थूल शरीर निरुपभोग्य हुआ त्यो ही आत्मा उस शरीर को छोडकर अन्य शरीर को धारण कर लेता है। इस सिद्धान्त को वस्त्रो के उदाहरण से भलीभांति समझा जा सकता है। अर्थात् मनुष्य नवीन वस्त्रो को धारण करता है और पुराने वस्त्रो को फैंक देता है। मनुष्य जिन वस्त्रो को धारण करता है वे जब तक उसके उपभोग के योग्य (धारण करने योग्य) होते हैं तब तक वह उन्हे धारण करता है किन्तु जब वे वस्त्र फट जाते हैं और मनुष्य उन्हे उपभोग के योग्य नहीं समझता तो वह उन्हें उतार कर फैंक देता हैं। उनके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। इसी भांति यह आत्मा भी निरुपभोग्य शरीर का त्यागकर उपभोग के योग्य नवीन शरीर को धारण कर लेता है।[1] जब आत्मा निरुपभोग्य पुराने शरीर का परित्याग करता

---

१ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
श्री मद् भगवद् गीता

है तो वह शरीर से अकेला ही नहीं निकलता है अपितु उसके साथ कुछ न कुछ बन्धन अवश्य रहता है। वह है स्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का बन्धन। शरीर और मन के माध्यम से आत्मा विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है। पश्चात उन कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुन अन्य शरीर को धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जिस शरीर को वह धारण करता है उसमे वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फलोपभोग एव नवीन कर्मों को अर्जित करता है। इस प्रकार यह क्रम सतत चलता रहता है और कर्म बन्धन के वशीभूत आत्मा जन्म मरण क द्वारा नवीन शरीर को धारण और पूर्व देह का त्याग करता रहता है। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। आत्मा को इस जन्म मरण क चक्कर मे और विविध योनियो मे उसके परिभ्रमण से मुक्ति तब मिल सकती है जब वह समस्त कर्म-बधन से मुक्त हो। कर्म बधन से मुक्ति कवल तपश्चरण के द्वारा कर्मों की निर्जरा (क्षय) से ही सम्भव है।

आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश का उल्लेख आयुर्वद मे स्पष्ट रूप से किया गया है। निम्न श्लोक द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

भूतैश्चतुर्भि सहित सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्य दिव्य बिना दर्शनमस्ति रूपम॥

—चरक संहिता शारीर स्थान २/३१

अर्थात मनोजव (मन क वेग से गमन करने वाला) आत्मा आकाश को छोड कर शेष चार महाभूतो के साथ मृत देह से निकल कर पुन नूतन शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीर्ण देह का त्याग करना और नूतन देह को प्राप्त करना आत्मा का यह कार्य पूर्वजन्मकृत कर्म क अनुसार होता है। आत्मा जब नवीन शरीर मे प्रवेश करता है तब उसका रूप दिखलाई नही पडता। किन्तु जिन लोगो को तपश्च रण अथवा योग द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे लोग ही आत्मा क एतद्विध रूप को देखने मे समर्थ हैं।

यद्यपि आत्मा को निष्क्रिय माना जाता है किन्तु मन क सयोग से किए गए शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनक परिणाम का उपभोक्ता आत्मा ही है। अत शुभा शुभ कर्मों क वशीभूत आत्मा स्पर्शतन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा इन अतीन्द्रिय सूक्ष्म चार महाभूतो और मन क साथ सयुक्त होकर नाना योनियो मे गमन करता है।

आत्मा को नानाविध योनियो म गमन कराने वाला मन ही होता है। आकाश क्रियाशून्य है। उसमे अवकाश प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य क्रिया का अभाव है। अत वह गमन क्रिया में आत्मा क साथ गर्भाशय म नही जाता है। इसके अतिरिक्त

आकाश विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक होने के कारण पहले से ही वहां विद्यमान रहता है। अत केवल चार महाभूत ही सर्वदा (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय महाभूतो के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन बुद्धि अहँकार और सत्व रज तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं। सत्व गुण के उत्कर्ष से होने वाली मन की सात प्रकृतियां रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां तथा तमोगण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त वृत्तियो का समावेश भी इस सूक्ष्म शरीर मे होता है। यही सूक्ष्म शरीर लिंग शरीर या आतिवाहिक शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर का आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श सम्बन्ध होने से इसे 'स्पर्श शरीर' की सज्ञा भी दी गइ है। अन्य ग्रन्थो के अनुसार इस सूक्ष्म शरीर मे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियो के पाँच सूक्ष्म विषय या शब्द तन्मात्रा आदि पांच तन्मात्रा प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान ये पाच प्राण एक मन एक बुद्धि—इस प्रकार कुल मिलाकर १७ तत्व होते हैं। प्रलय आने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है— लयं गच्छति —अत यह लिंग शरीर कहलाता है।

> स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
> स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव॥
>
> —चरक संहिता शारीर स्थान २/३२

अर्थात लिंग शरीर से युक्त वह आत्मा सर्वत्र व्यापक समस्त शरीरो को धारण करने वाला विश्वकर्मा जगत रूप चेतना धातु अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) नित्ययुक (मन बुद्धि और इन्द्रियो से सदैव युक्त रहने वाला) तथा सानुशय (राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो से युक्त) होता है।

सूक्ष्म शरीर से युक्त वह आतिवाहिक आत्मा सर्वत्र गमनशील होने से 'सर्वग' (सर्वत्र गच्छतीति सर्वग) कहलाता है। समस्त भौतिक स्थूल शरीरो को अपने कर्मानुसार धारण करने से 'सर्वशरीरभृत्' कहलाता है। स्थूल शरीरो मे रहता हुआ वह आत्मा मन की सहायता से विभिन्न सांसारिक कर्मों को करता है, अत 'विश्वकर्मा' कहलाता है। यह आत्मा विविध योनियो में भ्रमित होता हुआ अन्यान्य मनुष्य पशु, पक्षी कीट पतंग आदि विश्व के विविध रूपों को धारण करता है अत 'विश्वरूप' कहलाता है। यह स्थूल शरीर को चेतना प्रदान करता है अत 'चेतना धातु' कहलाता है। भौतिक इन्द्रियों द्वारा इसका ग्रहण सम्भव नहीं है, अत 'अतीन्द्रिय' कहलाता है। यह सदैव (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) मन बुद्धि और इन्द्रियों से संयुक्त रहता है अत 'नित्ययुक' कहलाता है। राग-द्वेष सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से युक्त होने से इसे 'सानुशय'

कहते हैं। मन की सहायता से मनन करने विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन स्पर्शन आदि ज्ञान प्राप्त करने कर्मेन्द्रियों की सहायता से विविध कर्म करने एवं नए नए शरीरों का उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु कारण निमित्त कर्ता मन्ता वेदिता वेदयिता बोद्धा स्प्रष्टा दृष्टा घ्राता श्रोता रसयिता गन्ता साक्षी वक्ता प्राता ब्रह्मा बुद्धि का स्वामी क्षत्रज्ञ प्रभव और स्रष्टा कहा जाता है। अपने निर्माण के लिए भूतों का ग्रहण करने वाला होने से इसे ग्रहण भूतो के गुणो से युक्त होने से इसे 'गुणी' भूतो का अधिष्ठाता होने से भूतात्मा एव इन्द्रिय और मन का अधिष्ठाता होने से अ तरा मा कहते हैं। इस प्रकार एक ही आत्मा विभिन्न कारणो से भिन्न भिन्न सज्ञा वाचक होता है।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम ।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥

—चरक सहिता शारीर स्थान २/३७

अर्थ—जो चार महाभूत आ मा मे लीन होकर अर्थात आत्मा के साथ सयुक्त होकर गर्भ मे प्रविष्ट होते हैं वे कर्मज' कहलाते है। अर्थात् अपने द्वारा पूर्वज म मे उपार्जित शुभाशुभ कर्म के वशीभूत होकर गर्भ म प्रविष्ट होते हैं। यह बीजधर्मा (सूक्ष्म कारण भूत) आ मा चेतना धातु रूप आ मा मे जाती हुई विभिन्न शुभाशुभ शरीर म चली जाती है।

यहाँ बीजधर्मा से सूक्ष्म लिंग शरीर का ग्रहण किया गया है। यह बीजधर्मा कर्म के वशीभूत होकर ही चेतना धातु मे जब प्रविष्ट होता है तो तत्काल दूसरे शरीर मे चला जाता है। जब तक आत्मा मुक्त नहीं होता तब तक वह लिंग शरीर से युक्त रहता है। स्थूल शरीर को छोडने के बाद इसी लिंग शरीर स दूसरे नवीन शरीर मे प्रवेश करता है। जैसे सूक्ष्म बीज बड से बड वृक्ष को पैदा करता है व से ही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को उत्पन्न करता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन महर्षि सुश्रुत ने भी अपने निम्न वचन द्वारा किया है— **क्षत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता, द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुष स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता य कोऽसावित्येवमादिभि पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्ष सत्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाण गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।**

—सुश्रुत सहिता शारीर स्थान अ ३/४

महर्षियो के उपयु क्त वचनो से स्पष्ट है कि एक शरीर से अन्य शरीर मे सक्रमण करने वाला मूल द्रव्य लिंग शरीर है। स्त्री और पुरुष का सयोग होने पर सयोग (मैथुन) क्रिया द्वारा शुक्र और शोणित का सम्मूर्च्छन होता है। स्त्री के शरीर

(गर्भाशय) में उपर्युक्त प्रकार से शुक्र शोणित का संयोग होने पर अकरण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पूर्व शरीर (मृत शरीर) को छोड़कर उत्पन्न होने वाले नवीन गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है। वस्तुत यदि देखा जाय तो चैतन्यवान् आत्मा सर्व व्यापक है अत न तो वह किसी शरीर का त्याग करता है और न ही किसी शरीर में प्रवेश करता है। होता यह है कि सीमित (असर्व व्यापक) सूक्ष्म शरीर ही मन के द्वारा अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर का त्याग एव नवीन गर्भ शरीर में प्रवेश करता है। किन्तु आत्मा मन को भी चैतन्य प्रदान करता है अत मन का अधिष्ठाता होने से सर्वत्र आत्मा का ही व्यवहार किया जाता है। अर्थात् मृत्यु और जन्म के समय मन से सयुक्त लिंग शरीर के निष्क्रमण एव प्रवेश को आत्मा का ही निर्गमन एव प्रवेश कहा जाता है। इस प्रकार अलक्षित आत्मा मन और लिंग शरीर की सहायता से निरन्तर एक शरीर से अन्य शरीर मे ससरण किया करता है। यही 'मनोजव' कहलाता है। महर्षि चरक ने आत्मा के ससरण मे इसी मनोजव शब्द का प्रयोग किया है (देखिए चरक शारीर २/३१) आत्मा या लिंग शरीर की प्रक्रिया अर्थात् एक शरीर से अन्य शरीर मे संक्रमण उसके द्वारा पूर्वजन्म मे उपार्जित कर्मों के कारण होता है। लिंग शरीर एव मन से विमुक्त आत्मा इन समस्त सासारिक बन्धनो पुन पुन जन्म—मरण के कष्टो एवं ससार की विविध यातनाओ से मुक्त होकर अक्षय मोक्ष पद को प्राप्त करता है। जहा उसे अनन्त सुख की अनुभूति होती है।

३ राशि पुरुष या स्थूल चेतन शरीर

आयुर्वेद मे यही राशि पुरुष विभिन्न सज्ञाओ से व्यवहृत होता है। यथा सयोग पुरुष कर्म पुरुष चिकित्स्य पुरुष जीवात्मा राशि पुरुष आदि। आयुर्वेद मे चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष से यही राशि पुरुष अभिप्रेत है। आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य आतुर मनुष्यो की चिकित्सा करना है। चिकित्सा केवल शरीर की ही की जाती है। शरीर भी जब सचेतन होता है तब वह चिकित्सा के उपयुक्त होता है। चेतनता रहित अथवा अचेतन शरीर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त स्वीकार नही किया गया है। शरीर सचेतन तब होता है जब आत्मा के साथ उसका सयोग होता है। चेतना के बिना यह शरीर पच महाभूतो का समुदाय मात्र रह जाता है। इस प्रकार पच महाभूत एव आत्मा इन छः तत्वो के संयोग से जो यह सचेतन शरीर बनता है वही संयोग पुरुष कहलाता है। इस ही सयोग पुरुष अथवा सचेतन स्थूल शरीर की चिकित्सा की जाती है तथा यही शरीर चिकित्सा के योग्य होने से 'चिकित्स्य पुरुष' या 'कर्म पुरुष' कहलाता है। इस सयोग पुरुष में पृथ्वी जल तेज वायु आकाश और आत्मा इन छह धातुओं का सयोग होने से वह 'षड्धात्वात्मक पुरुष' भी कहलाता है।

चिकित्स्य पुरुष या कर्म पुरुष

सत्वमात्मा शरीर च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति सयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमाश्चेतन तच्च तच्चाधिकरण स्मृतम ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽय सप्रकाशित ॥

—चरकसहिता सूत्रस्थान १/४६ ४७

अथ-सत्व (मन) आत्मा (चेतना धातु) और शरीर (पांच भौतिक) इन तीनो के सयोग से त्रिदण्ड के समान यह लोक (पुरुष) स्थित है। उसी को पुमान् (पुरुष) कहा गया है। वह पुमान चेतन होता है और उसे उस चेतना का अधिकरण कहा गया है। उसी के लिए अथर्ववेद का उपवेद यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है।

यहा पर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष का लक्षण बतलाया गया है कि मन चेतना धातु एव पाँच महाभूतो के सयोग से जो **कर्म पुरुष** उत्पन्न होता है वही चिकित्सा के योग्य है और चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण आयुर्वेद का प्रकाशन उसी कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष के लिए किया गया है। जिस प्रकार किसी तिपाई की स्थिति उसके तीनो पायो की विद्यमानता मे ही होती है। एक भी पाये का अभाव होने पर तिपाई का निर्माण किसी प्रकार भी सभव नही है उसी प्रकार आत्मा मन और सेन्द्रिय भौतिक शरीर इन तीनो मे से किसी एक का भी अभाव होने पर आयुर्वेद सम्मत चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष का निर्माण सम्भव नही है। अत चिकित्स्य पुरुष की उत्पत्ति मे सत्व आत्मा और शरीर इन तीनो का सयोग नितान्त अपेक्षित है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्पूर्ण चिकित्सा इसी पुरुष के अधीन है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कर्म भी इसी पुरुष के अधीन हैं। अर्थात इस पुरुष के न होने पर किसी भी प्रकार का कर्म सम्पन्न होना सम्भव नही है तथा ससार के समस्त प्रकार के कर्म निष्प्रयोजन भूत हो जावेगे। अत यह कर्म पुरुष कहलाता है।

सयोग पुरुष अथवा षड् धात्वात्मक पुरुष

'खादयश्चेतना षष्ठा धातव पुरुष स्मृत

—चरक सहिता शारीरस्थान १/१५

अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष' इत्युच्यते।

—सुश्रुत सहिता शारीरस्थान १/२२

षड्धातव समुदिता पुरुष इति शब्द लभते तद्यथा-पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाश ब्रह्म चाव्यक्तमिति। एत एव च षड् धातव समुदिता पुरुष इति शब्द लभन्ते"

—चरक संहिता शारीरस्थान ५/४

अर्थ—आकाश आदि पाच महाभूत और छठी चतना धातु का सयोग ही पुरुष' कहलाता है। इस आयुर्वेद शास्त्र मे पाच महाभूत और आत्मा के संयोग को ही 'पुरुष' कहते हैं।

छह धातुए मिल कर पुरुष इस श द को प्राप्त करती हैं। जैसे पृथ्वी जल तेज वायु आकाश और अव्यक्त ब्रह्म (आत्मा) ये छह धातुए मिलकर ही पुरुष शब्द को प्राप्त होते हैं।

उपयु क्त छह धातुओ के सयोग से जिस पुरुष की उत्पत्ति होती है वह 'सयोग पुरुष अथवा षड धात्वात्मक पुरुष' कहलाता है। यह सयोग पुरुष ही आयुर्वेद सम्मत एव चिकित्सा शास्त्रोपयक्त स्वीकृत किया गया है। आयुर्वेद मे प्रतिपादित समस्त क्रियाए इसी सयोग पुरुष को लक्ष्य करके वर्णित की गई हैं। इस पुरुष की ही चिकित्सा की जाती है तथा यही पुरुष चिकित्सा कर्म फल का आश्रय है। प्रस्तुत प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि स व आ मा और शरीर का उपयु क्त प्रकार का सयोग जगम प्राणि मात्र मे पाया जाता है और इस लक्षण के अनुसार प्राणि मात्र पुरुष शब्द वाच्य है। तथापि चरक सुश्रुत आदि महर्षियो द्वारा उपदिष्ट आयुवद का निर्माण (अभिव्यक्ति) प्रमुख रूप से मनुष्य को ही लक्ष्य करके कि ा गया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के समस्त पदाथ मनुष्य उपकरण भूत हैं तथा मात्र उन्ही के लिए उनका निर्माण किया गया है। अत मनुष्य के लिए मनुष्यातिरिक्त समस्त पदाथ उसके उपकरण हैं और मनुष्य उन उपकरणो का उपकाय है। अत आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित सयोग पुरुष पुरुष या आत्मा शब्द से मनुष्य (नर-नारी) का ही ग्रहण होता है।

राशि पुरुष

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिक स्मृत ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्था प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१७

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधर परम ।
चतुर्विंशतिक इत्येष राशिपुरुष संज्ञक ॥

—चरक संहिता शारीरस्थान १/२४

अथ—पुन धातु भद से वह पुरुष चौबीस तत्वो वाला कहा गया है। जिसमे मन दस इन्द्रिया अथ (पच महाभूत) तथा अव्यक्त महान् अहकार और पच तन्मात्राए ये आठ प्रकृतियाँ सब मिलाकर चौबीस तत्व होते हैं। इसी प्रकार बुद्धि इन्द्रियाँ मन और अथ तथा इनके योग को धारण करने वाली आत्मा इन सबकी सयुक्त राशि के परिणाम स्वरूप जो पुरुष निर्मित होता है वह राशि पुरुष सज्ञक होता है।

यह राशि पुरुष पूर्वोक्त चिकित्स्य पुरुष कम पुरुष सयोग पुरुष तथा षड धात्वा मक परुष से भिन्न नही है अपितु उपयु क्त समस्त पुरुष एक ही है। उनमे केवल सज्ञा भिन्नता है। आयर्वेद म इसी पुरुष का स्थान स्थान पर भि न भिन्न सज्ञा द्वारा व्यवहार किए जाने के कारण यह भिन्नता प्रतीत होती है। किन्तु किसी भी सज्ञा का व्यवहार करने पर चिकि मा शास्त्राधिकृत एक ही पुरुष का बोध होता है। एक ही पुरुष की विभि न सज्ञाए होने का कारण यह भी है कि भिन्न भिन्न दशन शास्त्रो ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए उसका अलग अलग नामकरण कर दिया। जैसे वशेषिक दशन मे पुरुष शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है— आकाश वायु अग्नि जल और पथ्वी ये पाच महाभत अर्थात् इन से निर्मित इन्द्रियाँ तथा मन सूक्ष्म शरीर सहित आ मा (चतना धातु) इन छह धातुओ के समुदाय (सयोग) को पुरुष कहते हैं।

साँख्य दशन के मतानुसार तत्वा (धातुओ) का सयोग निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है — पाच ज्ञानेन्द्रिया पाच कमन्द्रिया मन पाच महाभूत मूल प्रकृति (अव्यक्त) महत्तत्व अहकार और पाँच त मात्राए इन चौबीस तत्वो की राशि का सयुक्त परिणाम पुरुष कहलाता है। यहा आ मा का भी प्रकृति के समान अव्यक्त रूप होने से प्रकृति शब्द से ही ग्रहण कर लिया गया है। इस प्रकार तत्वो से निर्मित परुष एक ही है। कही पर उसे तीन धातुआ का सयोग बतलाया गया है कहीं उसे षड धातुआ का सयोग बतलाया गया ह और कही उसे चौबीस तत्वो का सयोग माना गया है। पुरुष शब्द की इन अन्यान्य परिभाषाओ मे पुरुष के मूल घटक महाभूत आत्मा प्रकृति आदि तत्व पुरुष का धारण (निर्माण) करते हैं। अत वे धातु शब्द से व्यवहृत किए गए हैं। आचाय चक्रपाणिदत्त ने भी यही स्पष्टीकरण दिया है—

पुरुषधारणाद्धातु'—चरक सहिता शारीर स्थान १/३ पर चक्रपाणि टीका

इस पुरुष का निर्विकार रूप परम पुरुष (परम आत्मा) तथा आतिवाहिक पुरुष [सूक्ष्म शरीर युक्त आ मा] से पृथक बोध कराने के लिए इसे कर्म पुरुष चिकित्स्य

पुरुष संयोग पुरुष समुदाय पुरुष राशि पुरुष षड् धात्वात्मक अथवा चतुर्विंशतिक पुरुष कहते हैं। इनमें पूर्वोक्त पहले के दो पुरुष परम पुरुष एवं आतिवाहिक पुरुष न तो किसी प्रकार का कर्म कर सकते हैं न ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न ही किसी कर्म फल के अधिकारी हैं। इन दोनो पुरुषो में रोग के अधिष्ठानभूत भौतिक शरीर का अभाव होने से इनकी चिकित्सा भी सम्भव नहीं है। अत ये दोनो पुरुष चिकित्सा शास्त्राधिकृत एव चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त नही माने गए हैं। इन दोनो पुरुषो के अतिरिक्त सचेतन स्थूल शरीर समस्त प्रकार के कर्म कर सकता है, इसलिए उसे कर्म पुरुष कहा गया है। इस शरीर मे ही अनेकों प्रकार के रोग होते हैं। रोगोपशमन हेतु उसी सचेतन शरीर की चिकित्सा की जाती है। अत इसे 'चिकित्स्य पुरुष' कहा गया है। इसमे छह धातुओ का सयोग या समुदाय होने से यह 'सयोग पुरुष' 'समुदाय पुरुष' अथवा षड धात्वात्मक पुरुष कहा जाता है। यह चौबीस तत्वो की राशि से युक्त होने मे 'राशि पुरुष' अथवा चतुर्विंशतिक पुरुष कहलाता है। इस प्रकार यह एक ही सचेतन स्थल भौतिक शरीर युक्त पुरुष विभिन्न स्थिति के कारण भिन्न भिन्न सज्ञा को धारण करता है।

देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व

समस्त दर्शन शास्त्रो मे चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त यह तथ्य एक मत से स्वीकार किया गया है कि आत्मा का अस्तित्व सदव देहातिरिक्त रहा है। अर्थात् आत्मा और शरीर ये दोनो सदा भिन्न भिन्न माने गए हैं। स्थूल रूप से प्रत्यक्षत यह देखा गया है कि यह सचेतन शरीर जब आत्मा से शून्य हो जाता है तो शरीर की समस्त क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं और शरीर मृत हो जाता है। जब तक शरीर मे आत्मा का निवास रहता है तब तक ही शरीर जीवित माना जाता है। यदि देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो शरीर मे से आत्मा का निर्गमन होने अथवा शरीर के मृत होने के पश्चात भी शरीर के द्वारा क्रियाएं सम्पादित की जानी चाहिए तथा जब तक भौतिक स्थूल शरीर का विनाश नहीं कर दिया जाता अथवा उसे जला नही दिया जाता तब तक उसमें चेतना एवं अन्य क्रियाएं विद्यमान होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अत इससे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध हो जाता है। इ सके अतिरिक्त देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव निरूपण में निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं—

करणान्यान्यता दृष्टा कर्ता कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥
अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।

विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ।।
निमेषकालाद भावानां काल शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां च पुनर्भाव कृत नान्यमुपैति च ।।
मत तत्वविदामेतत यस्मात्तस्मात् स कारणम ।
क्रियोपभोग भताना नित्य पुरुष सज्ञक ।।

—चरक सहिता शारीस्थान १/४८-५१

अर्थ इन्द्रियो की अयान्यता स्पष्ट है । अर्थात ज्ञान के द्वारभत इन्द्रिया अनेक हैं— यह स्पष्ट है । किन्तु कर्त्ता तथा भाक्ता वही एक आत्मा है । इस प्रकार समस्त कर्मों का कारण करणो (इन्द्रियो) से युक्त कर्त्ता आत्मा ही है । अहकार कर्म कर्म फल देहान्तर गमन विगत भावो का स्मरण इन सब मे देह के अतिरिक्त कोई अन्य कारण है और वह कारण केवल आत्मा ही है । भावो के विनाश मे निमेष (पलक का झपकना) काल से भी शीघ्रतर काल कारण है । भग्न (टटे हुए स्थानो) का पुन सरोहण हो जाता है । एक व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्मों का फल कोई दूसरा नही भोगता । अत इन सब कारणो से तत्वविद विद्वानो का मत है कि प्राणियो के क्रियो पभोग मे वह आत्मा ही कारण है और वह आत्मा नित्य एव पुरुष सज्ञक है ।

उपर्युक्त प्रमाण के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । जो लोग शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं अथवा इन्द्रियो एव आत्मा का एकत्व प्रतिपादित करते है उनके मत का खडन उपयुक्त प्रमाण द्वारा किया गया है। देह एव आत्मा की अभिन्नता को कदापि स्वीकार नही किया जा सकता । क्योकि शरीर मे भग्न हुए अवयवो का सन्धान अथवा सरोहण क्रिया शरीर की सचेतनावस्था मे ही सम्भव है । मृत शरीर मे जब चेतना (आत्मा) का अभाव रहता है तब भग्न अवयवो का सन्धान या सरोहण सम्भव नही है । अत इससे स्पष्ट है कि शरीर से अतिरिक्त भी भिन्न कोई द्रव्य है जो उपयुक्त क्रियाविधि मे कारण है । वह द्रव्य केवल आत्मा ही है । इसके अतिरिक्त इन्द्रियो को भी आत्मा स्वीकार नही किया जा सकता । क्योकि इन्द्रिया स्वय ज्ञानरूप अथवा ज्ञान स्वभाव वाली नही हैं । ज्ञान स्वभाव वाला तो मात्र आत्मा ही है । इन्द्रियाँ तो ज्ञान के साधन हैं । वे आत्मा को ज्ञान कराने मे सहायक होती हैं । अर्थात् आत्मा को इन्द्रियो के माध्यम से ही ज्ञान होता है । किन्तु इन्द्रियाँ स्वय ज्ञानरूप नही हैं । क्योकि यह प्रत्यक्षत देखा जाता है कि किसी समय आत्मा को किसी इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त हुआ । कलान्तर मे किसी कारण वश उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर पूर्व समय मे उसके द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान एव आत्मा दोनो को भी नष्ट हो जाना चाहिए । किन्तु ऐसा नही होता । उस इन्द्रिय

के द्वारा पूर्वकाल में उपार्जित ज्ञान की स्मृति उस इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा को सतत बनी रहती है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ भौतिक (महाभूतों से समुत्पन्न) एवं नाशवान हैं जबकि आत्मा अनादि एवं अविनाशी है। अतः इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार नहीं किया सकता।

इस प्रकार आत्मा देह और इन्द्रियों से व्यतिरिक्त एक स्वतन्त्र द्रव्य है जो नित्य अव्यक्त क्षेत्रज्ञ विभु और अव्यय है। आयुर्वेद शास्त्र में वह 'पुरुष' शब्द द्वारा अभिहित एवं प्रतिपादित है।

आत्मा के लक्षण

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः॥

—चरकसंहिता शारीरस्थान अ० १/६९-७१

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।

—न्या० द० १।१।१

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।

—वै० द० ३।२।४

अर्थ—प्राण अपान निमेष उन्मेष जीवन मनोगति इन्द्रियान्तर संचार या इन्द्रियान्तर विकार प्रेरणा धारणा स्वप्न में देशान्तर गमन मरण दाहिनी आँख से देखे हुए विषय का बाईं आँख से ज्ञान इच्छा द्वेष सुख दुःख, प्रयत्न चेतना धैर्य बुद्धि स्मृति अहंकार ये सब परमात्मा के लक्षण हैं।

जो वायु नासिका के द्वारा श्वास रूप से ग्रहण की जाती है वह 'प्राणवायु' कहलाती है। शरीर के द्वारा प्राणवायु का ग्रहण तब ही होता है जब वह आत्मा से संयुक्त होता है। आत्मा विरहित शरीर उपर्युक्त प्राणवायु का ग्रहण करने में असमर्थ है। जो वायु नासिका के द्वारा ही निःश्वास के रूप में बाहर निकाली जाती है वह दूषित वायु शरीर के लिए अनुपयोगी एवं अहितकारी होती है। यही वायु 'अपान' कहलाती है। चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निःश्वास वायु को ही अपान वायु कहा है। यथा 'प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ'। आयुर्वेद में सामान्यतः अपान वायु

से शुक्र-पुरीष-मूत्र आदि को नीचे की ओर ले जाने वाली वायु अभिप्रेत है। प्रस्तुत प्रकरण में अपान वायु के दोनों अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। निमेष और उन्मेष नेत्र के पलक की क्रिया की ओर सकेत करते हैं। अर्थात् आँखों की पलक का बन्द होना 'निमेष' और पलक का खुलना उन्मेष कहलाता है। नेत्रो की यह निमेषोन्मेष क्रिया अनै च्छिक रूप से सम्पादित होती है। यह क्रिया तब ही सम्पादित होती है जब शरीर सचेतन होता है। अचेतन शरीर मे इस क्रियाद्वय का सवथा अभाव रहता है। अत इन्हें भी आत्मा का लक्षण माना गया है। एक निश्चित कालावधि तक शरीर को चैतन्य प्रदान करना जीवन कहलाता है। प्रत्येक सचेतन शरीर की एक निश्चित आयु रहती है। उस आयु की कालावधि तक शरीर मे आत्मा का निवास रहता है। जब तक शरीर मे आत्मा की स्थिति रहती है तब तक उसमे वृद्धि ह्रास व्रण रोपण आदि क्रियाए स्वत सम्पन्न होती रहती है। आत्मा के न रहने पर उपयुक्त समस्त क्रियाए अवरुद्ध हो जाती है। अत आत्मा का लक्षण जीवन' बतलाया गया है। मनो गति' आत्मा की स्थिति का ज्ञापक एक प्रमुख लक्षण है। स्वभावत मन गतिशील एवं चचल होता है। किन्तु भिन्न भिन्न विषयो के ज्ञानाजन हेतु आत्मा मन को तत्तत् इन्द्रियो मे नियोजित एव गतिशील रखता है। आत्मा द्वारा प्रदत्त चतय के अभाव मे मन स्वत निष्क्रिय एव गति शून्य हो जाता है। आत्म सयोग ही उसे गतिशील बनाए रखता है। अत मनोगति भी आत्मा के ज्ञापक लक्षणो मे से एक है। मन जब अन्यान्य विषयो का ग्रहण करने के लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियो से सयुक्त होकर तथा वहा से ज्ञान ग्रहण कर आत्मा को पहुँचाता है तब एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय में मन सचार का काय आत्मा अधिष्ठित होता है। क्योंकि आत्मा जिस विषय का ज्ञान उपलब्ध करना चाहता है वह उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन को तत्सम्बन्धी इन्द्रिय के साथ सयोजित करता है। इसी प्रकार वह मन को एक इन्द्रिय से हटा कर दूसरी इन्द्रिय के साथ नियोजित कर देता है। यही इन्द्रियान्तर संचार' कहलाता है जो पूर्णत आत्माधिष्ठित होता है। इन्द्रियो को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करना प्रेरणा कहलाता है। इन्द्रियों को यह प्रेरणा आत्मा के द्वारा ही प्राप्त होती है। आत्मा शरीर को धारण करता है अत वह धारण लक्षणात्मक होता है। स्वप्ना वस्था मे भिन्न भिन्न देशो की गति करना तथा शरीर से आत्मा के निकल जाने पर शरीर का पचत्व को प्राप्त करना अर्थात मृत्यु होना आत्मा का ही लक्षण है। दाहिनी आख से किसी वस्तु का ग्रहण करने पर बाई आंख द्वारा भी उसका ज्ञान होना आत्मा का ही लक्षण है। इस प्रकार विभिन्न लक्षणो के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव की पुष्टि होती है।

आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥

—चरक संहिता शारीरस्थान १/५३ ५४

अर्थ—आत्मा जानने वाला है । करणों (साधनों) के सयोग से उसे ज्ञान होता है । प्रस्तुत प्रकरण मे करण शब्द का अभिप्राय मन बुद्धि तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों से है । आत्मा का सयोग आवश्यकतानुसार जब इन कारणो से होता है तब उसे ज्ञान की प्रवृत्ति होती है । करणो की निर्मलता नहीं होने से अथवा आत्मा के साथ उनका विधिवत् सयोग नही होने से आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति नही होती । जैसे मलिन दर्पण मे देखने पर भी रूप का दर्शन नही होता तथा कलुषित जल मे प्रतिबिम्ब दिखलाई नही पडता उसी भाति मन बुद्धि तथा इन्द्रियो के विकृत होने पर अथवा आत्मा के साथ इनका अयोग होने पर आत्मा को ज्ञान नही होता है ।

न्याय भाष्य मे ज्ञानोत्पत्ति के उपयु क्त क्रम का वर्णन बडी सुन्दरता से किया गया है । यथा— आत्मा मनसा सयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम् । अर्थात् सर्व प्रथम आत्मा मन के साथ सयुक्त होता है मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय अपने विषय के साथ साथ सयुक्त होती है तब आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति होती है । ज्ञानोत्पत्ति के इस क्रम के अनुसार आत्मा का मन के साथ निकटतम सम्बन्ध रहता है । इन्द्रियो से आत्मा का सीधा सम्बन्ध नहीं होता अपितु मन के माध्यम से वे आत्मा से संयक्त होती हैं । मन का आत्मा के साथ भी सीधा सम्बन्ध रहता है और इन्द्रियों के साथ भी । इस प्रकार मन दोनों ओर से अनुबन्धित रहता है ।

यद्यपि इन्द्रियों के अभाव मे आत्मा को कायत्मिक ज्ञान का अभाव माना गया है । क्योंकि जो क्रिया जिन भावो के आधीन होती हैं उन भावो के अभाव मे उस क्रिया का होना असम्भव है । जिस प्रकार घट निर्माण कला में दक्ष कुलाल अनेक घटो का निर्माण कर सकता है तथापि मृत्तिका के अभाव मे वह घट नहीं बना सकता । ठीक इसी प्रकार करणो के अभाव मे आत्मा को बाह्य विषयो का ज्ञान कैसे हो सकता है ? किन्तु बाह्य ज्ञान के न होने से हम आत्मा मे ज्ञान का सार्वत्रिक (नितान्त) अभाव नही कह सकते । इन्द्रियों और चंचल मन को आत्मा के वशीभूत करके आत्मज्ञ पुरुष अपने अन्त ज्ञान में स्थिर हो जाते हैं । तब उनको इन्द्रिय और मन के बिना भी संसार के समस्त विषयों का ज्ञान होने लगता है ।

प्रस्तुत प्रसग मे एक शका यह उत्पन्न होती है कि जब आत्मा स्वय ज्ञानरूप है तथा समस्त पदार्थों का ज्ञाता है तब रात्रि मे निद्रावस्था मे उसे बाह्य विषयो का ज्ञान क्यो नही होता हैं ? मनुष्य जब सो जाता है तब क्या आत्मा भी सो जाता है ? इसका उत्तर महर्षि सुश्रुत ने बडे अच्छे ढग से दिया है—

करणानां तु व कल्य तमसाभिप्रवर्धते ।
अस्वपन्नपि भतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥

—सुश्रुत सहिता शारीरस्थान ४

अर्थात तमोगुण के कारण इन्द्रियो की विकलता होने पर इन्द्रियाँ और मन जब तमोगुण से आव त हो जाती हैं तब वे अपने विषयो को ग्रहण करने मे शिथिल या असमर्थ हो जाती है और मनुष्य मे निद्रा की प्रवृत्ति होती है। तब शरीर मन और न्द्रियो के साथ न सोया हुआ भी जीवात्मा सोया हुआ सा कहा जाता है। अर्थात केवल इन्द्रिया और मन ही सोते हैं आत्मा नही सोता। किन्तु जिस शरीर मे मन और इन्द्रियाँ है उसी शरीर मे स्थित होने क कारण ही वह आ मा न सोता हुआ भी उपचार वशात सोया हआ सा व्यवहारित होता है। आत्मा स्वय निर्विकार होने के कारुण उसक ऊपर न तो तम का प्रभाव पडता है और न उसमे निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है। किन्त व्यवहार मे यही कहा जाता है कि आत्मा सोता है। एक दृष्टि से ऐसा कहना उपयक्त भी है। क्योकि आत्मा जब अपने शभाशुभ कर्मों के वशीभत होकर इस शरीर म निबद्ध होता है तब वह ज्ञान प्राप्त करने क लिए पराश्रयी हो जाता है। अर्थात बिना मन और इन्द्रियो की सहायता क उसे ज्ञान प्राप्त नही होता। जब इन्द्रिया नही होती हैं तब आत्मा का ज्ञान की प्रवृत्ति नही होती है। इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं तब भी ठीक ठीक ज्ञान की प्रवृत्ति नही होती है। जब मन और इन्द्रिया तमोगण के द्वारा आवत होकर प्रसुप्त हो जाती है तब ज्ञान की अनुभूति नही होती और मन तथा इन्द्रियो के साथ आ मा भी प्रसुप्त की भाँति प्रतीत होता है। वस्तुत वह सोता नही है क्याकि निद्रावस्था मे जब इन्द्रिया समस्त व्यवहार वाणी एव चेष्टाओ से विहीन होकर निष्क्रिय पडी रहती है तब विभिन्न प्रकार क स्वप्ना की प्रवृत्ति होती है। उन स्वाप्निक विषयो का ज्ञान एव तज्जन्य सुख दुख का अनुभव आ मा को होता है जिसकी स्मृति जाग्रत हान पर भा बनी रहती है।

आत्मा की उत्पत्ति

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मन ।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मज ॥

—चरक सहिता शारीर स्थान १/५३

अर्थ—अनादि होने के कारण परमा मा की उत्पत्ति नही होती है किन्तु मोह इच्छा द्वेष और कर्म के अधीन राशि पुरुष उत्पन्न होता है।

परम आत्मा सदैव अविनाशी, अनन्त एवं अनादि होता है। अत उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष को उत्पत्तिमान् एवं नश्वर बतलाया गया है। राशि पुरुष को प्रत्येक जन्म के समय जो आयु प्राप्त होती है उसकी समाप्ति के पश्चात् उसका भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु तदन्तर्गत आत्मा का विनाश नहीं होता। क्योंकि भौतिक शरीर के माध्यम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुन नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। वह आत्मा जब भौतिक शरीर से विरहित हो जाता है तब वह राशि पुरुष सज्ञा विहीन रहता है। उस समय उसके साथ एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर होने से वह लिंग शरीर युक्त कहलाता है। लिंग शरीर से युक्त यह आत्मा एक भौतिक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है। जब वह किसी भौतिक शरीर को धारण करता है तब उसका जन्म और जब वह भौतिक शरीर का परित्याग करता है तब उसका मरण माना जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र सतत चलता रहता है। जन्म-मरण का यह चक्र अथवा लिंग शरीर युक्त जीवात्मा का एक योनि से अन्य योनि मे ससरण (गति) होने से ससार कहलाता है। इस ससार चक्र का मूल कारण रज और तम ये दो मानस दोष हैं। तमो गुण की अधिकता होने से पुरुष मे मोह अर्थात् अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। उस तम गुण की स्थिति मे वह ससार के पदार्थों को अपने सुख और दुख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उनके प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हे दुख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष (उनके परिहार की या उनसे बचने की इच्छा) उसके मन मे उदित होता है। एतद्विध अनुकूल विषयो मे इच्छा तथा प्रतिकूल विषयो मे द्वेष दोनो ही मोह के कारण उत्पन्न होते हैं।

इस मोह (इच्छा और द्वेष) ही के कारण पुरुष इष्ट विषयो की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तुओं के परिहार के लिए प्रवृत्ति या कर्म करता है। यह प्रवृत्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप होती है और अशुभ प्रवृत्ति अधर्मरूप। शुभ प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पुण्य का सचय तथा अशुभ प्रवृत्ति (अधर्म) के परिणाम स्वरूप पाप का सचय होता है। जिसका फल क्रमश सुख और दुख होता है। अर्थात् धर्म या पुण्य का फल सुख रूप मे तथा अधर्म या पाप का फल दुख रूप में मिलता है। इन सुख दुख रूप फलो को भोगने के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। इसीलिए शरीर को आत्मा का भोगायतन माना गया है— 'आत्मनो भोगायतन शरीर मतम्'। अर्थात् आत्मा अपने पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल का उपभोग करने के लिए जिस आयतन (साधन) का आश्रय लेता है उस आयतन (साधन) का नाम शरीर है। इस शरीर मे जब आत्मा प्रविष्ट हो जाता है तब वह राशि पुरुष कहलाता है।

आत्मा क्रमश एक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है तथा अनादि काल से चला आ रहा यह क्रम अनन्त काल पर्यन्त चलता रहेगा। उत्त रोत्तर शरीरो की प्राप्ति की यह परम्परा तब तक चलती रहेगी जब तक निर्मल सत्व गुण का उदय होकर वह रज और तम इन दोनो दोषो से मुक्त नहीं हो जाता। सत्व गुण का उद्र क होने पर उसे सम्यक तत्व ज्ञान (आ म ज्ञान) होता है तब वह सांसा रिक विषयों मे मोह का परित्याग कर देता है जिससे उसे सासारिक सुख प्राप्त करने की अभिलाषा नही रहती है। परिणामत इच्छा द्व ष के वशीभूत होकर वह कोई प्रवृत्ति नही करता। जिससे उसे किसी कम का बन्धन नही होता और कर्मबन्धन के अभाव मे वह उसका फल भोगने के लिए बलात शरीर धारण करने के लिए बाध्य नही होता है। इस प्रकार वह कम ब धन से रहित होकर अन त सुख की प्राप्ति क लिए मोक्ष गमन करता है। जहा से पुन वह कभी ससार मे लौटकर नही आता। यही उसका चरम लक्ष्य है।

□

मनो निरूपण

संसार के समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियों में मनुष्य का विशेष स्थान है। प्रायः सभी पंचेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में मन की अवस्थिति रहती है। मानव शरीर में तो मन की स्थिति उपयोगिता एवं महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का एक बार यदि विनाश हो जाय और मन अविकृत रूप से स्थिर हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है किन्तु उसकी समस्त इन्द्रियां स्वस्थ एवं प्राकृत हों और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाएं एवं समस्त इन्द्रिय व्यापार अवरुद्ध हो जायगा। वह व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव शरीर में मन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण द्रव्य है।

मन का महत्व एवं तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों की अपेक्षा दर्शन शास्त्र मे विशेष रूप से किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य मुख्य विषय विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व रहे हैं। आत्मा की भांति मन भी उन आध्यात्मिक तत्वों मे प्रमुख रहा है। अतः दर्शन शास्त्रों मे मन का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद यद्यपि एक चिकित्सा शास्त्र है तथा आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नही होना चाहिए। तथापि मन भी रोगाधिष्ठान होने से वह आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। इसी प्रकार मन का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण तथा जिस शरीर की चिकित्सा की जाती है उसे चैतन्य प्रदान करने वाला होने के कारण आत्मा भी आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त आत्मा और मन दोनों ही आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय हैं। इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने न्याय वैशेषिक एवं वेदान्त दर्शन से समानता रखने वाले विचार व्यक्त किए हैं। अतः मन के विवेचन में भी आयुर्वेद में उन दर्शनों के विचारों का अवलम्बन लिया गया है। आयुर्वेद में मन के विषय में जो चिन्तन धारा प्रवाहित है उसके अनुसार निम्न विवरण प्रस्तुत है।

शरीर मे मन का महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर मे सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित है। यद्यपि मन इन्द्रिय और शरीर को चैतन्य का प्रकाश आत्मा के द्वारा ही मिलता है। शरीर मे जब तक आत्मा का अनुप्रवेश नहीं होता तब तक शरीर, उसमें आश्रित मन इन्द्रियाँ और अन्यान्य हृदय आदि अवयव चेतना शून्य एवं क्रियाहीन होते हैं तथा आत्मा के संयोग से इनमें चेतनता एवं क्रियाशीलता आती है। किन्तु आत्मा की ज्ञानोत्पत्ति परम्परा में मन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। मन के अभाव में केवल इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होना

नितान्त असम्भव है। यद्यपि मन स्वयं एक इन्द्रिय है तथा अन्य इन्द्रियों की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से हुई है तथापि मन सामान्य इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा को जो ज्ञानोपलब्धि होती है उसका मुख्य साधन मन ही है। मन के अभाव में अथवा मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर में मन की स्थिति अन्तःकरण के रूप में है। अन्य ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियाँ बाह्य करण कहलाती हैं। मन की यह विशेषता है कि महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी वह अन्य इन्द्रियों की भांति स्थूलरूप नहीं है। इसलिए अन्य इन्द्रियों की भांति यह मन इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार शरीर में बाह्य इन्द्रियां दिखाई देती हैं उस प्रकार मन का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि बाह्य इन्द्रियों की भांति मन की स्थिति शरीर के बाह्य प्रदेश में नहीं है। शरीर के अन्दर अवस्थिति होने से उसे अन्तःकरण की संज्ञा दी गई है तथा बाह्य इन्द्रियों की भांति इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होने से उसे अतीन्द्रिय या इन्द्रियातीत कहा गया है।

मन का सामान्य अर्थ ज्ञान के योग में किया जाता है। जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है— **मन ज्ञाने बोधने वा धातु** अर्थात् मन् ज्ञाने धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है। जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार **मन्यते ज्ञायते बुध्यतेऽनेनेति मनः**।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार मन् धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार जिसके द्वारा जाना जाता है या ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा बोध होता है वह मन कहलाता है।

मन स्वतन्त्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। आत्मा और इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने पर ही मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन्द्रियां भी ज्ञान का साधन हैं। वे इन्द्रियां भी स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इन्द्रियों को ज्ञानोपलब्धि के लिए आत्मा के द्वारा चैतन्य एवं मन के द्वारा प्रेरणा मिलना आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में इन्द्रियां भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो इन्द्रियां ज्ञान प्राप्ति का साधन अवश्य हैं किन्तु मूलतः वे ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं। वे तो केवल विषयों का ग्रहण करने हेतु प्रवृत्त होती हैं। अथवा विषयों के साथ संयुक्त मात्र होती हैं। वस्तुओं का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। मन के अभाव में ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है। मन एक होता और ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं। अतः मन की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है केवल वही इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय का ग्रहण करती है और तदनन्तर मन के द्वारा उस

विषय का ज्ञान प्राप्त होता है । किन्तु जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होता है उस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होने पर भी वह इन्द्रिय उस विषय का ग्रहण नहीं कर पाती है । ऐसी स्थिति में उस विषय या वस्तु का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है । मन एक बार में केवल एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त होता है । अतः एक बार में केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ही अपने विषय के साथ संयोग एवं उस विषय का ग्रहण संभव है तथा मन को भी एक बार मे केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है । इस प्रकार मन जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है उस समय वह केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा उससे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करता है अन्य का नहीं ।

मन का लक्षण

मन सम्बन्धी उपर्युक्त निर्वचन से शरीर मे उसकी स्थिति उपयोगिता एवं महत्व का आभास मिल जाता है । शास्त्रो मे मन का जो लक्षण किया गया है उससे भी उपर्युक्त भाव ही ध्वनित होता है । महर्षि चरक ने मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ।।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते ।।

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१८ १६

अर्थ—ज्ञान का नहीं होना अथवा होना ही मन का लक्षण है । आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियो के विषय) क सन्निकर्ष होने पर मन का संयोग नहीं होने से ज्ञान नही होता तथा उपयुक्त आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सान्निध्य (सयोग) होने से ज्ञान होता है ।

आत्मा का चक्षु आदि इन्द्रियो और शब्द आदि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है । यह ज्ञान का होना या नहीं होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है । यही कारणान्तर मन है । यह मन जब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तो इन्द्रियां अपने रूप आदि विषयों को ग्रहण करने मे समर्थ होती हैं । अर्थात् मन के सान्निध्य से ज्ञान होता है और सान्निध्य नहीं होने से ज्ञान नहीं होता ।

शरीर मे त्रयोदश विध (तेरह प्रकार के) करण होते हैं । इन तेरह करणों को दो भागो में विभाजित किया गया है—बाह्य करण और अन्तःकरण । इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, स्पर्शन चक्षु रसना और घ्राण) और पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त पाद, गुद, उपस्थ और वाक) इन दस इन्द्रियों की गणना बाह्य करण में की जाती है तथा मन बुद्धि

और अहंकार की गणना अन्त करण में की जाती है। इस तेरह ही करणों में मन प्रधान है। वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो का सहायक होने से उभयेन्द्रिय माना जाता है। सांख्य दशन की दृष्टि से मन की उत्पत्ति अहंकार से होने के कारण वह अहकारिक माना गया है किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार अन्य द्रव्यो (इन्द्रियों) की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतो से होने के कारण वह भौतिक होता है। दोनो ही दृष्टि से अहकारिक होने पर अथवा भौतिक होने पर मन की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति (अव्यक्त) होती है। अत उस प्रकृति मे विद्यमान तीन गुण सत्त्व रज-तम मन मे भी होते हैं। तदनुसार तीनो गुणो के अनुरूप सत्व से ज्ञान रज से प्रवृत्ति और तम से अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन मे दृष्टिगोचर होते हैं। इनमे जिस गुण की अधिकता से जो ज्ञान आदि लक्षण मन मे उत्पन्न होते हैं उसी गुण के आधार पर उस मन को अथवा उस मन के अधिष्ठाता को सात्विक राजस या तामस कहा जाता है। मन के इन गुणो की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव के द्वारा भी होती है। अत उसकी प्रकृति का निर्धारण इन्ही मानसिक गुणो के आधार पर किया जाता है। जसे सात्विक प्रकृति राजसी प्रकृति तामसी प्रकृति।

मन को ज्ञान सुख-दुख आदि का साधन माना गया है। अत अन्य कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है –

सुखादिसाक्षात्कारस्य कारण मन उच्यते।
अस्पर्शमणु चानन्त प्रत्यात्मनियतस्वत ॥

अर्थात मन को सुख आदि के साक्षात्कार का कारण भी कहा गया है। मन स्पर्श रहित और अणु परिमाण वाला होता है। प्रत्येक शरीरस्थ आत्मा के साथ भिन्न भिन्न मन का सयोग होने से मन अनन्त (अपरिसख्येय) होते हैं।

वैशेषिक दशन मन का निम्न लक्षण प्रति पादित किया गया है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम ॥

—वैशेषिक दर्शन ६/२/१

अर्थात्—आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियो के विषय शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध) का सन्निकर्ष होने पर जिस वस्तु का सयोग होने से ज्ञान होता है तथा जिसका सयोग नही होने से ज्ञान नहीं होता वहवस्तु ही मन है—

आत्मन करणभूतानामिन्द्रियाणां अर्थानामिन्द्रियाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते। तेन इन्द्री ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तर सूचयतः यच्च तदेव मन ।

इसके अतिरिक्त मन का एक भिन्न लक्षण और भी किया गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" —न्याय दर्शन १/१/१६

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होना ही मन का लक्षण है।

एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन" —तर्क संग्रह

अर्थात् सुख-दुख आदि की अनुभूति की साधन रूप इन्द्रिय ही मन है। अथवा जिस इन्द्रिय से सुख-दुख आदि का अनुभव होता है वह इन्द्रिय ही मन कहलाती है।

शरीर में मन के अस्तित्व को सवथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर के लिए मन एक अत्यावश्यक द्रव्य है। इसकी उपयोगिता ज्ञान श्रृंखला के लिए विशेष रूप से है। अत ज्ञानोत्पत्ति का काय मन का अस्तित्व मानने से ही सम्पूर्ण होता है। यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नही किया जाय तो इस प्रश्न का समाधान कर पाना असम्भव होगा कि ज्ञानोत्पत्ति किस क्रम से होती है? मन के अभाव मे ज्ञानोत्पत्ति का होना नितान्त असम्भव है। ज्ञानोत्पत्ति क्रम में यदि केवल आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रियो के विषय को ही कारण माना जाय तो इतने मात्र से निर्वाह होना सम्भव नही है। क्योकि केवल उपर्युक्त कारणो का सयोग ज्ञानोत्पत्ति के लिए पर्याप्त नही है। इन कारणो के अतिरिक्त एक अन्य कारण और होता है जिसका सयोग होने पर ज्ञान होता है तथा उसका सयोग नहीं होने पर ज्ञान नही होता। वह अतिरिक्त कारण मन ही है।

इसके अतिरिक्त यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नही किया जाय तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने क कारण आत्मा का इन्द्रियो क साथ सदा सयोग बना रहता है। इद्रिया भी अपने अपन विषया क साथ सदैव सयुक्त रहती हैं। अत इन्द्रियो को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिये। इसक अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ ही सयुक्त रहता है। अत समस्त इन्द्रियो को ज्ञान भी एक साथ सयुक्त रूप से ही होना चाहिए। किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई ऐसा महत्वपूण द्रव्य अवश्य है जिसके बिना ज्ञान नही होता तथा जिसके रहने पर ज्ञान होता है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य मन ही है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द इनके साक्षात्कार क लिए क्रमश चक्षु रसना घ्राण स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियां है जिनके द्वारा उपर्युक्त रूप आदि विषयों का ग्रहण एवं ज्ञान होता है। किन्तु सुख दुःख आदि भावों का अनुभव उपर्युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। अत. इसके लिए उपर्युक्त इन्द्रियों से भिन्न कोई अतिरिक्त पृथक् साधन होना चाहिए। वह साधन है मन। अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियो के

द्वारा अग्राह्य सुख-दुःख आदि के अनुभव का साधन मन है। इसीलिए मन का एक लक्षण यह भी किया गया कि 'सुखदुःखद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः'। इससे मन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

मन के गुण

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

अर्थ—अणुत्व (सूक्ष्मत्व अथवा सूक्ष्म होना) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं। अर्थात् मन अणु परिमाण वाला तथा एक होता है।

मन को अणु परिमाण वाला मानने से उसके सर्व व्यापकत्व का निराकरण तथा असर्वव्यापकत्व की सिद्धि होती है। मन को प्रति शरीर एक मानने से इन्द्रियों की भांति उनके अनेकत्व का निराकरण होता है।

यदि मन का अणुत्व तथा एकत्व स्वीकार न कर उसे महत् परिमाण वाला तथा अनेक माना जाय तो इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा और ऐसी स्थिति में उसे समस्त इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे ज्ञान परम्परा में एक प्रकार की विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में मन को वर्तमान की भाँति व्यवस्थित ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पायगी। क्योंकि एक साथ समस्त इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होने से समस्त ज्ञान परस्पर में टकराएंगे और ज्ञान परम्परा में व्यवधान होने लगेगा। जिससे मन को किसी भी वस्तु के सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि क्रमानुसार और व्यवस्थित ज्ञान शृंखला ही वस्तु में सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादक है तथा मन ऐसे ही ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होता है। अबाधित तथा विषमताओं से रहित ज्ञान ही मानस ग्राह्य है और इस प्रकार का ज्ञान एक काल में केवल एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रति शरीर में मन एक ही होता है।

मन के अणुत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। वह आत्मा की भांति सर्व शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य नहीं है। सूक्ष्म होने के कारण वह शरीर के एक प्रदेश के कई हजारवें भाग में स्थित रहता है। किन्तु अपनी सूक्ष्मता चंचलता एवं तीव्र गतिशालता के कारण वह सर्वदेहव्यापी की भाँति प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि जब मन किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है अन्य के द्वारा नहीं। जैसे कई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष अथवा

अध्ययन में तल्लीन होकर लग जाता है तो बाहर या अन्य स्थान से आने वाली आवाजों का ज्ञान उसे नहीं होता। इसी प्रकार परस्पर दो या अधिक व्यक्तियों के वार्तालाप करने पर किसी व्यक्ति का मन वार्तालाप की ओर न होकर अन्य विषयों के चिन्तन मे लग जाता है। ऐसी स्थिति में उन व्यक्तियों के वार्तालाप का स्वर निरन्तर उस व्यक्ति के कान में पड़ते रहने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि उन व्यक्तियो मे परस्पर क्या वार्तालाप हो रहा है ? इसी भाँति कोई पुस्तक पढ़ते पढ़ते बीच में मन किसी अन्य विषय में लग जाता है तो उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि क्या पढ़ा गया है ? जब कक्षा में छात्रगण अपने अध्यापक के प्रवचन (भाषण) को सुनते हैं तो कई छात्रो का मन अन्यत्र विषय में सलग्न हो जाता है। ऐसी स्थिति मे उस छात्र के लिये यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कक्षा में अध्यापक महोदय ने अपने भाषण मे क्या कहा ? इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

उपयु क्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन जब जिस इन्द्रिय के साथ सयुक्त होता है तब केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि मन आत्मा के सदृश महान् या सब शरीर व्यापी नहीं है अपितु अण रूप है। अणरूप होने के कारण वह एक ही समय मे समस्त इन्द्रियो मे सचार नही कर सकता। यही कारण है कि वह एक काल मे केवल एक ही इन्द्रिय के साथ सयुक्त होता है। जसा कि उपयु क्त उदाहरणो से भी स्पष्ट है। कई बार हमको ऐसी प्रतीति भी होती है कि पाँचों इन्द्रियो के द्वारा एक साथ ही ज्ञान हो रहा है। जैसे भोजन करते समय हाथ के स्पर्श द्वारा भोजन के शीतत्व उष्णत्व का ज्ञान होता है। रसना के द्वारा रस का ज्ञान भी होता है। घ्राण के द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है। चक्षु के द्वारा उसे सतत देखते रहते हैं। साथ में वार्तालाप करते रहने पर शब्द श्रवण भी होता है। अत उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि हमें समस्त ज्ञानो का अनुभव एक साथ हो रहा है। किन्तु वस्तुत ऐसा नही होता। मन की चचलता एव तीव्र गतिशीलता के कारण वह समस्त इन्द्रियो के साथ क्रमश सम्पर्क बनाता है। अर्थात एक के बाद दूसरी दूसरी के बाद तीसरी तीसरी के बाद चौथी चौथी के बाद पाँचवी-इस प्रकार क्रमश इन्द्रियो के साथ संयुक्त होता है। इन्द्रियों के साथ उसका संयोग इतनी शीघ्रता और तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ सयुक्त होने के बीच के व्यवधान या अन्तर की प्रतीति नहीं हो पाती। अत ऐसा लगता है कि मन समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ सयुक्त है। इन्द्रियो के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पादित होती है जिस प्रकार से कमल के पत्तों को इकट्ठा कर उन्हें

एक के ऊपर एक रख दिया जाय । तदनन्तर उन समस्त पत्तो का वेधन एक सुई द्वारा किया जाय । सुई द्वारा पत्तो का वेधन करने पर ऐसा लगता है कि समस्त पत्तो का वेधन एक साथ ही हो गया है किन्तु ऐसा नही होता । अर्थात उन पत्तो का वेधन जो क्रमश एक के बाद दूसरा दूसरे के बाद तीसरा तीसरे के बाद चौथा इस प्रकार होता है किन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रमश उनके वेधन का ज्ञान नही हो पाता और हम यह समझते हैं कि सभी पत्तो का वेधन एक साथ ही हो गया है । ठीक यही स्थिति इन्द्रियो के साथ मन के सयोग की है । इस सन्दर्भ मे एक अन्य उदाहरण अलात चक्र का भी दिया जा सकता है । अर्थात एक पतली लौह शलाका के दोनो सिरो पर थोड़ा सा कपडा बाँध कर उसे मिट्टी के तेल मे भिगो कर उसमे आग लगा दी जाती है । उसके बाद उसे जोरो से घुमाया जाता है जिससे प्रज्वलित अग्नि के चक्र की भाति प्रतीति होती है । यही अलात चक्र कहलाता है । इनमे शलाका के केवल दो सिरो मे आग लगी रहती है किन्तु उसके घूमने की गति अत्यन्त तीव्र होने के कारण चक्र के समान अनुभव होता है । इसी प्रकार मन भी तीव्र गति से शरीर मे इतस्तत घूमता है और क्रमश इन्द्रियो के साथ सयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अणु परिमाण वाला तथा एक है । मन के अणत्व तथा एकत्व की सिद्धि मे युगपत ज्ञान की उत्पत्ति नही होना विशेष महत्वपूण है । इसी आधार पर अन्य विद्वानो एव आचार्यों ने भी मन के अणुत्व तथा एकत्व को सिद्ध किया है । महर्षि गौतम ने मन के एकत्व की सिद्धि के लिये कहा है— **ज्ञानायौगपद्यादेक मन** इति न्याय दपण ३/५/६ अर्थात् ज्ञान के एक साथ नही होने से मन एक है । इसी का समथन महर्षि कणाद ने भी किया है । उन्होने अपने वैशेषिक दर्पण मे इस सन्दभ मे कहा है— **प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानयौगपद्याच्चैक** इति-वै द ३।२।३ अर्थात् एक समय मे एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अथवा प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन एक होता है । आचार्य विश्वनाथ ने कारिकावलि मे ज्ञानो के एक कालिक नही होने के कारण मन को अणु परिमाण वाला कहा है । यथा— **अयौगपद्या ज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते**' इति विश्वनाथ कारिका ३८५

कभी कभी एक समय मे ही दीर्घ शष्कुली भक्षण मे गन्ध रस रूप आदि अनेक विषयो का ज्ञान होने की भ्रान्ति होती है । यह मन के अति तीव्र सचार के कारण होती है । इस प्रकरण को शत कमल पत्र भेदन के उदाहरण से पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है ।

मन के विषय तथा कर्म

> चिन्त्य विचार्यमूह्य च ध्येय संकल्प्यमेव च ।
> यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
> इन्द्रियाभिग्रह कर्म मनसस्स्वस्य निग्रह
> ऊहो विचारश्च तत पर बुद्धि प्रवर्तते ॥
>
> —चरक संहिता शारीरस्थान १/२ २१

अर्थ—चिन्ता के योग्य गुणागुण का विचार के योग्य तर्क के योग्य ध्यान के योग्य ओर सकल्प के योग्य भाव या पदार्थ तथा मन के द्वारा अनुभव किए जाने वाले अन्य सुख दुख आदि भाव ये सब मन के विषय हैं। समस्त इन्द्रियों को अपने अपने विषय मे प्रेरित करना तथा अहित विषयों में उनकी प्रवत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियो का नियन्त्रण करना अथवा अपना नियमन करना किसी विषय मे तक करना हिताहित का विचार करना ते सब मन के कम हैं।

चिन्त्य—मन के द्वारा चिन्तन किए जाने योग्य विषय जैसे यह करने योग्य है या नही। विचार्य-उपपत्ति या अनुपपत्ति (तर्क) के द्वारा यह करने से लाभ होगा और यह करने से हानि होगी अथवा किसी विषय के गुण दोष का ज्ञान करना विचार कहलाता है। इस प्रकार के विचार योग्य विषय को विचार्य कहा जाता है। ऊह्य-सम्भावना के द्वारा जैसे यह कार्य इसी प्रकार होगा अथवा शास्त्रानुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के सशय पूवपक्ष आदि का निवारण और उत्तर पक्ष के स्थापन आदि क निर्णय के लिये परीक्षण को ऊहा कहते हैं। उस ऊहा के योग्य विषय ऊह्य कहलाते हैं। ध्येय-भावना ज्ञान का विषय ध्येय कहलाता है अथवा एकाग्र मन से किसी वस्तु के स्वरूप का अनु चिन्तन करना ध्यान कहलाता है और ध्यान के योग्य विषय को ध्येय कहते हैं। सकल्प्य-अमुक विषय या वस्तु गुण युक्त है अथवा दोषयुक्त इसका निश्चय करना अथवा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर अभीष्ट प्राप्ति (सिद्धि) के लिये यही करना है ऐसे निर्णय को सकल्प कहते हैं। सकल्प के योग्य जो विषय होता है वह सकल्प्य कहलाता है।

ऊपर जिन विषयों का उल्लेख या प्रतिपादन किया गया है ये सब विषय मन के होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषय मन के होते हैं जो मन के द्वारा ग्राह्य होते है अथवा मन की सहायता से जिनका ग्रहण होता है। इस दृष्टि से मन के विषयों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। अर्थात् मन के विषय दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार के विषय वे हैं जो पांच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जैसे शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध। ये विषय यद्यपि मुख्य रूप से इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। तथापि इन्द्रियों की सहायता से मन ही इनका ग्रहण

करता है। दूसरे प्रकार के विषय इन्द्रिय निरपेक्ष होते हैं। ये मन के स्वतन्त्र विषय होते हैं। अत मन के विषयो से मुख्यत इन्ही इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयो का ग्रहण किया जाता है। इन चिन्त्य आदि विषयो के ग्रहण मे इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ रहती हैं। अत मन के द्वारा इन्द्रियातीत विषयो का ग्रहण किए जाने से वह अतीन्द्रिय कहलाता है।

इन्द्रियो के विषय नियत है— **प्रतिनियतविषयैकाणीन्द्रियाणि** अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय प्रतिनियत है वह इन्द्रिय मात्र उसी विषय का ग्रहण करती है, अन्य का नही। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप विषय का ही ग्रहण होता है अन्य शब्द आदि विषयो का नही। किन्तु मन सब इन्द्रियो के साथ समस्त विषयो का ग्रहण करता है। इतना ही नही इन्द्रियो के विषयो के अतिरिक्त विविध विषयो का चिन्तन किसी विषय के गुण व गुण का विचार शास्त्रो के अनुकूल तक करना एकाग्र मनसा वस्तु विशेष का ध्यान कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर किसी विषय का सकल्प करना सुख-दुख आदि आभ्यन्तरिक भावो का अनुभव करना इत्यादि भी मन के विषय हैं। इस प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रियातीत दोनो प्रकार के विषयो का ग्रहण मन के द्वारा होता है।

मन के उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट कर्म भी होते है। मन च कि एक द्रव्य हैं। अत द्रव्यत्व की दृष्टि से उसमे गण और कम समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहना चाहिए। गुण और कर्म के बिना द्रव्य का अस्तित्व नही रहता। अत मन के कर्मों का भी निदश किया गया। मुख्य रूप से मन के दो कम होते हैं—एक है इन्द्रियो को नियन्त्रित करना अथवा उन्हें अहित विषयो से पराङ्मुख करना और स्वविषयो मे प्रवृत्ति करना। मन का दूसरा कम है धृति की सहायता से स्वय अपना निग्रह अथवा नियन्त्रण करना। इसके अतिरिक्त विभिन्न तथ्यपूर्ण एव युक्ति समत तर्क प्रस्तुत करना तथा हिताहित या गण व गुण का विचार करना भी मन का ही कर्म है।

मन का स्थान

सत्वादिधामहृदय स्तनोर:कोष्ठमध्यगम् — अष्टांग हृदय शारीरस्थान अ ४

हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेमनसश्च स्थानत्वात् —सुश्रुत सहिता शारीर स्थान अ० ३

षडंगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्॥

—चरक संहिता सूत्रस्थान ३०/४

अर्थ—सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है, जो दोनों स्तनों और उर-कोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है। (अष्टांग हृदय)

हृदय में बुद्धि और मन का निवास होने से गर्भ में प्रथम हृदय का निर्माण होता है—ऐसा कृतवीर्य का मत है। (सुश्रुत)

शरीर के छहों अंगो (दो हाथ दो पैर मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां (श्रोत्र त्वक चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है। यहाँ पर कुछ लोग हृदय शब्द के अर्थ मे भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि हृदय शब्द से यहाँ वक्ष प्रदेश मे स्थित मांसपेशीमय हृदय का ग्रहण न करके शिरोगत मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि "बुद्धि निवास हृदय प्रदूष्य" इत्यादि वाक्यो के द्वारा बुद्धि का निवास स्थान हृदय को शिर कपाल (प्रदेश) में स्थित मस्तिष्क मानने की पुष्टि होती है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अष्टांग हृदय के उपर्युक्त वचन द्वारा प्रथम ही मन के स्थान रूप हृदय की स्थिति वक्ष प्रदेश मे दोनों स्तनों के मध्य में निरुपित की गई है। अत: हृदय शब्द से सर्व सामान्य में प्रचलित मासपेशीमय हृदय का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त हृदयस्याधो वामत: प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च इत्यादि सुश्रुत वचन के द्वारा वक्ष प्रदेश मे स्थित हृदय का ही बोध होता है। अत शिर कपाल में स्थित मस्तिष्क को हृदय मानना उपयुक्त नहीं है—

कुछ लोगो ने मन का स्थान हृदय की अपेक्षा जो मस्तिक निरुपित किया है एक दृष्टि से यह भी मान्य हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों का आधार शिर ही है। चरक ने शिर को समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान निरुपित करते हुए शिर का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है।

प्राणा: प्राणभृतां यत्र श्रिता: सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते॥ —चरक संहिता सूत्रस्थान १७/१७

अर्थ—जिसमें प्राणियों के प्राण आश्रित रहते हैं जिसमें समस्त इन्द्रियां आश्रित हैं और जो शरीर के समस्त अंगो में उत्तमांग (श्रेष्ठ) है वह शिर कहलाता है।

इसी प्रकार भेल संहिता मे भी मन का स्थान शिर में प्रतिपादित किया गया है—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मन:।
तत्र स्थितं तद्विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
[illegible]: [illegible] चापि सर्वेन्द्रियाणां बलम्॥

कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम् ।
क्रियाणां चेतराणां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥

अर्थात् समस्त इन्द्रियों मे श्रेष्ठ मन शिर तालु मे स्थित रहता है। वह वहीं पर समीपस्थ इन्द्रियों के रसादि विषयो का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तीन भावों का नियन्त्रण करता है। वह मन समस्त इन्द्रिय रूप प्रभावशाली और बलयुक्त होता है। सभी प्रकार की बुद्धियो का कारण चित्त हृदय मे स्थित रहता है। वह समस्त क्रियाओ का भी कारण है।

इस प्रकार सिर भी मन का स्थान स्वीकृत किया गया है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान सिर होने के कारण मन का अधिष्ठान भी सिर स्वत प्रतिपादित होता है। क्योकि मन स्वय एक इन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बडा केन्द्र शिर ही है। समस्त इन्द्रिया वहा केन्द्रित नियन्त्रित और उपस्थित रहती हैं। *अत दीर्घ अवधि तक मन का भी वहाँ उपस्थित रहना स्वाभाविक है।* इस दृष्टि से शिर को मन का स्थान माना गया है। सक्षप मे मन का स्थायी निवास नियन्त्रण केन्द्र और काय क्षेत्र की दृष्टि से मन के स्थान को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। मन का मूल स्थायी स्थान हृदय है—इस तथ्य को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियो का केन्द्र मस्तिष्क है जहा विषय के स्वरूप का निणय एव इन्द्रियो को प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्ति होती है। मन हृदय से मनोवह स्रोतो के द्वारा मस्तिष्क मे आता है और वहा से समस्त इन्द्रियो का निग्रह या नियन्त्रण करता है। अत मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कायक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सब शरीर मे मनोवह स्रोतो की व्याप्ति होने के कारण शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम परमाणु भाग मे मन त्वरित गति से पहुंच जाता है। अत उसका कायक्षत्र सम्पूण शरीर है। केवल हृदय मे स्थित रहता हुआ मन इन्द्रियो का नियन्त्रण वस्तु स्वरूप का ग्रहण एवं सब शरीर परिभ्रमण नहीं कर सकता। अत वह हृदय से मनोवह स्रोतो के द्वारा शिर और सम्पूण शरीर मे सतत भ्रमण करता हुआ हृदय मे स्थित आत्मा को ज्ञान कराता है। इस प्रकार कार्य विभाजन की दृष्टि से मन का स्थान भिन्न भिन्न समझना चाहिए। किन्तु मूल रूपेण मन का स्थान हृदय है।

तम का द्रव्यत्व खण्डन

कुछ आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार पृथ्वी आदि नौ द्रव्य माने गए हैं उसी प्रकार तम (अंधकार) को भी दसवाँ द्रव्य मान लेना चाहिये। क्योंकि द्रव्य का जो लक्षण बतलाया गया है वह इसमें पूर्णत घटित हो जाता है। पूर्वोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जो गुण और कर्म का आश्रय होता है तथा जो गुण और कर्म का समवायी कारण होता है वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य का यह लक्षण तम में पूर्णत प्रतिघटित होता है। क्योंकि 'नील तमश्चलित' इस वाक्य में तम का नीलत्व (कृष्णत्व वर्ण) उसका गुण है तथा चलन रूप क्रिया उसका कर्म है। तम मे गुण और कर्म दोनो होने से वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। पूर्वोक्त नौ द्रव्यो मे से किसी मे भी इसका (अन्तर्भाव) नही किया जा सकता। यथा—(१) पृथ्वी मे इसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता। क्योंकि पृथ्वी की भाँति इसमे न तो गन्ध है और न ही इसमें स्पर्श है। अत गन्धाभाव एव स्पर्शाभाव होने से यह पृथ्वी नही हो सकता।

(२) जल में इसका अन्तर्भाव सम्भव नही है। जल मे जिस प्रकार रस शीत स्पर्श एव शुक्ल रूपत्व पाया जाता है उसी प्रकार इसमे इन गुणो का अभाव होने से जलान्तर्गत भी इसे नही माना जा सकता।

(३) तेज मे इसका अन्तर्भाव नहीं क्योंकि हो सकता तेज में उष्ण स्पर्श एव भास्वर स्वरूप होता है। किन्तु तम मे इसका अभाव होने से इसे तेज या तेजोऽन्तर्गत भी नही मान सकते।

(४) वायु मे इसका अन्तर्भाव सम्भव नही है। क्योंकि वायु का प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श है। इसके अतिरिक्त सदा गतिमत्व भी उसका गुण है। तम में इन दोनों गुणों का सर्वथा अभाव है। अत वायु के अन्तर्गत इसे नहीं माना जा सकता।

(५) आकाश विरोधी गुणधर्मी होने के कारण तम को आकाश के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि आकाश एक रूप विहीन द्रव्य है जबकि तम एक रूपी द्रव्य है। इसके अतिरिक्त आकाश एक व्यापक द्रव्य है, जबकि तम व्यापक नहीं है। अत आकाश में इसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता।

(६) अन्य आत्मा मन काल और दिशा मे इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये चारो द्रव्य भी रूप विहीन हैं। इनके विपरीत तम में रूप गुण का सद्भाव है। इस प्रकार उपर्युक्त नौ द्रव्यो में तम का अन्तर्भाव नहीं होने से इसे एक अतिरिक्त स्वतन्त्र दसवां द्रव्य मानना चाहिये।

आचार्यों ने तम के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए उपर्युक्त बातों का उत्तर निम्न प्रकार से दिया है—तम कोई द्रव्य नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का

अभाव है। तम कोई द्रव्य नहीं है वह तो प्रकाश का अभाव मात्र है। यदि यह कहा जाय कि तम का अभाव ही प्रकाश है तो यह कहना अयुक्ति युक्त है। क्योंकि प्रकाश तैज रूप है। तेज का अनुभव स्पष्ट है। यह चक्षु एव त्वग् इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। तेज के दहन पचन आदि कम प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। इसके विपरीत तम चक्षु इन्द्रिय के मात्र के द्वारा ग्राह्य है। तम की गतिमान (चलन) क्रिया का निराकरण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि तम स्वत कभी नही चलता। तेज को आवृत करने वाला कोई द्रव्य जब चलता है तब हमे यह प्रतीति होती है कि छाया चल रही है। वस्तुत गति छाया की नहीं अपितु जिस द्रव्य की वह छाया है उस द्रव्य की गति होती है। तम मे गति की जो प्रतीति होती है वह भ्रम मात्र है। अत तमाश्रित कोई कर्म नही है।

दूसरी बात यह है कि तम जब चक्ष इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है तो इसे रूपवान् द्रव्य माना जा सकता है। क्योकि चक्ष इन्द्रिय के द्वारा केवल रूपवान् द्रव्य का ग्रहण होता है। इसके समाधान मे कहा गया है कि चक्ष इन्द्रिय रूपवान् द्रव्य का ही ग्रहण केवल प्रकाश की उपस्थिति मे ही करती है। यदि तम वस्तुत रूपवान् द्रव्य है तो प्रकाश की उपस्थिति मे भी उसका ग्रहण या ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नही होता। प्रकाश की उपस्थिति मे तत्काल तम का विनाश या अभाव हो जाता है। अत इसे रूपवान् द्रव्य भी नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त तम मे नीलत्व (कृष्णत्व) वर्ण की प्रतीति के कारण यह रूप विहीन द्रव्य भी नही माना जा सकता। ऐसी स्थिति मे तेज (प्रकाश) का अभाव मात्र ही तम मानना उपयुक्त है। वस्तुत तम मे नील (कृष्ण) रूप एव चलन क्रिया का ज्ञान भ्रान्ति मात्र है। वास्तविक रूप से तो केवल दीपक की अपसरण क्रिया के कारण ही तम की चलन क्रिया का भान होता है। अत तम स्वतन्त्र अस्तित्ववान नवम द्रव्य नही हो सकता। प्रस्तुत प्रसग मे न्याय मुक्तावलि का निम्न उद्धरण दृष्टव्य है—

आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात। रूपवत्ता प्रतीतिस्तु भ्रमरूपा कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादि कल्पनागौरव च स्य त।   —न्यायमुक्तावलि ३

तृतीय अध्याय

गुण निरूपण

द्रव्य वर्णन के पश्चात् गुण का वर्णन किया जा रहा है। गुण का परिगणन पदार्थ के अन्तर्गत किया गया है। अर्थात् गुण भी एक पदार्थ है। द्रव्य के पश्चात् गुण का वर्णन उसके महत्त्व के कारण किया जा रहा है। गुण सामान्यतः द्रव्य का उपकरण माना जाता है। अर्थात् गुण के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में कोई न कोई गुण अवश्य ही विद्यमान रहता है। अतः द्रव्य के अस्तित्व के लिए तदन्तर्गत स्थित गुण का विशेष महत्त्व है। द्रव्य और गुण ये दोनों यद्यपि भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तथापि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही दोनों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। अर्थात् दोनों ही पदार्थ अपनी सत्ता के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। द्रव्य से पृथक् हुए गुण का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। उसकी अनुभूति द्रव्याश्रित होने पर ही होती है। इसी भांति द्रव्य का अस्तित्व भी बिना गुण के नहीं रहता। अर्थात् द्रव्य के अस्तित्व के लिए गुण का समयोग नितान्त अपेक्षित है।

द्रव्य और गुण परस्पर आधार-आधेय भाव अथवा आश्रय-आश्रयी भाव से स्थित रहते हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य आधार या आश्रय होता है तथा गुण आधेय या आश्रयी होता है। गुण हमेशा द्रव्य की विशेषता बतलाने वाला होता है। अतः वह विशेषण भी कहलाता है। गुण द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य प्रधान होता है और गुण अप्रधान। जो दूसरों का आश्रय तथा कर्ता होता है वह प्रधान या मुख्य होता है और जो अन्याश्रित उपकरण या विशेषण होता है वह अप्रधान या गौण होता है। प्रस्तुत प्रकरण का अभिप्रेय पदार्थ 'गुण' अन्याश्रित (द्रव्याश्रित) उपकरण तथा द्रव्य की विशेषता का प्रतिपादक होता है, अतः वह गौण होता है और गौण होने के कारण उसकी 'गुण' संज्ञा है। इस प्रकार गुण की 'गुण' संज्ञा पूर्णतः सार्थक है जो अपने आप में उपयोगी, महत्त्वपूर्ण एवं परिपूर्ण है। अपनी प्रमुख विशेषताओं एवं महत्त्व के कारण गुण का अन्तर्भाव किसी अन्य पदार्थ में नहीं किया जा सकता। अतः इसे एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है।

गुण का लक्षण

समवायी तु निश्चेष्ट कारण गुण । —चरक संहिता [सूत्रस्थान १/५१

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गु णा निष्क्रिया गुणा । —कारिकावलि ।

'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ।

—वशेषिक दर्शन १/१/१६

गुणत्वजातिमत्वमिति गुणसामान्यलक्षणम् । —प्रशस्तपाद

विश्वलक्षणा गुणा । —रस वशेषिक सूत्र १/१६

गुण सम्बन्धी उपयु क्त परिभाषाओ मे आचार्यों ने स्वकीय दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से गण का लक्षण कहा है । इन लक्षणो मे यद्यपि विशेष अन्तर नही है किन्तु फिर भी कुछ भिन्नता अवश्य है ।

गुण के उपयु क्त लक्षण के अनुसार जो द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) से रहता हो चेष्टा रहित हो स्वय भी चेष्टा (क्रिया या कम) रूप न हो स्वय निग ण (गुण रहित) हो तथा स्वसमान गणान्तर (अन्य गुण) की उत्पत्ति मे कारणभूत हो वह गण कहलाता है । अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य मे आश्रय करके रहता (द्रव्याश्रयी) हो गुण रहित हो कम रहित या कम से भिन्न हो और जो स्वसमान गणान्तर की उत्पत्ति मे असमवायी कारण हो उसे गुण कहते हैं ।

उपयु क्त प्रकार से गण का जो लक्षण प्रतिपादित किया गया है उसमे प्रत्येक पद सकारण अपेक्षित एव महत्वपूर्ण है । क्योकि जिस प्रकार द्रव्य से गण का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार द्रव्य से कम का भी नित्य सम्बन्ध है । इसीलिए कर्म से भिन्न जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से द्रव्य मे रहता हो वह गुण कहलाता है । किन्तु गुण की यह परिभाषा भी निर्दोष एव समीचीन नही है । क्योकि द्रव्य मे द्रव्यत्व भी समवाय सम्बन्ध से रहता है और वह द्रव्यत्व कम से भिन्न भी है । अत गुण की यह परिभाषा द्रव्य में भी सघटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है । इसलिये गुण की यह परिभाषा समुचित एव उपयुक्त नही है ।

गुण की सामान्य परिभाषा करने के लिये यह कहना पडेगा कि जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य म रहता हो तथा गुण और कर्म का आश्रय न हो वह गुण कहलाता है । इस प्रकार की परिभाषा करने पर गुण का लक्षण द्रव्य मे अतिव्याप्त नही होता । क्योकि द्रव्य तो मुख्य रूप से गुण और कम का ही आश्रय है । जबकि गुण स्वय निगु ण एवं कमरहित होता है । इसीलिए गुण के लक्षण में निष्क्रिया निगु णा गुणा कहा गया है ।

किन्तु गुण का इस प्रकार का लक्षण करने पर भी यह सामान्य और विशेष मे घटित हो जाता है। क्योंकि सामान्य और विशेष दोनो ही कर्म से भिन्न हैं, दोनो ही गुण व कर्म से रहित हैं तथा दोनों ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अत गुण का उपर्युक्त लक्षण सामान्य विशेष के अतिव्याप्ति होने से निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। गुण का निर्दुष्ट एव सर्वमान्य लक्षण बनाने के लिये उसको परिभाषा निम्न प्रकार से करनी होगी—जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो गुण और कर्म से रहित हो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य मे रहता हो तथा कार्य के प्रति असमवायि कारण हो अर्थात स्वसमानगुणान्तर की वृद्धि करने वाला हो उसे गुण कहते हैं। गुण की उपयुक्त परिभाषा करने पर सामान्य और विशेष मे गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योकि कारणत्व सामान्य-विशेष मे नही होता है। अत गुण का यह लक्षण पूर्णत निर्दुष्ट एव परिपूर्ण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। गुण के स्वतन्त्र पदार्थ होने का कारण यह है कि गुण का जो लक्षण बतलाया गया है वह लक्षण किसी अन्य मे घटित नही होता। इसके अतिरिक्त गुण मे स्वतन्त्र गुणत्व जाति रहती है। गुणत्व जाति वाला होने से गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जसे द्रव्य मे द्रव्यत्व जाति और कर्म मे कर्मत्व जाति होती है उसी भाति गुण मे भी गुणत्व जाति होती है। गुणत्व जाति के बिना कोई पदार्थ गुण नहीं कहला सकता।

एक अन्य आचार्य ने गुण का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। उनके मतानुसार विश्वलक्षणा गुणा अर्थात् जिनका लक्षण विश्व रूप मे हो। विश्व की भाति फैले हुए विकीर्ण या भिन्न लक्षण वृत्ति वाले पदार्थ को गुण कहते हैं। आचार्य भदन्त नागार्जुन के मतानुसार ससार मे भिन्न भिन्न प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। उन सब को एक श्रेणी मे या एक लक्षण मे बांध कर रखना सम्भव नहीं है। भिन्न भिन्न गुण होने के कारण उनका लक्षण भी भिन्न भिन्न ही होगा। जैसे शीत-उष्ण आदि गुण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं स्निग्ध और रूक्ष गुण चक्षुग्राह्य और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। इस प्रकार समस्त गुण भिन्न भिन्न लक्षण वाले होने से उनका एक ऐसा लक्षण नही बन सकता जिसमे सब गुणो का अन्तर्भाव होता है। अत गुण विश्व लक्षण अर्थात् भिन्न भिन्न लक्षण वाले हैं। इसी कारण से उनका एतद्विध लक्षण किया गया है।

गुण—लक्षण का विमर्श करने के उपरांत निष्कर्ष यह निकलता है कि जिसमें निम्न बातें पाई जावें वह गुण कहलाता है —

१—द्रव्याश्रयी (द्रव्य के आश्रित) हो।

२—निर्गुण (गुण से रहित) हो।

३—निष्क्रिय (कर्म से रहित) हो।

४—स्वयं कर्म रूप न हो।

५—कार्य के प्रति असमवायि कारण अथवा स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति करने वाला हो। सयोग विभाग मे अनपेक्ष कारण नहीं हो।

६—गुणत्व जाति वाला हो।

उपयु क्त छः लक्षणों वाला गुण होता है।

गण सख्या

आयुर्वेद मे गुणो की सख्या इकतालीस स्वीकार की गई है। कितु वैशेषिक मतानुसार केवल चौबीस गुण ही माने गए हैं। आयुवद मे जो ४१ गुण माने गये हैं उनको चार श्रेणी मे विभक्त कर दिया गया है। यथा वशषिक गुण सामान्य गण तथा आध्यात्मिक या आत्म गण। पुन सामान्य गुण दो प्रकार के होते हैं—कमण्य सामान्य गुण (ये शारीर गुण भी कहलाते है) तथा परादि सामान्य गुण। इनमे वशषिक गण पाच कमण्य सामान्य गुण बीस आध्यात्मिक या आत्म गुण छह तथा परादि सामान्य गुण दस इस प्रकार कुल इकतालीस गुण होते हैं।

कुछ आचार्यों ने गुणा की सख्या छियालीस मानी है। वे उपयु क्त ४१ गुणो के अतिरिक्त ५ अन्य गुणो को और मानते हैं। इसमे से तीन महागुण होते है और दो निमित्त गण होते हैं।

आयुवदोक्त ४१ गुण निम्न प्रकार हैं—

सार्था गुर्वादयो बुद्धि प्रयत्नान्ता परादय।

गुणा प्रोक्ता ——————॥—चरक सहिता सत्र स्थान १।४९

अथ—पाँचो इन्द्रियो के अथ (विषय) अर्थात शब्द स्पर्श रूप रस और गध इन पाच को वशषिक गुण कहा गया है। क्योंकि ये प्रत्येक महाभत के अपने विशष गण है। एक महाभूत के गुण अन्य महाभूतो मे भी उपलब्ध होते हैं। वे भूतान्तरानु प्रवेश से (अन्य महाभूतो के सयोगवश) आते हैं। गरु-लघु शीत-उष्ण स्निग्ध रूक्ष मन्द-तीक्ष्ण स्थिर-सर मृदु कठिन बिशद पिच्छिल श्लक्ष्ण-खर स्थूल-सूक्ष्म सान्द्र द्रव ये २ गुण कमण्य सामान्य गण कहलाते है। आचाय श्री गगाधर जी ने इन्हे **शारीर गुण** की सज्ञा दी है। शरीर मे इन गणो के आधार पर ही कम होता है अर्थात शरीर मे द्रव्य का प्रयोग करने के पश्चात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जितनी भी क्रियाए होती हैं व सब इन गणो पर ही आधारित रहती हैं अत इन्हे कमण्य गुण कहा जाता है। ये गुण सामान्यतया पृथिव्यादि महाभूतो मे वतमान रहते हैं अत इन्हे **सामान्य गुण** भी कहा जाता है। शरीर के लिए विशषत इन्हीं गुणो की उपयोगिता होने से इन्हे '**शारीर गुण** भी कहा जाता है। बुद्धि (ज्ञान) जिसके अन्तर्गत स्मृति चेतना

धृति अहङ्कार आदि आत्मा के गुणो का भी समावेश है अर्थात् बुद्धि शब्द से स्मृति आदि इन गुणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए इच्छा द्वेष सुख दुख और प्रयत्न ये छह आत्मा के विशेष गुण होने से आध्यात्मिक या आत्म गुण' कहलाते हैं। परत्वादि दस गुण भी सामान्य गुण ही कहलाते हैं। इन्हें साधारण गण भी कहा जाता है। ये गुण मुख्यत द्रव्य के आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य होते हैं। अत इनकी साधारण सज्ञा है। परत्वादि दस गुण निम्न हैं—परत्व अपरत्व युक्ति सख्या सयोग विभाग पथक्त्व परिमाण सस्कार और अभ्यास। इस प्रकार कुल ४१ गुण होते हैं। इन ४१ गुणो मे से गुर्वादि द्रवान्त २ गणो का उपयोग आयुर्वेद मे मुख्य रूप से होता है।

अ य आचार्यों ने इन ४१ गुणो के अतिक्ति पाच और भी गुणो को माना है जिससे गणो की कुल सख्या ४६ हो जाती है। अतिरिक्त ५ गुणो मे सत्व रज और तम ये तीन महागण होते हैं जैसा कि वाग्भट ने बतलाया है—

सत्वरजस्तमश्चेति त्रयो प्रोक्ता महा गुणा । —अष्टांग सग्रह सूत्रस्थान १

इनके अतिरिक्त धम और अधम ये दो गुण और होते हैं जो तिर्यञ्च मानुष और देवयोनि मे आत्मा के परिभ्रमण मे निमित्त बनते है। अत ये निमित्त गुण कहलाते है।

आयुर्वेद मे इन पाचो गुणा की विशेष उपयोगिता नही होने से गुण गणना मे इनका परिगणन नही किया गया।

वैशेषिक मतानुसार गुणो की सख्या २४ मानी गई है। उन्होंने अन्य गुणो का समावेश इन्ही २४ गुणो मे कर लिया है। वैशेषिक मत समस्त २४ गुण निम्न लिखित होते है—रूप रस गन्ध स्पश सख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न द्रवत्व गुरुत्व स्नेह, सस्कार धम अधर्म और शब्द। यहा यह स्मरणीय है कि कारिकावलि मे धर्म और अधम गुण के लिए अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। अत अदृष्ट शब्द से धर्म और अधर्म दोनो ही गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिये। यहा पर ध्यान रखना चाहिये कि इन चतुर्विंशति गुणों का उल्लेख वैशेषिक दशन के मतानुसार किया गया है। अर्थात् वैशेषिक दर्शन के मतानुयायी केवल २४ गुणो को ही मानते हैं किन्तु इसके पहले गुण संख्या प्रकरण के प्रारम्भ मे गुणो का जो श्रेणी विभाजन किया गया है और उसमे जिन पांच वैशेषिक गुणो का निर्देश किया गया है वे इन गुणों से भिन्न हैं। अर्थात् पांच महाभूतों के विशेष गुण होने से उन्हें वैशेषिक गुण की संज्ञा दी गई है।

वैशेषिक गुण

इनकी संख्या पाच होती है। ये पाच गुण पाचो महाभूतो के होते हैं। प्रत्येक महाभूत का पृथक् पृथक विशेष गुण होता है। अत इन्हे वैशेषिक गुण कहा जाता है। यथा—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणा ॥
—चरक संहिता शारीरस्थान १।२७

अर्था शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणा।
—चरक संहिता शारीरस्थान १।३१

पचेन्द्रियार्था—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा।

—चरक संहिता सूत्रस्थान ।३१

पाँच महाभत आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी होते हैं। इनके विशेष गुण क्रमश शब्द स्पश रूप रस और गध होते हैं। अर्थात् आकाश महाभत का विशेष गुण शब्द वायु महाभूत का विशेष गण स्पर्श अग्नि महाभूत का विशेष गण रूप जल महाभत का विशेष गुण रस और पथ्वी महाभूत का विशेष गुण गध होता है। इन विशेष गुणो का ग्रहण एक एक ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा होता है। अत ये इन्द्रियाथ या इन्द्रियो के विषय भी कहलाते हैं। जिस ज्ञानेन्द्रिय मे जिस महाभूत की अधिकता होती है वह ज्ञानेन्द्रिय उसी महाभूत के विशेष गुण का ग्रहण करती है। जैसे आकाशीय होने से श्रोत्र न्द्रिय के द्वारा केवल शब्द गण का ग्रहण होता है वायव्य होने से स्पशनेन्द्रिय के द्वारा केवल स्पश गुण का ग्रहणहोता है आग्नेय होने से चक्ष के द्वारा केवल रूप गुणका ग्रहण होता है जलीय होने स रसनेन्द्रिय के द्वारा केवल रस गण का ग्रहण होता है और पार्थिव होने स घ्राणन्द्रिय के द्वारा केवल गध गुण का ग्रहण होता है। इस प्रकार महाभूतो के विशेष गण का ग्रहण या ज्ञान नियत इन्द्रियो के द्वारा होता है। इन्हें अर्थ विषय ज्ञेय और गोचर सज्ञा के द्वारा भी व्यवहृत किया जाता है।

इन पांचो वैशेषिक गुणो का स्वतन्त्र उल्लेख वैशेषिक दशनोक्त चतुर्विशति गुणो मे भी किया गया है। अर्थात इनकी स्वतत्र सत्ता होने से किसी अन्य गुण मे इनका या इनमें से किसी एक का भी अन्तर्भाव नही किया गया है।

कर्मण्य सामान्य गण

आयर्वेद मे इन गणो की विशेष उपयोगिता है। उन्हे कर्मण्य गुण कहने का कारण यह है कि शरीर मे जब किसी द्रव्य का प्रयोग किया जाता है तो उसके द्वारा शरीर मे किसी न किसी प्रकार का कर्म अवश्य होता है। वह कर्म पूणत गुण पर आधारित रहता है। अर्थात् द्रव्य मे जिस प्रकार का गुण होता है उसी प्रकार के कर्म का सम्पादन होता है। यथा स्निग्ध द्रव्य घृतादि के प्रयोग से उसके स्नेह गुण के कारण शरीर मे स्नेहन कर्म होता है। इसी भांति अन्य गुणो के विषय मे भी समझना चाहिए।

इन कर्मण्य गुणो को 'शारीर गुण' की सज्ञा भी दी गई है। यह कविराज गंगाधर जी का मत है।

इन गुणो की सख्या २० होती है। यथा—

गुर्वादयस्तु गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिल-श्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवा विंशति । एते च सामान्यगुणाः पृथिव्यादीनां साधारणत्वात् ।
—चक्रपाणि

अर्थात गुरु लघु शीत-उष्ण स्निग्ध रूक्ष मन्द-तीक्ष्ण स्थिर-सर मृदु-कठिन विशद पिच्छिल श्लक्ष्ण-खर स्थूल-सूक्ष्म सान्द्र-द्रव ये बीस गुण होते हैं। पृथ्वी आदि म ये सामान्यत रहते हैं अत इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है। इन गुणो के आधार पर ही शरीर मे क्रिया होती है। अत ये कर्मण्य सामान्य गुण कहलाते हैं।

रस वैशेषिक सूत्र मे आचार्य भदन्त नागार्जुन ने कर्मण्य गुणो की सख्या केवल दस बतलाई है। यथा— **शीतोष्ण स्निग्ध रूक्ष विशद पिच्छल-गुरु-मृदु-तीक्ष्ण गुणा कर्मण्य।** बतलाया गया है कि चिकित्सा कर्म मे इन गुणो की विशेष उपयोगिता होने के कारण इन्हे कर्मण्य गुण कहा गया है। किन्तु अन्य दस गुण जिनका परिगणन यहाँ नही किया गया है चिकित्सा कर्म मे उपयोगी होते है। अत उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए। आयुर्वेद मे कर्मण्य गुण २० ही माने गए हैं। जैसा कि चक्रपाणि दत्त के उपयुक्त वचन से एव अष्टाग हृदय के निम्न वचन से स्पष्ट है—

गुरु-मन्द हिम स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु स्थिरा ।
गुणा ससूक्ष्मविशदा विंशति सविपर्यया ॥ —अष्टाग हृदय सूत्रस्थान

ऊपर जिन गुरु आदि बीस गुणो का उल्लेख किया गया है चिकित्सा कर्म मे इन गुणो की ही अधिक उपयोगिता है। यद्यपि गुरु आदि शब्द का व्यवहार सामान्यत द्रव्यो के विशेषण के रूप में किया जाता है। जैसे अमुक द्रव्य गुरु है अमुक द्रव्य लघु है आदि। किन्तु गुणो के प्रसग मे इन्हे भाव वाचक समझना चाहिए। अर्थात् गुरु शब्द से गुरुता या गौरव लघु से लघुता या लाघव स्निग्ध से स्निग्धता आदि का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि आचार्य चक्रपाणि दत्त का अभिमत है—

रूक्षादयो भावप्रधाना तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्या ।

विभिन्न द्रव्यों में रूक्षत्व आदि जो गुण होते हैं उन्हीं के आधार पर शरीर मे विभिन्न प्रकार की क्रियाए होती हैं। उन क्रियाओं को देखकर ही गुण के विषय मे अनुमान लगाया जाता है कि अमुक गुण के कारण शरीर मे अमुक प्रकार की क्रिया हुई। अत गुण के अस्तित्व का अनुमान तज्जनित कर्म के आधार पर होने का प्रमाण शास्त्रों में भी उपलब्ध होता है। जैसा कि सुश्रुत के निम्न वचन से स्पष्ट है—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणा ।

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६/११४

इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य व्यवहार मे जिन द्रव्यो को गुरु(भारी) लघु (हल्का) स्निग्ध (चिकना) आदि कहा जाता है आयुर्वेदीय द्रव्य गुण शास्त्र के अनुसार उनको गुरु लघु आदि नही माना गया है किन्तु द्रव्यो के सेवन के पश्चात् शरीर मे जाकर ये गुण गौरव (गुरुता) लाघव (लघुता) आदि भावो को उत्पन्न करते हैं । अत इस आधार पर इनमे गुरु लघु आदि का अनुमान किया जाता है ।

गुरु-लघु आदि गुण द्रव्यो मे कभी स्वाभावत ही होते हैं । यथा माष (उडद) मे जो गुरुता होती है वह स्वभाव सिद्ध है । ऐसे द्रव्यो को प्रकृति-गुरु कहते हैं । ये गुण कभी सस्कार वश भी द्रव्य मे समुत्पन्न हो जाते है—अर्थात द्रव्यो को सेवन योग्य बनाने के लिए जो पाक आदि प्रक्रियाए की जाती हैं उन प्रक्रियाओ के परिणाम स्वरूप गुणो की उत्पत्ति या न्यूनाधिकता होती रहती है । सस्कार प्राय गुणान्तराधान के लिए ही किया जाता है । कहा भी है — **सस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते ।** जसे अत्यधिक पाक करने से दूध गुरु हो जाता है खील के रूप मे चावल हल्का और वमनहर हो जाता है । कभी कभी ये गुण मात्रा की न्यूनाधिकता से भी उत्पन्न हो जाते हैं । जसे लघु गुणवाली वस्तु भी यदि अधिक मात्रा मे सेवन की जाय तो गुरु हो जाती है और गुरु वस्तु भी मात्रावत सेवन करने से लघु सिद्ध होती है ।

आध्यात्मिक गुण

इनकी सख्या ६ होती है । यथा—बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष और प्रयत्न । आत्मा मे इन गुणो की विशेष सवित्ति होने के कारण ये अध्यात्मिक गुण कहलाते हैं । इन्हे आत्मगुण भी कहा जाता है । यद्यपि स्मृति चेतना धृति अहकार आदि गुण भी आत्मा के ही होते है किन्तु ये बुद्धि की ही अवस्था विशेष होने के कारण इनका समावेश बुद्धि के अन्तर्गत ही कर लिया गया है । प्रकरणान्तर से आत्मा के निम्नलिखित गुण भी बतलाए गए है—

इच्छा द्वेष सुख दुख प्रयत्नश्चेतना धृति ।
बुद्धि स्मृत्यहकारो लिगानि परमात्मन ।।

—चरक संहिता शारीर स्थान १/७१

अर्थात इच्छा द्वेष सुख दुख प्रयत्न चेतना धृति बुद्धि स्मृति और अहकार ये आत्मा के लक्षण (गुण) है ।

आचार्य शिवदास सेन ने धृति चेतना स्मृति और अहकार को बुद्धि के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है । यथा— **बुद्धि ज्ञानम् अनेन च स्मृति-चेतना धृत्यहकारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम् ।** अर्थात अध्यात्म गुण सग्रह मे जिन छह गुणों का

परिगणन किया गया है उनमें बुद्धि शब्द से स्मृति चेतना धृति और अहकार का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योकि ये चारो गुण बुद्धि विशेष होने से इनका स्वतन्त्र परिगणन नहीं किया गया है।

परादि सामान्य गुण

पर गुण है आदि मे जिसके ऐसे परादि गुण हैं। इन्हे सामान्य गुण भी कहा जाता है। पूर्वोक्त कमण्य सामान्य गुणो से सवथा भिन्न होने के कारण इन परादि गुणों का स्वतत्र पाठ किया गया है। इसके अतिरिक्त गुर्वादि २ गुणो की अपेक्षा आयुवद मे इनकी सख्या दस होती है। ये दस गुण निम्नलिखित हैं—

परापरत्वे युक्तिश्च सख्या संयोग एव च।
विभागश्च पथक्त्वच परिमाणमथापि वा॥
सस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा प्रोक्ता परादय॥

—चरक सहिता सूत्रस्थान २६/४७-४८

परत्व अपरत्व युक्ति सख्या सयोग विभाग पृथकत्व परिमाण सस्कार और अभ्यास ये परादि सामान्य गण कहलाते हैं।

ये परादि दस गण गुर्वादि गुणो की भाँति द्रव्यो के अन्त स्थित नही होते इनका प्रयोग बहिरग के रूप मे होता है। अत ये साधारण गुण होते हैं और साधारण होने से इन्हे सामान्य गुण कहा जाता है। इन गणो का ज्ञान प्राप्त कर लेने से चिकित्सा काय मे सुविधा होती है अत आयुवद मे इन गुणो का वणन किया गया है।

गुणो का परिचय

आयुर्वेद मे गुणो की कुल सख्या ४१ बतलाई गई है। यहा उन्ही गुणो का विस्तत परिचय दिया जा रहा है।

वशेषिक गुण

सख्या मे ये गुण ५ होते है। यथा शब्द स्पश रूप रस और गन्ध। इन गुणो का सामूहिक परिचय इसी गुण प्रकरण मे पहले दिया जा चुका है। यहाँ उनका एकैकश विस्तृत वर्णन किया जा कहा है।

शब्द

"श्रोत्र न्द्रियग्राह्यो गुण शब्द।
श्रोत्रग्राह्यो गण शब्दो ध्वनिर्वर्ण इति द्विधा।

'कार्यकारणोभयविरोधी सयोगविभाग शब्दज प्रदेशवृत्ति समानासमान जातीय करण।

आकाशादि पंचभूतिरात्काशस्य गुणो मतः ॥

'शब्दोऽम्बरगुण' श्रोत्रग्राह्य क्षणिक' । —प्रशस्तपाद

श्रोत्रोपलब्धिबु द्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगणाभिज्वलति आकाशदेश' शब्द ।

—महाभाष्य

जिस गुण का ग्रहण श्रोत्र न्द्रिय के द्वारा होता है वह शब्द कहलाता है । यह शब्द आकाश महाभूत का विशष गण है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत प्रधान होती है अत वह केवल शब्द का ही ग्रहण करती है अन्य का नही । इसी भाति शब्द का ज्ञान भी अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा नही होता । क्योकि अन्य इन्द्रियो मे आकाश महाभूत की प्रधानता नही होती । यह शब्द क्षणिक होता है । काय-कारण दोनो का विरोधी है । यह सयोग और विभाग तथा शब्द से उत्पन्न होने वाला है एक देश मे रहने वाला अर्थात अव्याप्त वत्ति वाला होता है । भूतान्तरानुप्रवेश होने के कारण यह पाचो महा भूतों में सामान्यत पाया जाता है ।

महाभाष्य के अनुसार शब्द उसे कहते हैं जो कान से सुना जाय बुद्धि जिसका भली भाति ग्रहण करे वाणी के द्वारा बोलने से (प्रयोग करने) से जो जाना जाय तथा आकाश जिसका स्थान हो ।

उत्पत्ति और भेद

संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्ति' ।

तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्ति—आत्ममनस सयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा तदनन्तर प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसयोगाद्वायौ कर्म जायते स चोर्ध्व गच्छन कण्ठा दीनभिहन्ति तत स्थानवायसयोगापेक्षमाणात स्थानाकाशसयोगात् वर्णोत्पत्ति ।

अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसयोगापेक्षाद भेर्याकाशसयोगादुत्पद्यते । वेणुपर्व विभागात् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च सयोगविभागनिष्पन्नाद वीचिसन्तानवच्छ-ब्दसन्तान इत्येव सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहण नास्ति परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति ।

—प्रशस्तपाद

अर्थात सयोग विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। भेरी दण्ड आदि के सयोग वेणु-पर्व (बास की गाठ) का विभाग तथा बीचीतरग न्याय के द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है । इनमे वर्ण लक्षणात्मक (अकरादि तथा कवर्गादि) शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—आत्मा और मन के सयोग से स्मति की अपेक्षा पूर्वक वर्ण के उच्चारण की इच्छा होती है । तत्पश्चात् प्रयत्न आरम्भ होता है । इस प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा और वायु का सयोग होने से वायु मे कर्म की उत्पत्ति होती

है तब वायु ऊपर की ओर आता हुआ कण्ठ (स्वरयन्त्र) आदि प्रदेश को आहत करता है, जिसके फलस्वरूप स्थानीय वायु के संयोग से वर्णोत्पत्ति होती है।

अन्य अवर्ण (ध्वनि) लक्षणात्मक शब्द भेरी (वाद्ययन्त्र) और दण्ड के संयोग से तथा भेरी आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणु पत्र के विभाग से तथा वेणु आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है। एतद्विध संयोग तथा विभाग से समुत्पन्न हुआ शब्द वीचीतरग न्याय से श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। क्योंकि शब्द स्वय श्रोत्र प्रदेश मे नही जाता और न श्रोत्र ही शब्द के पास आता है अपितु वीचीतरग न्याय से श्रोत्र के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। जिस प्रकार एक तरग से दूसरी तरग की दूसरी से तीसरी तरग की तीसरी से चौथी तरग की अर्थात् एक तरग से उत्तरोत्तर तरग की उत्पत्ति होती है उसी भाँति आकाश प्रदेश मे समुत्पन्न हुए शब्द की क्रमिक तरगो द्वारा प्रवृत्ति होती है जिससे श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दज्ञान होता है। यही वीची तरग न्याय कहलाता है।

शब्द सामान्यत दो प्रकार का होता है—वर्ण लक्षणात्मक और ध्वनि लक्षणात्मक। इसमे वर्ण लक्षणात्मक शब्द कवर्ग चवर्ग आदि पाँच वर्गों वाला होता है। ध्वनिलक्षणात्मक शब्द स्वर प्रधान होता है। इसमे अकारादि स्वरो का समावेश रहता है तथा शख मृदग भेरी मोटर आदि के स्वर (वर्ण रहित) शब्द इसके अन्तर्गत जाने जाते है। इन्हे अवर्ण लक्षणात्मक शब्द भी कहा जाता है।

वर्णात्मक शब्द पुन दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द राम नदी वृक्ष पर्वत वाराणसी आदि सज्ञा रूप मे तथा अस्ति भवति पचति गच्छति आदि क्रिया रूप मे होता है। ये शब्द अर्थ विशेष का ज्ञान कराते हैं। अत अर्थयुक्त होने से सार्थक कहलाते हैं। निरर्थक शब्द वे होते है जिनसे किसी अर्थ विशेष का बोध नही होता या जो अर्थरहित होते हैं। जैसे दैनिक व्यवहार मे प्रयुक्त होने वाले खाना वाना चाय वाय रोटी ओटी आदि। इनमे वाना वाय ओटी आदि ऐसे शब्द हैं जो अर्थ शून्य है अर्थात् उन शब्दो से किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं होता। व्याकरण के नियम के अनुसार निरर्थक शब्द पद नही बन सकते और उनके समूह से न वाक्य रचना ही सम्भव है।

सार्थक शब्द पुन दो प्रकार के होते हैं—मिथ्या और यथार्थ। मिथ्या शब्द मिथ्यापूर्ण, अज्ञान युक्त असत्य भ्रामक आडम्बर पूर्ण मिथ्या ज्ञान युक्त, निस्सार या तथ्य हीन तथा असगति युक्त होते हैं। ऐसे शब्द मनुष्यो का सही मार्ग दर्शन एव सम्यक् ज्ञानोपलब्धि कराने मे असमर्थ रहते हैं, अत उन्हें प्रमाण स्वरूप नहीं माना जाता।

इसके विपरीत यथार्थ शब्द प्रमाण की कोटि मे लिये जाते हैं। यथार्थ शब्दो में ही सम्यक ज्ञान की निधि का सचय रहता है। निर्मल ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषो द्वारा जिन वचनो या शब्दो का प्रयोग किया जाता है वे ही यथार्थ शब्द कहलाते हैं। **आप्त वाक्य प्रमाणम्** के अनुसार आप्त पुरुष जिन वाक्यो का प्रयोग करते हैं वे वाक्य शब्द समूह से निर्मित होते हैं वे शब्द यथार्थ होते हैं अत वे प्रमाण स्वरूप होते हैं। उन यथार्थ शब्दो से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह सम्यक ज्ञान कहलाता है और वही सम्यक ज्ञान प्रमाण होता है।

इस प्रकार शब्द के उपयुक्त भेद होते हैं। शब्द के उपयुक्त भेदो को निम्न तालिका के द्वारा सरलता पूर्वक समझा जा सकता है—
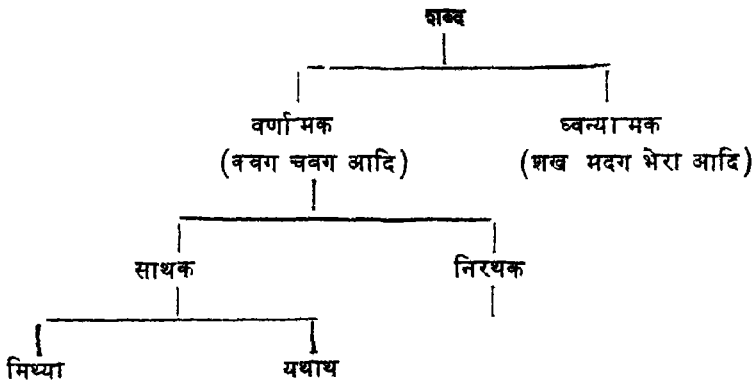
स्पर्श निरूपण

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य वायोर्वैशेषिको गुण ।
अनुष्णशीतशीतोष्णकाठिन्यादिप्रभेदवान् ॥

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्ति त्वग् सहकारी रूपानुविधायी शीतोष्णानुष्णशीतभेदात् त्रिविध । —प्रशस्तपाद

'त्वगिन्द्रियमात्र ग्राह्यो गुण स्पर्श ।

अर्थात् केवल स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है। यह स्पर्श वायु महाभूत का विशेष गुण होता है। त्वगिन्द्रिय मे वायु महाभूत की प्रधानता रहती है। अत उसके द्वारा केवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है अन्य गुण का नहीं। इसी भांति स्पर्श गुण का ज्ञान केवल त्वगिन्द्रिय के द्वारा होता है अन्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं। सामान्यत स्पर्श गुण वायु अग्नि जल और पृथ्वी मे होता है अन्य मे नहीं। यह बोधगम्य एव रूपानुविधायी होता है।

स्पर्श गुण के उपर्युक्त लक्षण में त्वचा मात्र से न कह कर यदि ऐसा कहा जाय कि त्वचा के द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है तो संख्या और संयोग गुण का भी त्वचा एवं नेत्र के द्वारा ग्रहण होता है इससे संख्या और संयोग मे भी स्पश का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। अत संख्या एवं सयोग गुण में अति व्याप्ति वारणार्थ 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार यदि गुण पद का प्रयोग नहीं किया जाता तो त्वचा मात्र द्वारा स्पशत्व जाति मे अतिव्याप्ति होती है अत उसके वाराणार्थ गुण पद का तथा रूपादि गुणो मे अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'त्वगिन्द्रियामात्रग्राह्य' पद का सन्निवेश किया गया।

स्पश तीन प्रकार का होता है—उष्ण शीत और अनुष्णशीत। अग्नि में उष्ण स्पश जल मे शीत स्पश और पृथ्वी तथा वायु मे अनुष्णशीत स्पश रहता है। इस प्रकार पृथ्वी जल तेज और वायु त्रिविध रूप स्पर्श के आधार हैं।

रूप निरूपण

चक्ष मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् —तर्क सग्रह

तत्र रूप चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भक नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकार सलिलादिपरमाणषु नित्य पार्थिवपरमाणुष्वग्निसयोगविरोधि सव कार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यति। —प्रशस्तप

रूपं चक्ष मात्रग्राह्यं तेजसस्तु गुण स्मृत।
तच्च सप्तविध नील पीतं रक्तादि भेदत॥

अथ—जिस गुण का ग्रहण केवल चक्ष इन्द्रिय के द्वारा होता है वह रूप कहलाता है। यह रूप अग्नि महाभूत का विशष गुण होता है। चक्ष इन्द्रिय अग्निमहाभूत प्रधान होती है अत चक्षु के द्वारा केवल अग्नि के विशष गुण रूप का ही ग्रहण होता है अन्य विषयों का नहीं।

यह रूप गुण पृथ्वी उदक और अग्नि मे रहता है। यह द्रव्य आदि का उपल म्भक है अर्थात् जिस द्रव्य में रूप गुण रहता है उस द्रव्यगत गुण कर्म और सामान्य (जाति) का अवबोध कराता है। यह नयन सहकारी है अर्थात् नेत्र की सहायता से इनका ज्ञान होता है। यह शक्ल आदि अनेक प्रकार का होता है। जल आदि (जल और तेज) के परमाणओं मे यह नित्य रूप रहता है। (कार्यभूत जल और तेज में अनित्य रूप होता है। पृथ्वी के परमाणु तथा महापृथ्वी मे भी अनित्य और पाकज रूप होता है।) पृथ्वी के परमाणुओ मे अग्नि संयोग का विरोधी है। सभी काय द्रव्यों मे कारण गुण के अनुसार रहता है। आश्रय के विनाश से इसका भी विनाश हो जाता है।

ऊपर रूप का जो लक्षण किया गया है उसमें यदि मात्र का सन्निवेश नहीं किया जाता तो संख्या संयोग आदि गुणों का ग्रहण चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय से भी होता है। इससे रूप का लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त हो जाता। इस दोष के निवारण के लिए ही मात्र पद का प्रयोग किया गया। संख्या संयोग आदि गुण चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं हैं। मात्र पद के प्रयोग से केवल चक्षु ही अभिप्रेत होता है, अत अतिव्याप्ति नहीं होती। उपयुक्त लक्षण मे गुण' पद का सन्निवेश भी महत्वपूर्ण है। चक्षुमात्र के द्वारा केवल रूप गण का ही ग्रहण नही होता अपितु रूपत्व जाति का भी ग्रहण होता है। चाक्षुर्मात्रग्राह्यो रूपम् ऐसा लक्षण करने से यह लक्षण रूपत्व जाति मे भी अतिव्याप्त हो जाता है। अत इस अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए गुणपद का सन्निवेश किया गया यदि केवल गुणो रूपम इतना ही लक्षण किया जाय तो अन्य रसादिगणो मे भी अतिव्याप्ति हो जाती है। इसके निवारण के लिए चक्षर्मात्रग्राह्य पद का सन्निवेश किया गया। इस प्रकार चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम यह रूप का एक निदुष्ट लक्षण बना।

यह रूप सात प्रकार का होता है। यथा—नील पीत रक्त हरित कपिश शुक्ल और चित्र। इन सातो ही प्रकार के रूप का आश्रय पृथ्वी जल और तेज है। पृथ्वी मे सातो प्रकार का रूप रहता है। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है। भास्वर शुक्ल रूप उसे कहते है जो स्वय प्रकाश रूप हो और जो वस्तुए उसके सम्पर्क मे आव उनको भी वह प्रकाशित करे। सूय विद्युत दीपक आदि का भास्वर शुक्ल रूप होता है। जो रूप श्वेत तो होता है किन्तु उसमे चमक नही होती उसे अभास्वर शुक्ल रूप कहते हैं। इस प्रकार का रूप जल मे पाया जाता है। जल मे प्रकाश हीन शुक्ल रूप होता है।

रस निरूपण

रसनाग्राह्यो गणो रस· —तर्क संग्रह

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥
—चरक संहिता सूत्रस्थान १/६३

रसो रसनाग्राह्य। पृथिव्युदकवृत्ति जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्त रसना सहकारी मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदभिन्न /अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो रूपवत्। —प्रशस्तपाद

रसस्तु रसनाग्राह्यो जलस्येव गुणो मत।
अव्यक्तो भूतसंसर्गात्स च षोढा विभिद्यते॥
रस्यते आस्वाद्यते इति रस।

अथ—रसना इन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है

वह रस कहलाता है। रस जल महाभूत का विशेष गुण होता है। रसना इन्द्रिय जल महाभूत प्रधान होती है अत वह केवल रस का ग्रहण करती है, अन्य विषयों का नहीं।

जल और पृथ्वी उसके आधार कारण हैं। रस की उत्पत्ति और उसके मधुर आदि भेद मे आकाश वायु और तेज ये तीन महाभूत निमित्त कारण होते हैं।

रसना के द्वारा ग्राह्य गुण रस कहलाता है। वह पृथ्वी और जल महाभूत मे रहता है। वह जीवन पुष्टि बल और आरोग्य को देने वाला है। रसना की सहायता से उसका ज्ञान होता है। मधुर अम्ल लवण कटु तिक्त और कषाय भेद से वह विभक्त है। वह भी रूप के समान ही नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है।

रस गुण के उपर्युक्त लक्षण मे गुण पद का सन्निवेश रसत्व जाति मे उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया गया है। क्योंकि रसना के द्वारा रस गुण के अतिरिक्त रसत्व जाति का भी बोध होता है। इससे गुण पद नही देने से रस का लक्षण रसत्व जाति में भी अतिव्याप्त हो जाता है। अत गुण पद दिया गया है। रसना ग्राह्य पद का सन्निवेश रूपादि गुणो मे अतिव्याप्ति के वारण के लिए किया गया है। क्योकि 'रसना ग्राह्य पद नहीं देने से अन्य इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य गुणो मे भी यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। इसके निवारण के लिए रसना ग्राह्य पद दिया गया है। इस प्रकार रसनाग्राह्यो गुणो रस' यह एक निर्दुष्ट लक्षण है।

यह रस छ प्रकार का होता है। यथा—

रसा स्वाद्वम्ललवणा तिक्तोषणकषायका ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहा ॥

—अष्टांग हृदय सूत्रस्थान अ० १

रसास्तावत् षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाया ।

— चरक संहिता विमान स्थान अ १

मधुर-अम्ल-लवण-कटु तिक्त-कषाय ये छह रस हैं जो द्रव्यो का आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस अधिक बल देने वाला है। जैसे-कषाय से कटु, कटु से तिक्त तिक्त से लवण लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर रस विशेष बल देने वाला होता है।

उपर्युक्त षड् विध रस की अभिव्यक्ति महाभूतो के उत्कर्षापकर्ष से होती है। यद्यपि रस का आधार जल और पृथ्वी महाभूत है तथापि मधुरादि भेद विभक्त विशेष रसो की अभिव्यक्ति मे आकाश वायु और तेज महाभूत भी सहायक होते हैं। अर्थात् पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता से मधुर रस पृथ्वी और अग्नि महाभूत की अधिकता से अम्ल रस जल और अग्नि महाभूत की अधिकता से लवण रस वायु और अग्नि महाभूत की अधिकता से कटु रस, वायु और आकाश महाभूत की अधिकता

से तिक्तरस तथा वायु और पथ्वी महाभूत की अधिकता से कषाय रस की अभिव्यक्ति होती है।

जल के परमाणु मे नि य रस और काय रूप जल मे अनित्य रस रहता है। पथ्वी मे अनित्य रस ही रहता है।

गन्ध निरूपण

घ्राणग्राह्यो गुणो ग ध । — तर्क सग्रह

ग धो घ्राणग्राह्य । पथ्वीवत्ति घ्राणसहकारी सुरिभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूववदुत्पास्यादयो व्याख्याता । — प्रशस्तपाद

घ्राणग्राह्यो गुणो ग ध क्षितेरेव गुणो मत।
स चापि द्विविधो ज्ञेय सौरभासौरभ त्वत ॥

अथ—घ्राण द्रिय के द्वारा जिस गुण का ग्रहण होता है वह ग ध कहलाता है। यह ग ध गण पथ्वी मे रहता है नासिका की सहायता से इसका बोध हाता है। यह सुरभि और असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी उत्पत्ति भी पूर्ववत रस के समान ही है। यह पथ्वी महाभूत का विशेष गण होता है। घ्राण द्रिय मे पथ्वी महा भत की प्रधानता रहती है अत वह केवल ग ध गण का ही ग्रहण करती है अ य विषयो का नही। इसी भाँति ग ध गण भी केवल घ्राण द्रिय के द्वाराग्राह्य विषय है अन्य इ द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही।

गण के उपयु क्त लक्षण निवचन मे गण पद का प्रयोग लक्षण की ग ध व जाति मे अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया है। अर्थात् घ्राण द्रिय के द्वारा ग ध गुण के अतिरिक्त ग ध व जाति का भी ग्रहण होता है इससे ग धत्व जाति मे लक्षण की अति याप्ति होती है। अत इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिए गुण पद का सन्नि वेश किया गया। इसी भाति रूपादि गणो मे अतिव्याप्ति के निवारण हेतु घ्राणग्राह्य' पद दिया गया है।

सामा यत ग ध दो प्रकार की होती है सुरभि (सुग ध) और असुरभि (दुग ध)। पुन यह दो प्रकार की होती है— उद्भूत (व्यक्त) और अनुद्भत (अव्यक्त)। मिट्टी लोहा आदि को सू घने पर सामान्यत ग ध की अनुभूति नही होती। कि तु उसे यदि तपा लिया जाय पश्चात उसे सू घा जाय तो गध की अनुभूति होने लगती है। अत लोहा मिटटी आदि मे स्थित इस प्रकारकी गध अनुद्भूत या अव्यक्त गध कहलाती है। इसके विपरीत पुष्प आदि की जो गध होती है वह दूर से ही बिना प्रयत्न के द्वारा प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार की गध उदभत या व्यक्त ग ध कहलाती है।

गन्ध पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण होने के कारण वह केवल पृथ्वी में ही रहता है अन्यत्र नहीं। अत पृथ्वी महाभूत की उपस्थिति रहने से गन्ध की अनुभूति होती है तथा उसकी उपस्थिति नही रहने से गन्ध की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा गन्ध की पृथ्वी में सिद्धि होने से जल आदि में गन्ध का जो भान होता है उसे पृथ्वी की ही गन्ध समझना चाहिए। इसी भांति वायु मे प्रतीत होने वाली गन्ध भी पृथिवी के कारण ही होती है।

कर्मण्य सामान्य गुण

गुरु लघु

यद्यपि इन दोनो के पृथक लक्षण होते हैं पुनरपि गुरु और लघु दोनो गुण वैपरीत्य दृष्टि से सापेक्ष्य होते है। अत दोनो का वर्णन एक साथ किया जा रहा है।

आद्यपतनासमवायिकारण गुरुत्वम।

यथाद्यपतने हेतुगुरुत्व तदुदाहृतम।

गुरुत्व जलभूम्यो पतनकर्मकारणम्। अप्रत्यक्ष पतनकर्मानुमेय सयोग-प्रयत्न सस्कारविरोधी। अस्य चावादिपरमाणरूपादिवन्नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तय

— प्रशस्तपाद

सादोपलेपबलकृद गुरुस्तर्पण बृहण।

—सुश्रुत सहिता सूत्रस्थान ४६/५१७

गुरु वातहर पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च।

— भावप्रकाश

अर्थ—प्रथम पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। अर्थात् वृक्ष से फल का जो प्रथम पतन होता है उसके असमवायि कारण भूत गुण का नाम 'गुरुत्व' है। जल और भूमि के पतन कर्म का कारण गुरुत्व है। यह अप्रत्यक्ष गुण है जो पतन कर्म के द्वारा अनुमान से जाना जाता है। यह सयोग प्रयत्न-सस्कार इन तीनो का विरोधी है। जिस प्रकार जल आदि के परमाणु के रूप नित्य और अनित्य होते हैं उसी प्रकार गुरुत्व भी नित्य और अनित्य होता है। अर्थात परमाणु रूप मे नित्य और कार्य रूप में अनित्य (आश्रय के नाश होने से नाश होने वाला) है।

आयुर्वेद के अनुसार गुरु गुण के कारण शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाए एव परिणाम होते हैं। गुरु गुण के कारण शरीर मे अवसाद उपलेप (मलवृद्धि) तथा बल की वृद्धि होती है। गुरु गुण तर्पक और बृंहण करने वाला होता है। जिस गुण के कारण शरीर पुष्ट होता है कफ पुरीषादि मल तथा बल की वृद्धि होती है वायु का क्षय और तृप्ति का अनुभव होता है—द्रव्यो में विद्यमान वह गुण गुरु कहलाता है।

गुरु गुण से विपरीत लघु गुण होता है। गुरु और लघु ये दोनो ही परस्पर विपरीत एव सापेक्ष्य गण होते है। लघ गुण शरीर मे निम्न क्रियाओ का सम्पादक होता है—

लघुस्तद्विपरीत स्या लेखनो रोपणस्तथा।

—सुश्रुत सहिता सूत्रस्थान ४६५१८

लघु पथ्य पर प्रोक्त कफघ्न शीघ्रपाकि च —भावप्रकाश

अथात गरु से विपरीत लघ गण लेखन (कफ को शिथिल करना) तथा रोपण (घावा को भरना) करने वाला होता है। यह प य होता है कफ का नाश करने वाला तथा शीघ्रपाकि (शीघ्र पचने वाना) होता है।

ग द्रव्या मे पथिवी और जल महाभत की अधिकता रहती है तथा लघ द्रव्य आकाश वाय और अग्नि महाभत की अधिकता वाले होते है।

शीत—उष्ण

ल्हावन स्तम्भन शीतो मूर्च्छातटस्वददाहजित।

उष्ण स्तद्विपरीत स्यात पाचनश्च विशषत ॥

—सश्रत सहिता सूस्थान ४६/५१५

शीन गुण सामा यत शीतल क्रिया एव शीत स्पश का द्योतक है। शीत गुण उष्णताभिभत व्यक्ति को तप्ति एव आनन्द देने वाला होता है। शीतगण के कारण ही शरीर तथा बाह्य जगत की उष्णता का शमन होता है। यह आल्हाद अर्थात प्रसन्नता कारक तथा स्तम्भक अर्थात वमन अतिसार रक्तस्राव आदि वहनशील (बहने वाले) भावो को रोकता है अथवा उनकी गति को म द कर देता है किंवा शरीर मे सचार करने वाले (गतिशील) द्रव पदार्थों की गति को म द कर देता है। इसके अतिरिक्त जो मूर्च्छा पिपासा स्वेद और दाह का शमन करता है द्रव्य मे स्थित उस गुण को शीत कहते हैं।

शीत गुणवाले द्रव्यो मे जल महाभत की प्रधानता होती है और गौण रूप से पृथ्वी और वायु महाभूत विद्यमान रहते है। यह स्पश मे शरीर के बाह्य भाग को ठण्डा करता है। अन्तिम परिणिति भी शीत ही होने से इसके सेवन के अनन्तर शरीर के अ दर भी शीलतता का सचार करता है।

इसके अतिरिक्त जो गुण शीत के नितान्त विपरीत होता है कष्टकारक स्वेद मूर्च्छा पिपासा और दाह को उत्पन्न करने वाला वमन आदि क्रियाओ को उत्पन्न

करने अथवा बढ़ाने वाला होता है वह उष्ण कहलाता है। उष्ण गुण पाचन करने वाला अर्थात् खाए हुए अन्नपान को पका कर रस रूप में और रस को रक्तादि रूप में परिणत करने वाला पाचन क्रिया को बढ़ाने वाला तथा आम (अपक्व) व्रणों का पाक करने वाला होता है।

उष्ण गुण वाले द्रव्यों में अग्नि महाभूत की अधिकता होती है।

स्निग्ध रूक्ष

स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीत स्याद् विशेषात् स्तम्भन खर॥

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६।५१६

स्निग्ध वातहर श्लेष्मकारि वृष्य बलावहम्।
रूक्ष समीरणकर पर कफहर मतम्॥

—भाव प्रकाश पूर्वखण्ड

स्नेहोऽपा विशेषगुण। सग्रहमृजादिहेतु। अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तय। —प्रशस्तपाद

जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर मे स्निग्धता मृदुता बल और वर्ण (कान्ति) की वृद्धि करता है जिस गुण से शरीर मे वृष्यता होती है वायु का शमन और कफ का पोषण (वृद्धि) होता है तथा बल की वृद्धि होती है वह स्निग्ध गुण कहलाता है।

स्निग्ध गुण वाले द्रव्यो मे जल महाभूत की अधिकता रहती है। स्नेह जल का विशेष गुण है। पिण्डीभाव के हेतु (कारण) का नाम स्नेह है तथा वस्तु मे मृदुता आदि भी स्नेह के कारण ही होती है। स्नेह भी गुरुत्व के समान नित्य और अनित्य है। सामान्यत लोक भाषा मे चिकनापन ही स्नेह कहलाता है। यह स्नेह या चिकनापन ही वस्तुओ के फैले हुए कणो का सग्राहक अथवा पिण्डीभूत करने वाला होता है। धूल (मिट्टी) आटा आदि का पिण्ड जो जल डालकर बनाया जाता है उसको पिण्डी भाव कहते हैं। आटे या मिट्टी का एतद्विध पिण्डीभाव जलगत स्नेह के कारण होता है। आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिस गुण युक्त द्रव्य मे शरीर को आर्द्र करने की शक्ति होती है वह स्निग्ध होता है।

इसके विपरीत रूक्ष गुण होता है। रूक्ष गुण वाले द्रव्य शरीर मे रूक्षता कठिनता आदि उत्पन्न करने वाले वायु को बढ़ाने वाले तथा कफ का शमन करने वाले होते हैं। रूक्षगुण वाले द्रव्यों में पृथिवी और वायु महाभूत की अधिकता होती है।

आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिसमें शोषण करने की शक्ति होती है उसे रूक्ष कहते

हैं। वैशेषिक दर्शन मे स्नेहाभाव को ही रूक्ष माना गया है। अत पृथक् से उसका कथन नहीं किया है।

मन्द-तीक्ष्ण

मन्दो यात्राकर स्मत । —सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६/५३२
यात्राकर इति शरीरस्थायित्वाद्देहस्य यात्रावर्त्तनं करोति।

जिस गण के कारण द्रव्य अपनी समस्त क्रियाय मन्द गति से अल्पता शिथिलता और चिरकाल पूवक करता है वह मन्द कहलाता है। मन्द गुण वाले द्रव्य पृथ्वी महाभूत की अधिकता वाले होते हैं।

आचाय हेमाद्रि के अनुसार जिसमे शमन करने की शक्ति हो उसे मन्द कहते हैं।

तीक्ष्ण पित्तकर प्रायो लेखन कफवातहृत । —भाव प्रकाश

दाहपाककरस्तीक्ष्ण स्रावणो । —सश्रुत संहिता सत्रस्थान ४६/५१६

तीक्ष्ण गुण प्राय पित्त का प्रकोप करने (बढाने) वाला लेखन क्रिया करने वाला तथा कफ व वायु का नाशक होता है। जिस गण के कारण द्रव्य दाह पाक अथवा स्राव उत्पन्न करता है वह तीक्ष्ण कहलाता है। तीक्ष्ण गण वाले द्रव्या मे अग्नि महाभूत की अधिकता रहती है।

आयुवद के आचार्यों मे इस गण युग्म (मन्द तीक्ष्ण) के विषय मे किंचित विरोधाभास या वमन्य प्राप्त हाता है। मन्द गण के विषय मे तो सभी आचाय एकमत है किन्तु तीक्ष्ण गण के विषय मे कछ मत भिन्नता है। महर्षि चरक ने मन्द का विरोधी गण तीक्ष्ण माना है जबकि सुश्रत और भावमिश्र ने मन्द गण का विरोधी गुण आशु या आशुकारी माना है। यद्यपि सुश्रत ने भी तीक्ष्ण गण का वणन किया है किन्तु वह भिन्न अथ वाला है। जसा कि सुश्रुताक्त उपयुक्त तीक्ष्ण गण के लक्षण से स्पष्ट है। व्यवहारिक रूप से तीक्ष्ण शब्द सुश्रतोक्त अथ म ही प्रचलित है। सुश्रुत न तीक्ष्ण का विरोधी गण मदु बतलाया है। चरक ने भी मदु गण का उल्लेख किया है किन्तु सुश्रुतोक्त अर्थ मे नही। चरक ने से कठिन विरोधी गुण के रूप मे वर्णित किया है। इसके आतिरिक्त यहा यह भी स्मरणीय है कि सुश्रत ने मन्द विरोधी गुण व्यवायी विकासि और आशुकारी माना है। इन तीनो गुणो को अशुकारी गुण के ही अन्तगत मानकर उन्हे आशुकारी का ही भेद मान लिया जाय तो विंशति सख्या का निर्वाह हो जाता है और सुश्रत ने गणो की सख्या अनेक स्थलो पर बीस लिख कर भी जो बाइस गुणो के नाम और लक्षणो का निदश किया है उसका भी समुचित समाधान हो जाता है। सुश्रुत ने व्यवायी विकासी और आशुकारी गुणो के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेव धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ।
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद् धावत्यम्भसि तैलवत् ॥

—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ४६/५२२ २३

अथ जिस गुण के कारण द्रव्य परिपाक होने के पूर्व ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फैल जाय और बाद मे वह पाक को प्राप्त हो वह 'व्यवायी' गुण कहलाता है। जिस गण के कारण द्रव्य व्यवायी द्रव्य की भाँति अपक्वावस्था मे ही प्रथम शरीर मे व्याप्त होकर धातओ और धातु बधों को शिथिल (स्थानच्युत) करे उसे 'विकासी' कहते हैं। जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर मे उसी भांति फल जाय जैसे पानी मे तैल फैल जाता है तथा शरीर मे फैलने के बाद शीघ्रतापूर्वक अपनी क्रिया करे उसे 'आशु' या आशुकारी कहते हैं।

महर्षि चरक ने विशति गुणो का उल्लेख किया है उनमें व्यवायी विकासी और आशुकारी गणो का निदश नही मिलता। किन्तु अन्य प्रकरण (मद्य और विष के वर्णन प्रसग) मे इन गुणो का निदश करते हुए वहा मद्य मे उक्त तीनो गुण बतलाए हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सास्थान के ही अध्याय २३ के २४ वें श्लोक मे उन्होंने विष के लक्षणो मे भी इन तीनो गणो का अस्तित्व स्वीकार किया है। चरक ने बस गुणो का निर्देश आहार गुणो के रूप मे किया है और उपयुक्त तीनो गुण सामान्यत आहार द्रव्यो मे नही होते। ये तीनो गुण मुख्यत औषध के गुण होते हैं। अत चरक मे विशति गुणो के अन्तगत इन गुणो का उल्लेख नही होना गुणो की सख्या की दृष्टि से मौलिक मतभेद का ज्ञापक नही माना जा सकता।

स्थिर सर

स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः। —भाव प्रकाश पूर्व खण्ड

'सरोऽनुलोमन प्रोक्त। —सुश्रुत सहिता सूत्रस्थान ४६/५२२

अथ—जिस गुण के कारण आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य वायु और मल का स्तम्भन करते हैं अर्थात् उन्हे अधोमार्ग से निकलने से रोकते हैं वह स्थिर गुण कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण अधोमाग द्वारा वायु और मल की प्रवृत्ति होती है वह सर गुण कहलाता है।

गतिशील अथवा चलायमान द्रव्य जिस गुण के कारण बाधित गति होकर रुक जाय वह गुण स्थिर कहलाता है। स्थिर गुण मुख्य रूप से पृथ्वी महाभूत का है अत स्थिरता कारक द्रव्य पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। आयुर्वेद मे स्थिर गुण स्तम्भन का द्योतक होता है। जब शरीर में से मल मूत्र या अन्य किसी द्रव्य की अति मात्रा मे प्रवृत्ति होने लगती है तो उसकी गति अवरुद्ध करने के लिए स्थिर गुण वाले किसी

पार्थिव द्रव्य का प्रयोग किया जाता है जिससे मल आदि का बहिर्निसरण बन्द हो जाता है। आयुर्वेद मे यह क्रिया स्तम्भन कहलाती है। अतिसार ग्रहणी प्रवाहिका रक्तपित्त आदि व्याधियों मे तथा शुक्र का विकृति रूप मे अथवा अधिक मात्रा मे स्खलन या स्राव होने पर उसे रोकने या मल मूत्र रक्त आदि की अति प्रवृत्ति अथवा उनके बहिर्निसरण को रोकने के लिए स्तम्भन क्रिया करने वाले स्तम्भक द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है। ये स्तम्भक द्रव्य स्थिर गुण प्रधान होते है।

इसके विपरीत गुण का नाम **सर** है। आयुर्वेद के कुछ विद्व जन स्थिर के विपरीत गुण को चल मानते है। वस्तुत सर और चल म कोई मौलिक भेद नही है। दोनो एक ही गुण के पर्यायवाची नाम है। सर गुण के कारण द्रव्य जिस कर्म को करता है वही कर्म **चल** गुण के कारण भी होता है। **सर** या **चल** गुण अप महाभूत प्रधान द्रव्यो मे पाया जाता है। इस गुण के कारण अवरुद्ध गति वाले पदार्थ (पुरीष मूत्र शुक्र आदि) गतिशील हो जात है और शरीर के बाहर उनका निसरण होने लगता है। जो द्रव्य सर अथवा चल गुण प्रधान होते हैं व स्रसक सारक रेचक भेदक आदि पर्याया के द्वारा व्यवहृत होते है। सर गुण के कारण पुरीष द्रव्य अधिक तीव्रगति से गुदमार्ग की ओर प्रवाहित होता है। इसी भाँति अन्य द्रव्य भी सर गुण के कारण अत्यन्त तीव्रगति वाले हो जाते है।

मृदु कठिन

यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्ति स मृदु दृढ़ने कठिन।

—अष्टाग हृदय सूत्रस्थान१।१ पर हेमाद्रि

अर्थ —जिस गुण के कारण द्रव्य (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग के द्वारा) शरीर के एकाग अथवा सर्वांग को शिथिल करे वह मृदु कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग के द्वारा) एकाग अथवा सर्वांग को दृढ करे वह कठिन कहलाता है।

व्यवहारिक रूप से मृदु और कठिन दोनो गुण स्पर्शन इन्द्रियगम्य भाव है। किसी भी वस्तु की मृदुता अथवा कठिनता का ज्ञान त्वचा के द्वारा स्पर्श करने पर ही होता है। जैसे स्पर्श के द्वारा ही ज्ञात होता है कि स्पज एक मृदु द्रव्य है तथा पत्थर एक कठिन द्रव्य है। किन्तु आयुर्वेद में शरीर के अन्दर तत्तत गुणो के द्वारा होने वाला प्रभाव ही यहा ग्राह्य है। जब कोई आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य ग्रहण किया जाता है तब वह द्रव्य अपने गुणो के आधार पर विशिष्ट क्रिया करता है और तज्जनित परिणाम तदनुकूल गुण की ओर सकेत करता है। इसी भाँति मृदु और कठिन गुण भी स्वानुकूल परिणाम के प्रति उत्तरदायी हैं। अर्थात् मृदु गुण वाले आहार या औषध

द्रव्यो का सेवन करने पर शरीर मे अथवा शरीरगत मलादिको मे शिथिलता आ जाती है। जिस प्रकार सूखी मिट्टी का ढेला जल का सयोग पाकर शिथिल (मृदु) हो जाता है उसी भाँति शरीर अथवा शरीरगत भाव मृदु गुण वाले द्रव्यों के सयोग से शिथिल (मृदु) हो जाते है। मृदु गुण वाले द्रव्यो मे आकाश और जल महाभूत के गुणो की अधिकता रहती है।

इसके विपरीत कठिन गुण वाले द्रव्यो मे पथ्वी महाभूत के गुणो की अधिकता रहती है। कठिन गुण वाले द्रव्यो का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर शरीर के अवयवों तथा मल आदि द्रव्यो मे कठिनता उत्पन्न होती। शरीर मे अनेक बार ग्रन्थि या अबु द (उभार) की प्रतीति होती है जो स्पर्श करने पर कठिन लगती है। कठिन गुण वाले द्रव्य के प्रयोग का ही यह परिणाम होता है जो उससे ग्रन्थि अथवा अर्बुद की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त अनेक बार शरीर के किसी एक भाग मे कुछ काठिन्य का अनुभव होता है जो वकारिक परिणाम होता है। वह भी कठिन गुण के कारण ही होता है। मल (पुरीष) का कठिन हो जाना अवयवों का कठिन हो जाना अथवा माँस पेशियो की कठिनता कठिन गुण क कारण होती है।

सुश्रु त न मदु का विरोधी गण कठिन न बतला कर तीक्ष्ण बतलाया है उन्होने तीक्ष्ण को क्षार स्वभावी गण माना है। अत उसका विपरीत गण मदु बतलाया है। महर्षि च क एव वाग्भट मदु एव कठिन को ही परस्पर विरोधी गुण मानते हैं। यहा इन्ही के मत का प्रतिपादन किया गया है।

पिच्छिल विशद

पिच्छिलो जीवनो बल्य सधान श्लेष्मलो गरु ।
विशदो विपरीतोऽस्मात क्लेदाचषणरोपण ॥

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६/५१७

पिच्छिलस्तन्तुलो बल्य सधान श्लेष्मलो गुरु ।
क्लेदच्छेदकर ख्यातो विशदो व्रणरोपण ॥

—भावप्रकाश पूर्वखण्ड

'यस्य द्रव्यस्य लेपने शक्ति स पिच्छिल'। —हेमाद्रि

अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य जीवन कारक (प्राणो को धारण करने वाला) बल्य (बल देने वाला) सधान कारक (भग्न अस्थि को जोड़ने वाला) कफ वर्धक गुरु और तन्तुमान (जो शक्कर की चासनी के सामान तार युक्त होता है) हो वह पिच्छिल कहलाता है। इसके विपरीत विशद गुण होता है। विशद गुण के कारण द्रव्य

क्लेद (त्वचा व्रण शरीरावयव आदि मे स्थित द्रवाश) का शोषण तथा व्रण का रोपण करने वाला होता है जिससे शरीर मे आर्द्र भाव का विनाश होता है। जिसमें लेपन करने की शक्ति होती है वह पिच्छिल होता है।

पिच्छिल गुण वाले द्रव्य सामान्यत जल महाभत की प्रधानता वाले होते हैं। बाह्य रूप से पिच्छिल गुण वाले द्रव्य साधारणत वे होते हैं जो देखने मे गीले कुछ चिकने और स्पश करने मे चिपचिपे से लगते हैं। जसे—आर्द्र गोद या भिन्डी के अन्दर स्थित लेसदार पदार्थ। पिच्छिल गुण वाले द्रव्यो मे सामान्यत त तलता पाई जाती है। अर्थात उनका छेदन या विभक्तीकरण करने पर उनमे तार का सा निर्माण होने लगता है और उनमे चिपकाने का वशिष्टय पाया जाता है।

आभ्यन्तरिक रूप से पिच्छिल गण वाले द्रव्यो का प्रयोग करने पर ये जीवन दायी अर्थात जीवन को स्थिर रखने वाले होते हैं। आयुवद मे जो द्वादश (अग्नि सोम वायु सत्व रज तम पाँच इन्द्रिया और भूतात्मा) प्राण बतलाए गए है। इनके प्रीणन कम मे पिच्छिन गण सहायक होता है। यह गण शरीर मे बल कारक होता है अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यो का सेवन करने से शरीर मे बल की वद्धि होती है। शरीर मे सदव टट फट की क्रिया होती रहती है। इसकी पूर्ति भी पिच्छिल गुण वाले द्रव्यो के द्वारा होती है। शरीर मे कोषो म जो टट फट होती रहती है उसके सधान का काय भी पिच्छिल गण वाले द्रव्यो के द्वारा होता है। जल महाभूत की अधिकता के कारण पिच्छिल गण वाले द्रव्य प्राय कफ को बढाने वाले एव गुरु गुण युक्त होते हैं।

इसके विपरीत विशद गण के द्वारा आर्द्रता या क्लि नता का विनाश होता है। विशद गण वाले द्रव्या मे पृथ्वी एव वायु महाभत की प्रधानता होती है जिससे क्लेद का शोषण होता है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न भागो मे स्थित द्रवाश का आचूषण (शोषण) होने के कारण यह व्रण का रोपण करने वाला होता है। क्योकि क्लेद के अभाव मे व्रण मे पूय का निर्माण नही हो पाता जिससे शीघ्रता पूवक व्रण का रोपण होता है। आचाय हेमाद्रि के कथनानुसार जिसमे क्षालन करने की शक्ति होती है उसे विशद कहते है।

श्लक्ष्ण खर

श्लक्ष्ण पिच्छिलवज्ज्ञेय कर्कशो विशदो यथा।

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६/५२१

यस्य द्रव्यस्य रोपणे शक्ति स श्लक्ष्ण लेखने खर।

—अष्टाग हृदय सूत्रस्थान १/ १ पर हेमाद्रि

श्लक्ष्ण स्नेह विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कण।

—भावप्रकाश पूर्वखण्ड

अर्थ—श्लक्ष्ण गुण पिच्छिल के समान ही होता है। अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों के द्वारा जो कर्म सम्पादित किए जाते हैं वे ही कर्म श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों के द्वारा भी किए जाते हैं। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि पिच्छिल द्रव्य आर्द्रता या क्लेद युक्त स्निग्ध होता है तथा श्लक्ष्ण द्रव्य स्नेह रहित होता हुआ भी कठिनता युक्त चिकना होता है। श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य मे रोपण शक्ति होती है। अर्थात् वह व्रण का रोपण करने वाला होता हैं। आचाय हेमाद्रि के अनुसार जिस द्रव्य मे रोपण करने की शक्ति होती है वह श्लक्ष्ण गुण वाला होता है।

इसके विपरीत खर गुण होता है। उसे कर्कश भी कहा जाता है। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य विशद गण के समान ही होते है और विशद की ही भांति क्रिया करते हैं। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य अपने खरत्व गण के कारण व्रण आदि के उभरे हुए भाग के लेखन (छीलने) का काय करते है।

यहां पर श्लक्ष्ण गण को पिच्छिल गुण के समान बतलाया गया है। आभ्यन्तरिक प्रयोग की दृष्टि से दोनो गुण तथा दोनो गुण वाले द्रव्य समान ही होते हैं। किन्तु बाह्य दष्टि से दोनो गुणो मे अन्तर होता है। पिच्छिल गुण क्लिन्नता एव स्निग्धता लिए हुए चिकना होता है। इस गुण वाले द्रव्य प्राय द्रव या द्रवाश युक्त होते है। किन्तु श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य प्राय द्रवाश एव स्नेहाश (स्निग्धता) रहित कठिनता युक्त चिकने होते हैं। जैसे पालिश की हुई लकडी मणि संगमरमर आदि। स्निग्धता के अभाव मे भी इनका स्पर्श चिकना ही प्रतीत होता है। मछली श्लक्ष्ण गुण का ही एक उत्तम उदाहरण है। उसमे श्लक्ष्णता इतनी अधिक मात्रा मे होती है कि हाथ मे रखते ही तत्काल फिसल जाती है।

श्लक्ष्ण गुण के विपरीप खर गुण होता है जो खुरदुरेपन की ओर सकेत करता है। इसमे वायु और पृथ्वी महाभूत के गुणो की प्रधानता होती हैं। आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर खर गुण वाले द्रव्य शरीर मे सचित श्लेष्मा, वसा अथवा दोष सघात का छेदन-भेदन कर उसे खुरच कर कणश रूप में विभक्त कर देता है ताकि वे कणश किए गए अश शरीर के बाहर निकाले जा सकें। खर गुण के द्वारा किया जाने वाला खुरचने का कार्य ही लेखन कहलाता है। अनेक व्याधियो मे लेखन कर्म की उपयोगिता रहती है। जिस प्रकार शरीर मे लगे हुए मैल को खुरदुरे पत्थर से खुरच कर निकाला जाता है उसी प्रकार अन्त शरीर में स्थित दोष सघात को खुरचना खर गुण वाले द्रव्य का ही कार्य है। इसमें वायु और पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है।

सूक्ष्म स्थूल

सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात सूक्ष्मेष स्रोतस्वनसर स्मृत ।

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६।५२४

स्थूल स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत ।

देहस्य सूक्ष्मछिद्रेषु विशद यत सूक्ष्ममुच्यते ।। —भावप्रकाश

यस्य द्रव्यस्य विवरणे शक्ति स सूक्ष्म सवरण स्थूल ।

—अष्टांग हृदय सूत्रस्थान १।१८ पर हेमाद्रि

अर्थ जिस गण क कारण द्र य सक्ष्म (बारीक) स्रोतो मे भी प्रविष्ट हो जाता है उस सक्ष्म कहते है। सक्ष्म गण वाले द्रव्या म स्रोतो के विवरण का—उ हे विस्तत करने का सामथ्य होता है। इसक विपरोत जिस गण के कारण द्रव्य स्रोतो को अवरुद्ध करना है (और व्य को उनम प्रविष्ट होकर अपना कम करने मे रोकता है) वह स्थल कहलाता है। जिस द्र य मे विवरण (स्रोतो को खोलने) की शक्ति होती है वह सूक्ष्म गुण होता है। जिस द्रव्य मे सवरण (स्रोतो वरोध करने) की शक्ति होती है वह थल होता है।

सक्ष्म और स्थल गण सामा यत अ य गणो की भाँति इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य अथवा प्र यक्ष गम्य नही हैं। जिस प्रकार स्निग्ध रूक्ष मदु-कठिन श्लक्षण खर आदि गणो को इन्द्रिया के द्वारा ग्रहण कर जाना जा सकता है उस प्रकार सक्ष्म स्थल गण बोधगम्य नही है। इन गणो के आधार पर द्रव्य क द्वारा जो कम किया जाता है त जनित परिणाम के द्वारा ही इन गणो का बोध हाता है। जसे तल सूक्ष्म गुण वाला होता है। किन्तु उसकी सक्ष्मता सामा यत प्रतीत नही होती। जब शरीर पर उसका अभ्यग (मालिस) किया जाता है तब व अपने सू म गण के कारण ही शरीर के सक्ष्म स्रोता (रोमकपो) मे प्रविष्ट होकर अपना कम करता है। इसी भाति सक्ष्म गुण वाले जिन द्रव्यो का आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है व अपन गण के कारण सक्ष्म स्रोतो मे प्रविष्ट होकर स्रोतो के द्वार को खाल देते हैं। सक्ष्म गुण वाले द्रव्य आकाश और वायु महाभूत प्रधान होते हैं।

इसके विपरीत थल गण वाले द्रव्य स्रोतो के मख को अवरुद्ध करने वाले होते हैं। जैसे ज्वर उत्पन्न होने के पूव दाष स्थूल गण के कारण सम्पूर्ण शरीर के त्वचा न्तगत समस्त रोम छिद्रो मे व्याप्त होकर स्थित हो जाते हैं जिससे रोककपो का माग अवरुद्ध हो जाता है और उस माग से निकलने वाला स्वेद एव ताप बाहर नही निकल पाता है। परिणामत ज्वर प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त स्थूल गण सामा यत स्थूलता कारक भी होता है स्थल गुण वाले द्रव्यो मे पृथ्वी और जल महाभूत के गुणों

की प्रधानता रहती है। स्थल गुण में पार्थिव एवं आप्य महाभूतों के गुणों की प्रधानता होने से तद्गुण वाले द्रव्य स्वसमान धातुओं की पुष्टि करने वाले धातुवर्धक एवं देह पुष्टिकर भी होते हैं। किन्तु मख्य रूप से वे स्रोतों मे अवरोध ही उत्पन्न करते हैं।

सूक्ष्म गुण युक्त द्रव्य सामान्यत विवरण शक्ति प्रधान एव स्थूल गुण युक्त द्रव्य सवरण शक्ति प्रधान होते हैं।

द्रव सान्द्र

द्रव प्रक्लेदन साद्र स्थूल स्याद् बन्धकारक ।

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४६।५२

द्रव प्रक्लेदनो व्यापी शुष्क स्याद् बन्धकारक ।

—डल्हण निर्दिष्ट पाठान्तर

द्रव क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतक । —भाव प्रकाश पूर्व खण्ड

द्रवत्व स्यन्दनकर्मकारणम । —प्रशस्तपाद

अर्थ जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर मे आद्रता उत्पन्न करता है और व्याप्त होने की प्रवत्ति रखता है वह द्रव कहलाता है। द्रव गुण मख्यत स्यन्दन (वहन) कर्म मे कारण होता है। जहा द्रवत्व गुण विद्यमान रहता है वहा स्यन्दन कर्म की प्रवत्ति अवश्य होती है।

द्रव गुण के विपरीत सान्द्र गुण होता है जो अवयवो मं शुष्कता अथवा आद्रता का अभाव उत्पन्न करने वाला होता है। सान्द्र गुण को कही कही शुष्क गुण भी कहा गया है। किन्तु दोनो के अभिप्राय मे कोई अन्तर नही है।

द्रव गुण प्रधान द्रव्यो मे सामान्यत जल महाभूत की प्रधानता होती है। जल महाभूत वाले द्रव्य ही स्यन्दन कर्म मे प्रवृत्ति वाले होते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जिनमे द्रवत्व गुण दृष्टिगोचर नही होता। जैसे बर्फ ओला आदि। अत इस आधार पर द्रवत्व गुण दो प्रकार का होता है—१ **सांसिद्धिक** तथा २ **नैमित्तिक**। स्वत सिद्ध द्रवत्व का नाम **सांसिद्धिक** है और (तेजोरूप) निमित्त के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले द्रवत्व का नाम **नैमित्तिक** है। जल मे द्रवत्व गुण स्वत सिद्ध होने से सांसिद्धिक है और पृथ्वी तथा तेज मे तन्निमित्त के कारण होने से नैमित्तिक है। जैसे सुवर्ण आदि धातु।

इसके विपरीत सान्द्र गुण बतलाया गया है। महर्षि सुश्रुत ने सान्द्र को ही द्रव का विरोधी गुण बतलाया है। किन्तु टीकाकार आचार्य डल्हण एवं भावमिश्र ने द्रव का विरोधी गुण 'शुष्क' निर्दिष्ट किया है। द्रव गुण की विपरीतता के कारण सान्द्र या शुष्क गुण बन्धकारक होते हैं। बन्धकारक का अभिप्राय स्रोतो विबन्धकारक

या स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करने वाला समझना चाहिए। सान्द्र गुण भी स्थूल के समान ही कार्यकारी होता है। सान्द्र गुण वाले द्रव्य प्राय पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। यदि उनमे नितान्त शुष्कता व्याप्त हो तो तेज का अश एव कुछ क्लिन्नता व्याप्त हो तो आप्य अश की विद्यमानता समझना चाहिए।

उपयुक्त गुर्वादि बीस गुण (गुरु-लघु शीत उष्ण स्निग्ध रुक्ष मन्द-तीक्ष्ण स्थिर-सर, मृदु-कठिन विशद पिच्छिल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म-स्थूल सान्द्र द्रव) सामान्य गण कहलाते हैं। आयुवद शास्त्र मे इन गुणो की उपयोगिता मुख्यत चिकित्सा कार्य के लिए होती है। अत इसी दष्टि से यहा इन गुणो का विवेचन किया गया है। प्रायोगिक रूपेण ये गुण अत्यन्त उपयोगी होते है। इन गुणो मे प्रारम्भ के आठ गुणो (गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष विशद पिच्छिल) को रस वैशशिक मे कमण्य गुण कहा गया है। क्योकि ये आठ गुण ही विशष उपयोगी एव अपेक्षित होते हैं। इन आठ गुणो के आधार पर ही द्रव्य अपनी क्रियाओ को करने मे समथ होता है अथवा द्रव्य मे अन्य गणा के रहने या न रहने पर भी इनमे से कोई एक या अधिक गण अवश्य होते हैं। इसीलिए चरक सुश्रुत आदि सहिता ग्रन्थो मे नागाजुनोक्त इन अष्ट विध कर्मण्य गणो को वीय भी कहा गया है। इसी आधार अष्टविध वीयवादी मत प्रचलित हुआ है। अर्थात् जो विद्वान अष्टविध वीय का प्रतिपादन करते है वे इन्ही आठ गुणो के आधार पर अष्टविध वीय की कल्पना करते है। वसे आयुवद मे सामान्यत द्विविध (शीत उष्ण) वीय ही सव सम्मत है।

आध्यात्मिक गुण

बुद्धि निरूपण

सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धि अनव्यवसायगम्य ज्ञानत्वमेव लक्षणम

—तत्व दीपिका

व्यवहारमात्रहेतुर्ज्ञानं बुद्धि प्रकीर्तिता।
सा चापि द्विविधा ज्ञेया ह्यनुभति स्मतिस्तथा॥

अर्थ—समस्त व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। अथवा अनुव्यवसाय गम्य ज्ञान बुद्धि है—ऐसा दीपिकाकार का मत है। पदार्थ मात्र का ज्ञान प्राप्त करना व्यवसाय है और उस व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। जैसे यह घट है घट का एतिद्रिय प्रथम चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है। तत्पश्चात् मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है इस प्रकार का जो पुन ज्ञान होता है वह अनुव्यवसाय कहलाता है। यह अनुव्यवसाय रूप जो ज्ञान होता है वही बुद्धि कहलाती है। श्री शिवादित्य ने आत्मा का

आश्रय करके स्थित रहने वाले प्रकाश को बुद्धि संज्ञा द्वारा सम्बोधित किया है। सांख्य दर्शन के आचार्य प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप अहंकार तत्व के परिणाम महत्तत्व रूप अन्तःकरण विशेष को बुद्धि मानते हैं और निर्मल बुद्धि जनित परिणाम ही उनकी दृष्टि में ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार बुद्धि विषयक अनेक मत होते हुए भी उनमे कोई मौलिक एवं स्थूल मतभिन्नता परिलक्षित नहीं होती।

सांख्य दर्शन के मतानुसार बुद्धि की उत्पत्ति बिना किसी रूप वाली अव्यक्त नामधेय समस्त सृष्टि की कारणभूत प्रकृति से होती है। सत्व रज और तम इन तीन गुण वाले प्रकृति तत्व से तद्गुण युक्त महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्व ही बुद्धि कहलाता है। यह बुद्धि अध्यवसायात्मिक होती है। इसके अनुसार अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है। अध्यवसान को अध्यवसाय कहते हैं। जैसे बीज मे उत्पन्न होने वाला अकुर विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह घट है यह पट है इत्यादि रूप से जो अध्यवसाय करती है उसको बुद्धि कहते हैं। निर्मल बुद्धि का विशेष परिणाम ही ज्ञान कहलाता है। अर्थात् अन्तःकरण रूप मन एव बाह्यकरण रूप ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषय देश मे पहुचकर घट पट आदि विषय रूप मे परिणाम को प्राप्त हुई बुद्धि ही ज्ञान कहलाती है। एतदविध रूपेण ज्ञान रूप मे परिणत हुई बुद्धि जब चैतन्य रूप पुरुष से स्वय को भिन्न न मानते हुए अपने ज्ञानमय स्वरूप को व्यक्त कराती है तब अभिमानात्मक भाव उत्पन्न होता है। यही भाव अहं जानामि (मैं जानता हू) इस रूप मे प्रकट होता है। जिससे स्वच्छ बुद्धि मे रहे हुए ज्ञान से चैतन्य पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं होने से उपयुक्त प्रकार की उपलब्धि होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि प्रकरण मे मुख्यत तीन बातें हमारे समक्ष आती हैं। प्रथम महत्तत्व नामधेयात्मक बुद्धि द्वितीय अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप घट पट आदि विषय के रूप मे परिणत ज्ञान रूपात्मक बुद्धि और तृतीय चैतन्य पुरुष से अभेद ज्ञानात्मक प्राप्त हुई अभिमानात्मक उपलब्धि।

इसके विपरीत न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान और उपलब्धि को सांख्य दर्शन की भांति बुद्धि का परिणाम नहीं मान कर उन्हे बुद्धि का पर्याय ही मानते हैं उनके मतानुसार बुद्धि ज्ञान उपलब्धि और प्रत्यक्ष ये चारो ही पर्यायवाची शब्द हैं। आयुर्वेद के अनुसार बुद्धि पांच प्रकार की मानी गई है। यथा धी[1] (प्रज्ञा) धृति (धैर्य) स्मृति (स्मरण) अहकार और चेतना।

सामान्यत बुद्धि के दो भेद होते हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव का अनुभूति और स्मृति का स्मरण पर्याय है। 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृति' —यह स्मृति का

लक्षण है । अर्थात केवल सस्कार से उत्पन्न हुए ज्ञान को स्मृति कहते हैं तथा अनुभव जन्य भावना को सस्कार कहते हैं । अथवा इसे यो भी कहा जा सकता है कि पूर्व मे अनुभव किए हुए पदाथ का कालान्तर मे सस्कारवश बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के जो ज्ञान होता है वह स्मति कहलाती है । प्रत्यभिज्ञा भी तो सस्कार से होती है । अत प्रत्यभिज्ञा मे स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए केवल सस्कारजन्य कहा है । प्रत्यभिज्ञा केवल सस्कार से नही होती है । किन्तु सस्कार और प्रत्यक्ष इन दोनो से होती है जबकि स्मृति केवल सस्कार से ही होती है । पुन स्मृति दो प्रकार की बतलाई गई है ।—१ भावित स्मत य और २ अभावित स्मतव्य । स्वप्नावस्था म जो ज्ञान होता है वह भावित स्मर्तव्य कहलाता है तथा जाग्रत अवस्था मे विषयो का जो स्मरण होता है वह अभावित स्मतव्य कहलाता है ।

उपयु क्त स्मति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है । अर्थात इन्द्रियो के द्वारा विषय का प्रत्यक्ष करने पर जो यथाथ ज्ञान तत्काल होता है वह अनुभव कहलाता है । यह अनुभव इन्द्रिय सन्निकषजन्य होता है । इसी को अनुभति भी कहते है । यह अनुभूति **विद्या** और **अविद्या** भेद से दो प्रकार की होती है । जो वस्तु जसी है उसका वसा ही (यथाथ) ज्ञान होना **विद्या** कहलाता है— **तद्वत तत्प्रकारकानुभूतिर्विद्या** । इसके विपरीत मिथ्या अथवा अयथाथ ज्ञान का नाम **अविद्या** है । उपर्यु क्त विद्या पुन तीन प्रकार की होती है—**प्रत्यक्षा लङ्गिकी और शाब्दी** । उसीको क्रमश प्रत्यक्षज्ञान अनुमिति ज्ञान और शब्द ज्ञान भी कहते है । अविद्या दो प्रकार की होती है—**सशय** और **विपयय** । **एकस्मिन धर्मिणी विरुद्धनानाधमप्रकारक ज्ञान सशय** अर्थात एक धर्मी म उसके विरुद्ध नाना धर्मों को बतलाने वाल ज्ञान का नाम **सशय** है । किसी ऐसी वस्तु को देखकर जिसमे अन्य वस्तु के भ्रम हाने की भी सम्भावना रहती है उसका निश्चय नही कर पाना ही सशय कहलाता है । जसे सायकालीन झुरमुट मे दूर स्थित किसी स्थाणु (ठूठ) को देख कर यह निश्चय नही हो पाता कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष । इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान ही सशय कहलाता है । महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । यथा **सशयो नाम सन्देहलक्षणानसन्दिग्धत्वर्थेष्व निश्चय** । अर्थात् सन्देह उत्पन्न करने वाल लक्षणा से युक्त पदार्थों मे निश्चय नहीं होना 'सशय कहलाता है । अविद्या का दूसरा भेद विपयय है । इसका सामान्य अर्थ होता है विपरीत ज्ञान । एक वस्तु मे अन्य वस्तु का ज्ञान होना । जसे अन्धकार मे रस्सी को देखकर उसमे सर्प का भ्रम (ज्ञान) होना विपयय कहलाता है । यह मिथ्या ज्ञान होता है । यथा **मिथ्याज्ञान विपयय** । विपयय का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है— '**तदभाव**

वृति तत्प्रकारक ज्ञानं विपर्यय अर्थात् किसी स्थान पर एक वस्तु का अभाव होने पर भी वहां उस वस्तु का मिथ्या ज्ञान होना 'विपर्यय' कहलाता है। इसी को वैशेषिक एवं न्याय दर्शन मे 'अन्यथाख्याति' कहा गया है।

बुद्धि के उपरि वर्णित भेदो को निम्न प्रकार से समजा जा सकता है—
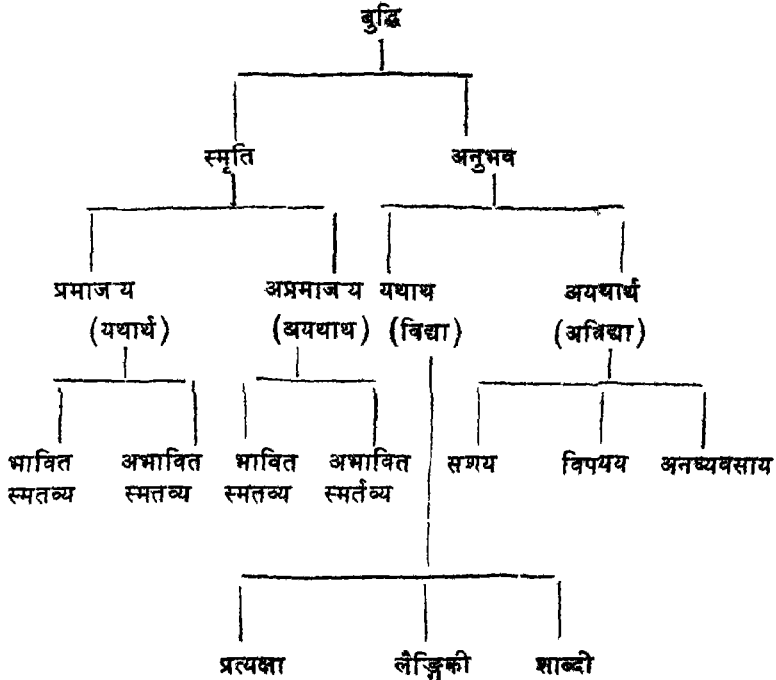
सुख निरूपण

अनुग्रहलक्षणं सुखम्। अनुग्रहस्वभावं तु सुखम्।
धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम्। —प्रशस्तपाद
इष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगादनुग्रहा-
भिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखम्। —प्रशस्तपाद

अर्थ—अनुग्रह जिसका लक्षण है अथवा अनुग्रह स्वभाव है जिसका ऐसे गुण को सुख कहते हैं अथवा अनुकूल स्वभावात्मक सुख होता है। अनुकूल संवेदना का कारण या धर्म से जनित अनुकूल ज्ञान विषय की उपलब्धि एवं तद्विषय रूप ज्ञान होने पर तथा इन्द्रिय इष्ट विषय मन और आत्मा का संयोग होने से अनुकूल प्रतीति अनुराग और नेत्र आदि की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले गुण का नाम सुख है।

प्रसन्नता अथवा अनुकल प्रतीत की अनुभति का नाम ही सुख है। अर्थात् जो समस्त प्राणियो को अनुकल प्रतीत हो वह सुख कहलाता है। इसकी प्राप्ति धम से होती है। सुख और धम परस्पर काय कारण भाव से सम्बन्धित हैं। अपने वश में होने वाले सभी कार्य सुखदायी होते हैं। इसीलिए जो अन्य की इच्छा के वश मे (पराधीन) न होकर स्वाधीन होता है वह सुख कहलाता है।

सुख के लिए अनेक विषय हो सकते है। अनेक बार भत कालीन विषय के स्मरण से और भविष्य कालीन विषय के सकल्प से भी सुख होता है। ज्ञानी पुरुष इन दोनो की ही अपेक्षा नही रखत हैं। उनको तो विषय स्मरण इच्छा और सकल्प के न होते हुए भी ज्ञान शम सन्तोष और धम विशष जनित सुख होता है। इसमे मैं सुखी हू इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिस का ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही सुख है। सामान्य रूपेण वास्तविक सुख वह होता है जो इष्टोपलब्धि की इच्छा किसी अन्य इच्छा के आधीन न हो ऐसी इच्छा के विषय को ही सुख कहते हैं। जसे हम अथ प्राप्ति की इच्छा से विविध कार्य करते हैं। काय करने की इच्छा अथ प्राप्ति की इतर इच्छा के आधीन है। अत वह सुख या सुख का विषय नही हो सकती। अथ प्राप्ति ही सुख का विषय है।

दुख निरूपण

अधममात्रासाधारणको गण । बाधनालक्षण दुखम — न्यायसूत्र
इतरद्वषानधीनद्वषविषयत्वम । —न्या वा
उपघातलक्षण दुखम । सब परवश दुखम।
अधमजन्य प्रतिकलवदनीय गणो दुखम ।

अथ—अधम मात्र से उत्पन्न असाधारण गुण अथवा बाधना लक्षण वाला या उपघात लक्षण वाला दुख होता है। अथवा अधम से उत्पन्न प्रतिकल वेदना (ज्ञान का विषय) रूप गुण का नाम दुख है।

पराधीन को दुख कहते हैं। जो आत्मा मन और इन्द्रिय के प्रतिकल हो वह दुख कहलाता है। इसकी उत्पत्ति अधम से होती है। अत यह त्याज्य है।

दुख भी एक अनुभूति है जो आत्म को होती है। प्रत्येक प्राणी इससे बचना चाहता है और अपने लिए कभी इसकी कामना नही करता। दुख अनिच्छा का विषय एव प्रतिकल प्रतीति रूप होता है। सामान्यत विषण्णता को दुख मान सकते हैं। अधम आदि के द्वारा किसी विषय मे अनिष्टता का ज्ञान तथा इन्द्रिय और अनिष्ट विषय का सन्निकष होने पर आत्मा और मन के सयोग से असहिष्णुता दुखानुभव दीनता खिन्नता आदि को उत्पन्न करने वाले गण का नाम दुख है। भूतकालीन अनिष्ट विषय के स्मरण

से और भविष्य कालीन अनिष्ट विषय की आशंका से दु ख होता है। मैं दुखी हू —इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिसका ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही दु ख है। दूसरे शब्दों मे दु ख का लक्षण इतरद्व षानधीनद्व षविषयत्व' होता है। यदि कवल इतना ही लक्षण किया जाय कि दु ख द्व ष का विषय है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष मे दूषित हो जाता है। क्योकि द्व ष का विषय तो सर्पादि भी हैं अत सप आदि मे यह लक्षण अतिव्याप्त होने से इतरद्व षानधीनद्व ष विशेषण लगाया गया। हमे सप से दु ख होता है इसलिए हम सप से द्व ष करते है। वहा सप का द्व ष इतर (दु ख) द्व ष के आधीन है। अत जो द्व ष दूसरे द्व ष के आधीन नही हो ऐसे द्व ष का विषय दु ख कहलाता ह।

इच्छा निरुपण

इच्छा काम —तर्क सग्रह

स्वार्थं पराथ वाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा। —प्रशस्तपाद

अथ— किसी विषय वस्तु की कामना करना इ छा' कहलाती है। अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए अप्राप्त वस्तु की कामना करना इ छा कहलाती है। आत्मा तथा मन के सयोग से सुख और स्मति की अपेक्षा पूर्वक यह इ छा प्राय उसी वस्तु की होती ॓ जिसके सम्पादित करने के उपाय का ज्ञान होता है। इसमे इच्छात्व जाति होती है। पुष्पमाला चन्दन वनिता इ्यादि विषयो के सेवन से समुत्प न सुख से उत्तरोत्तर उसके सजातीय सुख मे अथवा सुख के साधन मे राग अर्थात इच्छा उत्पन्न होती है। विषय के निरन्तर सम्ब ध से उत्पन्न जो दृढतर सस्कार होता है वही त मयता कह लाती है। उसी त मयता से इ छा होती है। इच्छा से ही धर्म अधम स्मति और प्रयत्न मे प्रवृत्ति होती है। अत इन चारो की प्रवृत्ति का हेतु यह इच्छा ही है। काम अभिलाषा राग, सक प कारुण्य वैराग्य उपधा और भाव आदि इच्छा के ही भद हैं। इन्हे इच्छा के विषय भी कह सकते हैं। इनमे मैथन की इच्छा को काम अभ्य—वहारेच्छा अथवा भोजन की इच्छ को अभिलाषा पुन पुन एक ही विषय मे अनुरजन अथवा विषयासक्ति की इ छा को राग भविष्य मे किसी क्रिया को करने की इच्छा को सकल्प स्वाथ का परित्याग कर अन्य प्राणियो के कष्ट निवारण की इच्छा को कारुण्य दोषो को देखकर विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य दूसरो को ठगने की इच्छा को उपधा और अन्त निगूढ या गु त इच्छा को भाव कहते हैं। इसके अतिरिक्त चिकीर्षा जिहीर्षा इ्यादि क्रियाओ के भद से भी इच्छा के अनेक भेद हो सकते हैं।

द्वेष निरुपण

प्रज्वलनात्मकोद्व ष। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मान मन्यते स द्वेष।

'क्रोधो द्वेष।' —तर्क संग्रह

अर्थ—क्रोध को ही द्वेष कहते हैं। यह ज्वलनात्मक होता है। जिसके होने पर मनुष्य स्वय को प्रज्वलित की भाति अनुभव करता है वह द्वेष कहलाता है। दुःख अथवा दुख की स्मृति के कारण आत्मा एव मन के सयोग से द्वेष उत्पन्न होता है। यह अनिष्ट साधनता ज्ञान जन्य होता है। द्वेष करता हैं इस प्रकार के अनुभव से सिद्ध जाति वाले अथवा द्विष्टसाधनताज्ञानजन्य गण को द्वेष कहते हैं। यहाँ पर द्विष्ट साधनताज्ञान को ही अनिष्ट साधनता ज्ञानत्व समझना चाहिए।

यह द्वेष सामान्यत दुख मे अथवा दुख के साधन मे होता है। जसे सर्प कण्टक इत्यादि से उत्पन्न दख मे और उस दुख के साधन भत सर्प कण्टक आदि मे द्वेष होता है। यह भी तन्मयता अदष्टविशेष और जाति विशेष से उत्पन्न होता है। **तन्मयताजन्य**—एक बार सपदश होने पर पुन पुन उसे सवत्र सप का ही दिखाई देना। **अदष्टविशेष**—जिसे कभी सप दशजन्य दुख का अनुभव नही हुआ उसे भी सप से द्वेष होना। **जातिविशष**—कुत्ते का बिल्ली से बिल्ली का चूहे से सप का नेवले से द्वेष होना।

द्वेष वशात भी धर्म अधम स्मृति एव प्रयत्न मे प्रवत्ति होती है। अत द्वेष भी इन चारो का हेतु या मूल होता है। क्रोध द्रोह मन्यु अक्षमा अमष आदि द्वेष के विषय अथवा प्रकार होते है।

व्यवहारिक रूप से द्वेष घणा का परिचयक होता है। क्योकि किसी वस्तु अथवा किसी विषय मे अनिच्छा रखना या उससे घृणा करना ही द्वेष कहलाता है। इच्छा सामान्यत अनुकल विषयो मे होती है। इसके विपरीत प्रतिकल विषयो मे द्वेष होता है। यह एक प्रकार से मानस दोष है जो आत्मा के लिए अशुभ परिणाम कारक अथवा अशुभ बध का हेतु होता है।

प्रयत्न निरूपण

कृति प्रयत्न। **—तर्क सग्रह**

प्रयत्न सरम्भ उत्साह इति पर्याया। स द्विविध जीवनपूर्वक इच्छाद्वेषपूर्वकश्चेति। **—प्रशस्तपाद**

अर्थ कृति को ही प्रयत्न कहते हैं। कार्यारम्भक गण विशेष का नाम प्रयत्न है अर्थात काय प्रारम्भ करने वाले गण को प्रयत्न कहते हैं। दूसरे शब्दो मे चेष्टा का नाम प्रयत्न है। अर्थात किसी काय का सम्पादन करने के लिए जो चेष्टा विशेष की जाती है वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न सरम्भ उत्साह ये प्रयत्न के पर्याय वाची शब्द हैं। यह सामान्यत दो प्रकार का होता है—१ जीवनपूर्वक और २ इच्छा-द्वेषपूर्वक।

१ जीवन पूवक प्रयत्न—जब मनुष्य निद्रावस्था में होता है तब भी उसकी श्वास प्रश्वास की क्रिया सतत होती रहती है। अत स्वप्नावस्था में जो प्राण-अपान का प्रेरक (श्वास प्रश्वास की क्रियात्मक परम्परा को चालू रखने वाला) होता है तथा जाग्रत अवस्था मे अन्त करण (मन) का इन्द्रियो के साथ संयोग कराने में हेतु अथवा मन को एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय मे पहुचाने वाला होता है और जो आत्मा मन तथा इन्द्रियो का सयोग कराता है वह जीवन पूवक प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न स्वत सम्पादित होता है तथा जीवन के लिये अपेक्षित है।

२ इच्छा-द्वेष पूवक प्रयत्न—यह प्रयत्न हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए समर्थ होने वाले (योग्य) व्यापार का हेतु और शरीर को धारण करने वाला होता है। यह प्रयत्न इच्छा और द्वेष के कारण होता है। अपने या पर के हित साधन के लिए जो प्रवत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह इच्छा पूर्वक प्रयत्न तथा अपने या पर के अहित का परिहार करने के लिए जो निवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह द्वेष पर्वक प्रयत्न कहलाता है। यह इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न आत्मा और मन का सयोग होने पर इच्छा और द्वेष से समुत्पन्न होता है।

प्रकारान्तर से प्रयत्न को तीन प्रकार का भी बतलाया गया है। यथा प्रवृत्ति रूप प्रयत्न निवृत्ति रूप प्रयत्न और जीवन योनि रूप प्रयत्न। इच्छाजन्य गुण प्रवृत्ति कहलाती है। द्वेषजन्य गुण का नाम निवृत्ति है तथा जीवन रूप अदृष्टजन्य गुण को जीवनयोनि कहते हैं। यह जीवनयोनि ही शरीर मे प्राण सचार का कारण है। इसके अभाव मे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

परादि सामान्य गुण

परत्वापरत्व निरूपण

परत्वापरत्व च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्। तत्तु द्विविधं दिक्कृत कालकृत च। तत्र दिक्कृत दिग्विशेषप्रत्यायकम। कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम।

—प्रशस्तपाद

देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु। परापरत्वे———————————॥

—चरक संहिता सूत्रस्थान २६/६१

परत्व और अपरत्व क्रमश पराभिधान अपराभिधान तथा परप्रत्यय अपर प्रत्यय के कारण हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—दिक्कृत और कालकृत। इनमे दिक्कृत प्रत्यय दिग्विशेष के और कालकृत प्रत्यय वयोभेद के बोधक हैं।

परत्व और अपरत्व का व्यवहार देश काल वय परिमाण पाक वीर्य रसादि के उत्कृष्ट-निकृष्ट के निर्देश के लिए होता है। जैसे कोई स्थान (देश) किसी व्यक्ति

के स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ होने से पर है तथा अन्य स्थान अपर। शीतकाल सामान्यत स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी एव उत्तम होने से पर तथा अन्य ग्रीष्म काल आदि अपर। वय (अवस्था) की दृष्टि से तरुण अवस्था पर एव बाल्य एव वृद्ध अवस्था अपर है। किसी व्यक्ति के लिए मधुर विपाक अनुकल होने से पर तथा अन्य अम्ल या कटु विपाक अपर होता है। इसी प्रकार शीतवीर्य अनुकूल होने से पर एव उष्ण वीर्य अपर होता है। मधुरादि षट् रसो मे जो अनुकल हो वह पर तथा अन्य अपर होते है। यहा पर परत्व का अभिप्राय उत्कृष्ट एव अपरत्व का अभिप्राय निकृष्ट होता है।

दूर और समीप अथवा बडे और छोटे व्यवहार के प्रधान कारण को परत्व और अपरत्व कहते है। यह परत्व एव अपरत्व पृथ्वी जल तेज वायु और मन इन पाँच द्रव्यो म रहता है। दिशा और काल की अपेक्षा यह दो प्रकार का होता है। यथा दिक्कृत परत्व एव दिक्कृत अपरत्व। इसम देश से सम्बन्ध होने के कारण यह दैशिक परत्व-अपरत्व भी कहलाता है। दिक्कृत परत्व अथवा दैशिक परत्व का व्यवहार दूर देशीय अथवा दूरस्थ वस्तु म तथा दिक्कृत अपरत्व अथवा दैशिक अपरत्व का व्यवहार निकटदेशीय अथवा समीपस्थ वस्तु मे होता है।

इसी भाँति काल की अपेक्षा से कालकृत परत्व एव कालकृत अपरत्व होता है। इसम काल का सम्बन्ध होने से यह कालिक परत्व एव कालिक अपरत्व कहलाता है। कालकृत परत्व का व्यवहार ज्येष्ठ मे तथा कालकृत अपरत्व का व्यवहार कनिष्ठ मे होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह विप्रकृष्ट (दूर) है और यह सन्निकृष्ट (समीप) है—ऐसा प्रयोग जिन गुणो के कारण होता है उनको क्रमश परत्व और अपरत्व कहते है। आयुर्वेद के मनीषियो ने सन्निकृष्ट अर्थात उपयोगिता मे समीप (प्रधान या उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट अर्थात उपयोगिता मे दूर (अप्रधान या निकृष्ट) ऐसा अर्थ ग्रहण कर के देश काल वय मान विपाक वीर्य रस आदि म परत्वापरत्व सम्बन्ध बतलाया है।

युक्ति निरूपण

युक्तिश्च योजना या तु युज्यते। —चरक संहिता सूत्रस्थान २६/३१

या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिक तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत।

अर्थ—दोष देश काल प्रकृति बल आदि को ध्यान मे रखते हुए औषधि आहार विहार आदि का विचार पूर्वक यथा योग्य निर्णय करके जो निर्देश दिया जाता है—इसी का नाम योजना है और यही योजना 'युक्ति' कहलाती।

जो कल्पना यौगिकी(युक्ति युक्त या विधिपूर्वक)होती है वही युक्ति कहलाती है किन्तु जो कल्पना अयौगिक (अयुक्त या बिना विधिवत्) होती है तो वह कल्पना के होने पर भी युक्ति नही कहलाती। जैसे षड धातुसंयोग से गर्भोत्पत्ति मथ्य मन्थनक और मन्थान के योग से अग्नि की उत्पत्ति वैद्य परिचारक औषधि और रोगी के समुचित सयोग से रोग निवृत्ति तथा ऋतु क्षेत्र अम्बु एव बीज के सयोग से शस्य (अनाज) की उत्पत्ति होती है। यही युक्ति कहलाती है। उपर्युक्त वस्तुओ के विद्यमान रहने पर भी यदि उनकी सयोजना समुचित रूप से नहीं हो पाती है तो अभीष्ट सिद्धि नही होती। वहा युक्ति नही होती है।

सख्या निरूपण

सख्या स्याद् गणितम्। —चरक सहिता सूत्रस्थान २६/३२

एकत्वादिव्यवहारहेतु सख्या। —वैशेषिक दर्पण

गणना व्यवहारे तु हेतु सख्याऽभिधीयते। —कारिकावलि

गणना व्यवहारासाधारण कारण सख्या। —मुक्तावलि

अर्थ—एक दो तीन आदि शब्दो से जिस गण विशेष का बोध होता है अथवा गणना रूप व्यवहार का जो हेतु होता है वह सख्या कहलाती है। एक दो तीन इत्यादि यह सख्या गुण कही सख्या का वाचक होता है और कही सख्येय का। एक सख्या सख्येय वाचक होती है तथा दस के बाद की सख्या सख्या और सख्येय दोनो की वाचक होती है। यह सख्या दो द्रव्यो मे स्थित होती है तथा एकत्व इत्यादि से लेकर पराध पर्यन्त होती है। यथा—**एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता नवद्रव्यवृत्ति एकत्व तु नित्यगत नित्य अनित्यगतमनित्य द्वित्वादिक तु सर्वथाऽनित्यमेव।** एक से लेकर परार्ध पर्यन्त सख्या निम्न प्रकार होती है—इकाई दहाई सकडा हजार दस हजार लाख दस लाख करोड दस करोड अरब दस अरब वन्द दस वन्द खर्ब दस खर्ब निखर्ब दस निखर्ब शख दस शख पद्म दस पद्म सागर दस सागर अन्त्य दस अन्त्य मध्य दस मध्य परार्ध दस पराध। इस प्रकार यथाक्रम दस-दस का गुणन करके परार्ध पर्यन्त सख्या है। इसमे एकत्व प्रतिपादक सख्या नित्य पदार्थों मे नित्य एव अनित्य पदार्थों मे अनित्य होती है। जसे जीव (आत्मा) ईश्वर एव प्रकृति ये तीनो नित्य हैं। अत एकत्व का व्यवहार होने पर एक सख्या नित्य होती है। अन्य अनित्य पदार्थों जैसे शरीर, वृक्ष पवत आदि मे व्यवहृत होने वाली एक सख्या अनित्य होती है। अत एक सख्या नित्य भी है और अनित्य भी। इसके अतिरिक्त द्वित्व आदि सख्या सर्वथा अनित्य है। क्योंकि दो से लेकर परार्ध पर्यन्त सख्या अपेक्षा बुद्धिजन्य होती है। अत वह अनित्य है। अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से उसका भी नाश हो जाता है। अपेक्षा बुद्धि अनेक

एकत्व बुद्धि की परिचायक होती है। जैसा कि वैशेषिक दर्शन के निम्न वचन से सुस्पष्ट है अयमेकोऽयमेक इत्याकाराबुद्धिरपेक्षाबुद्धि । अर्थात् यह एक है यह एक है इस प्रकार के पथक पृथक ज्ञान का नाम अपेक्षा बुद्धि है।

सयोग निरूपण

योग सह सयोग उच्यते ।

द्रव्याणां द्वन्द्व सवत्र कमजोऽनित्य एव च । —चरक सहिता सूत्रस्थान २६/३१

सयक्तव्यवहारहेतुसयोग सवद्रव्यवृत्ति । —तक सग्रह

अप्रा तयोस्तु या प्राप्ति सैव सयोग ईरित । — कारिकावलि

अर्थ—द्रव्यो के एक साथ मिलने को सयोग कहते है अथवा दो या दो से अधिक द्रव्यो का योग होना सयोग कहलाता है अथवा सयुक्त (मिला हुआ) है इस प्रकार के व्यवहार का कारण सयोग कहलाता है। यह सभी नव द्रव्यो मे होता है। यह सयोग द्वन्द्व कमज सव कमज तथा एक कमज होता है। इसके अतिरिक्त अप्राप्त वस्तुओ की प्राप्ति को सयोग कहा जाता है।

दो या दो से अधिक द्रव्यो के मिलने हेतु उनका जो पारस्परिक सम्बन्ध (मिलना) होता है वह सयाग कहलाता है। जो पदाथ पूव मे परस्पर असम्बद्ध (मिले हुए नही) थे उनका किसी स्थान विशेष या समय विशष मे आपस मे मिल जाना ही सयोग होता है। ऊपर जो तीन प्रकार का सयोग बतलाया गया है वह चरक के अनुसार है। कारिकवलि मे भी तीन प्रकार का सयोग बतलाया गया है यथा— **अन्यतर कमज उभय कमज** और **सयोगकमज** । इसमे चरकोक्त द्वन्द्व कर्मज और एक कमज कारिकावलि के क्रमश उभय कर्मज एव अन्यतर कमज से मेल खा जाता है। किन्तु चरक का **सव कमज** तथा कारिकावलि का **सयोगकमज** अलग कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। उन्हे दोनो के भिन्न भिन्न उदाहरणो के द्वारा निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

१ चरकोक्त एककमज तथा कारिकावलि का अन्यतरकमज दोनो एक हैं। आचाय श्री चक्रपाणिदत्त वक्ष पर पक्षी के बठने को एक कमज मानते हैं क्योकि इसमे एक पक्षी के द्वारा ही चेष्टा होती है। न्यायदशन वाले (कारिकावलिकार) बाज का पवत पर बठना रूपी सयोग अन्यतर कमज होता है। इसम दोना उदाहरण समान हैं।

२ द्वन्द्वकर्मज (चरक) और उभयकमज (कारिकावलि) दोनो एक ही हैं। क्योकि दोना के उदाहरण समान अभिप्राय को प्रकट करते हैं। यथा—चक्रपाणि के अनुसार दो भेडो का परस्पर लड़ना और न्यायदशन के अनुसार उडते हुए दो पक्षियो का परस्पर मिलना ये दोनो समान हैं। क्योकि दोनों भेडो और पक्षियो मे क्रिया पाई जाती है। अत दोनो एक हैं।

३ महर्षि चरक के द्वारा प्रतिपादित 'सर्व कर्मज' और कारिकावलि मे कथित 'सयोगज सयोग दोनो परस्पर भिन्न हैं। बहुत से तिलो का योग होने पर उनसे तेल निकालना यह सवकर्मज है और वृक्ष की डाल पर कौवे का बठना सयोगज सयोग है। यहां पर वक्ष से कौवे का सयोग है ऐसा माना जाता है। अर्थात् अवयव सयुक्त होने पर वह अवयवी से भी सयुक्त है। अत इस प्रकार का सयोगज ज्ञान सयोगज सयोग कहलाता है।

यद्यपि सवकमज सयोग और सयोगज सयोग परस्पर भिन्न प्रतीत होते है किन्तु वस्तुत दोनो एक ही हैं। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि सर्वकमज सयोग एक काल मे ही होता है और संयोगज सयोग उत्तर काल मे सभी से सयुक्त होता है।

ये समस्त सयोग अनित्य होते हैं। क्योकि विभाग के द्वारा इनका विनाश होता है।

विभाग निरूपण

विभागस्तु विभक्ति स्याद्वियोगो भागशो ग्रह ।

—चरक सहिता सूत्रस्थान २६/३३

सयोगनाशको गुणो विभाग । **—तर्क सग्रह**

अथ—वस्तुओ का पारस्परिक विभजन (अलग-अलग करना) अथवा एक एक भाग करना विभाग कहलाता है। सयोग नाशक गुण को विभाग कहते हैं।

यह सयोग का विरोधी गुण है। अत जिस गुण के कारण दो या अधिक द्रव्यो के विषय मे यह बुद्धि हो कि ये सयुक्त नही (विभक्त) हैं उसे विभाग कहते है। विभाग का ही अपर पर्याय वियोग होता है। वियोग म भागश ग्रह होना है। किसी सयुक्त औषधि मे समस्त औषधियो की नियत मात्रा का ज्ञान करना कि कौन सी औषधि कितनी मात्रा मे है— वियोग या विभाग कहलाता है। सयोग की भाँति विभाग भी तीन प्रकार का होता है। यथा १ द्वन्द्वकमज २ एककमज और ३ सवकमज। सयोग के उदाहरण ही विभाग क उदाहरण के रूप मे प्रप्रिघटित समझना चाहिए। जैसे वृक्ष से पक्षी का अलग होना दोमो भडो का पपस्पर अलग होना तथा सम्पूर्ण तिलो को परस्पर अलग कर देना।

पथक्त्व निरुपण

'पृथक्त्वं स्यादसयोगो वलक्षण्यमनेकता। —चरक संहिता सूत्रस्थान २६/३३

पृथक्त्वव्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम् । **—तर्क सग्रह**

अर्थ—असयोग का नाम ही पृथक्त्व है। यह इससे अलग है—यह ज्ञान जिस गुण के कारण होता है उसका नाम पृथक्त्व है। जैसे यह 'घट अमुक 'घट से पथक्

(भिन्न) है । इस प्रकार की बुद्धि जिसके द्वारा उत्पन्न होती है उसे पथक्त्व कहते हैं । अथवा पथक व्यवहार के असाधारण कारण को पथक्त्व कहते है । यह सब द्रव्यो मे होता है ।

यह तीन प्रकार का होता है—असयोग लक्षण—जिसका कभी सयोग होना सम्भव नही है । जसे विन्ध्य पर्वत और हिमालय का पथक्त्व । २ वलक्षण्य रूप विलक्षणता (लक्षणो की असमानता) होने के कारण जहा सयोग नही हो सकता । जैसे-गाय भस बकरी सुअर मे विलक्षणता (लक्षण की असमानता) के कारण पथक्त्व । ३ अनेकता रूप-समान जाति वाले द्रव्यो मे भी अनक रूपता होने से उनमे पथक्त्व पाया जाता है । जसे—गाय मे काली गाय सफद गाय लाल गाय आदि ।

परिमाण निरुपण

परिमाण पुनर्मानम । —**चरक सहिता सत्रस्थान अ २६**

मानव्यवहार साधारणकारण परिमाणम तच्चतुर्विधमण दीघ महत ह्रस्व च ।

—**तक सग्रह**

अथ—मान को ही परिमाण कहते हैं । मान (माप तौल) के असाधारण कारण को परिमाण कहते है । जिस गण के कारण माप होता है वह परिमाण कहलाता है । माप या तौल के द्वारा जो मान ज्ञात किया जाता है उस मान व्यवहार क हेतु भूत गण का नाम ही परिमाण है । जिस गण को माप और तौल के विभिन्न साधनो (किलो ग्राम मीटर लीटर आदि के द्वारा जाना जाता है) वह परिमाण कहलाता है ।

परिमाण के द्वारा ही वस्तुओ का माप या मानदण्ड नियत किया जाता है । वह सभी द्रव्या मे पाया जाता है । वह चार प्रकार होता है—अण महत दीघ और ह्रस्व ।

सस्कार निरूपण

सस्कार करण मतम —**चरक सहिता सूत्रस्थान २६/६४**

करण पुन स्वाभाविकाना द्रव्याणामभिसस्कार ।

सस्कारो हि गुणान्तराधानमच्यते ।

—**चरक सहिता विमान स्थान १/२६**

सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवत्तिवव्याप्यजातिमान सस्कार । —**गुरुत्व**

सम्यक प्रकारेण क्रियते इति सस्कार ।

स कारस्त्रिविध वगो भावना स्थितिस्थापकश्च । —**प्रशस्तपाद**

अथ—क्रिया के द्वारा गुणाधान करने को सस्कार कहते हैं । औषध या आहार

को तैयार करने मे अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं की जाती हैं। उन प्रक्रियाओ से द्रव्य मे अन्य गुण की उत्पत्ति होती है उसे ही सस्कार कहते हैं। इसका अपर पर्याय करण है।

जिन द्रव्यो मे जो गण स्वभावत नहीं पाए जाते हैं उन गुणो को उन द्रव्यो में सस्कार क्रिया विशेष के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह सस्कार जल अग्नि ससग मन्थन देश काल भावना काल प्रकर्ष एव पात्र सयोग के द्वारा किया जाता है। यह सस्कार सामान्यत तीन प्रकार का होता है—१—वेग २—भावना और ३—स्थिति स्थापक। १ वग यह पथ्वी जल-वायु-अग्नि इन चार मूतद्रव्यो मे और अमत मन मे पाया जाता है। उपयुक्त इन पाँच द्रव्यो मे कारण विशेष से जो गति प्रवाह उत्पन्न होता है वह वेग नामक सस्कार कहलाता है। इसस द्रव्यो के सयोग और वियोग का नाश होता है। २ भावना—अनुभव प्रयक्ष आदि होने के पश्चात उन अनुभवो का जो कुछ भी अश मनमे रह जाता है उसीके द्वारा उन अनुभत विषयो का स्मरण होता है और वे पुन पहचानी जाती हैं। अत पूवानुभूत विषयो की प्रयभिज्ञा जिस सस्कार क द्वारा होती है वही भावना सस्कार से अभिप्रत है। सस्कार केवल आत्मा मे रहता है। पुन पुन अथवा एक बार जिस वस्तु का अनुभव होता है उससे उस वस्तु की भावना मन मे अकित हो जाती है। पश्चात वही प्रादुभूत होती है। ३ स्थिति स्थापक जिस गुण के कारण द्रव्यो मे लचकीलापन पाया जाता है तथा जिससे द्रव्य को दोनो ओर से खीचने पर द्रव्य फैल जाता है कितु छोड देने पर पुन अपनी स्वाभाविक पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाता है वह स्थितिस्थापक गण (सस्कार) कहलाता है। जैसे रबर के टकड को खीचने पर वह लम्बा हो जाता है या वक्ष की डाल पकड कर खींचने पर वह झक जाती है किन्त छोड देने पर पुन अपनी स्वाभाविक पूव स्थिति को प्राप्त हो जाती है। यह पथ्वी जल अग्नि और वायु मे पाया जाता है।

अभ्यास निरूपण

भावाभ्यसनमभ्यास शीलन सततक्रिया —चरक सहिता सत्रस्थान २६/३४

अर्थ—किसी भी भाव पदार्थ का पुन पन पालन (सेवन) करने को अभ्यास कहते हैं। शीलन और सतत क्रिया ये दो अभ्यास के पर्यायवाची शब्द हैं।

जब कोई काय लगन के साथ लगातार किया जाता है वही सतत क्रिया कहा जाता है। इसी भाँति बारम्बार द्रव्यो का अनुशीलन (सेवन करना) शीलन कहलाता है।[1] ये दोनो ही अभ्यास कहलाते हैं।

इस प्रकार ये परादि १ गण होते हैं तथा सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ता परादय' के अनुसार कुल ४१ गण होते हैं। न्याय दर्शनोक्त धम और अधर्म इन दोनो गुणों को आयुर्वेद मे नहीं माना गया है। अत उनका वणन यहां नहीं किया गया है।

न्यायोक्त चतुर्विंशति गुण

न्याय दर्शन में आयुर्वेद की भाँति ४१ गुणो को नही माना गया है। उन्होंने केवल २४ गुणो का ही उल्लेख किया है। और उन्ही २४ गुणो के अन्तर्गत आयुर्वेदोक्त ४१ गुणो को समाविष्ट कर लिया है। न्यायोक्त २४ गुण निम्न प्रकार हैं—

अथ गुणा रूप रसो गन्धस्ततः परम ।
स्पर्श संख्या परिमिति पृथक्त्व च तत परम ॥
संयोगश्च विभागश्च परत्व चापरत्वकम ।
बुद्धि सुख दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम ।
द्रवत्व स्नेहसंस्कारावदृष्ट शब्द एव च ॥ — **कारिकावलि**

अर्थात १ रूप २ रस ३ गन्ध ४ स्पर्श ५ संख्या ६ परिमिति (परिमाण) ७ पृथक्त्व ८ संयोग ९ विभाग १० परत्व ११ अपरत्व १२ बुद्धि १३ सुख १४ दुःख १५ इच्छा १६ द्वेष १७ प्रयत्न १८ गुरुत्व १९ द्रवत्व २० स्नेह २१ संस्कार २२ धर्म २३ अधर्म और २४ शब्द ये २४ गुण हैं। ऊपर श्लोक में जो अदृष्ट शब्द आया है उससे धर्म और अधर्म इन दो गुणो का ग्रहण किया गया है।

वस्तुत ये २४ गुण ही माने गए हैं। इन्ही २४ गुणो में आयुर्वेदोक्त ४१ गुणो का समावेश कर लिया जाता है। धर्म और अधर्म ये दो गुण आयुर्वेद में नही माने गए हैं। शेष समस्त गुणो को आयुर्वेद में स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद में उपर्युक्त न्यायोक्त गुणो के अतिरिक्त १७ लघुत्वादि गुण तथा युक्ति एवं अभ्यास ये दो (परादि) गुण इस प्रकार कुल १९ गुण अधिक माने गए हैं। इन गुणो का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है—अभ्यास को संस्कार में युक्ति को संयोग में गुर्वादि गुणों में गुरुत्व द्रवत्व और स्नेह इन इन तीन गुणो को छोड़कर शेष गुणो को संस्कार और धर्म में समाविष्ट किया जा सकता है। आयुर्वेदोक्त गुर्वादि २० गुण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—१—सांसिद्धिक (स्वभाव सिद्ध) और २—नैमित्तिक (कारणजन्य)। जब इनकी प्राप्ति स्वभावत होती है तब यह इस द्रव्य का धर्म है ऐसा कहा जाता है और औषधि द्रव्य का वह धर्म अदृष्टजन्य होता है। ऐसी स्थिति में इनका समावेश धर्म में किया जाता है। जब निमित्तो के द्वारा इन गुणो की प्राप्ति होती है तब इन गुणो का समावेश संस्कार में कर लिया जाता है। इस प्रकार कुल चौबीस गुण ही माने जाते हैं और गुणो की संख्या सम्बन्धी मतभेद का समाधान हो जाता है।

कुछ विद्वान् इस प्रकरण में भिन्न मत रखते हैं। उनके मतानुसार चरकोक्त गुणो की संख्या भी २४ मानी जा सकती है। चरक में गुणो का वर्गीकरण एवं संख्या

निर्देश सार्था गुर्वादयो इत्यादि पद से किया गया है। २४ गुण मानने वाले विद्वानो के अनुसार इस पद का अर्थ यदि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार किया जाय तो चरक के सिद्धान्तानुसार भी २४ ही गण होते हैं। जैसे वैशेषिक दशन में "रूपरसगन्ध स्पर्श सख्या परिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परापरत्व बुद्धय सुखदुखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च (वैशेषिक दपण १ १ ६) ये १७ गण बतलाए गए हैं। प्रशस्तपाद भाष्य मे उपयुक्त प्रयत्नाश्च पाठ के च पद से ७ और गुण स्वीकार किए गए है। यथा च शब्दसमच्चितास्तु गुरुत्व द्रवत्व स्नेह सस्कार-धर्माधम-शब्दा सप्तवेत्येव चतर्विंशति गुणा। इस प्रकार मूलत कुल २४ गुण होते हैं। इसी भाति आयुर्वेदोक्त सार्था शब्द से स्पर्श रूप रस गन्ध ये ४ गण गर्वादयो' शब्द से गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-सस्कार-धर्म अधर्म शब्द ये ७ गुण बुद्धि इच्छा द्वेष सुख दुख प्रयत्न ये ६ गुण परादय शब्द से सस्कार युक्ति और अभ्यास इन गुणो को छोडकर शेष ७ गुण ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रकार चरक के अनुसार भी २४ गुण होते हैं।

उपर्युक्त मत आयुवद की दृष्टि से समीचीन एव उपयोगी नही है। जो लोग इस धारणा के अनुसार सोचते हैं उनकी कल्पना निराधार एवं अयुक्ति युक्त है। क्योकि महर्षि चरक के द्वारा वर्णित ४१ गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी एव महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक गण का अपना स्वतन्त्र महत्व एव उपयोगिता है। अत उन्हे केवल सख्या की दष्टि से न्यूनाधिक नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सार्था शब्द से सर्वत्र पचमहाभूतो के शब्द स्पर्शादि पाच गणो का ही ग्रहण किया गया है। यथा— अर्था शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुण। (चरक सहिता शारीरस्थान १) गुर्वादि शब्द से आयुर्वेद मे सर्वत्र गुरु आदि २ गुण ही ग्रहण किए जाते हैं। यथा

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमदुस्थिरा। गुणा ससूक्ष्मविशदा विंशति सविपर्यया॥

(अ हृ स १) परादि शब्द से आयुर्वेद मे सदा १ गुणो का ही ग्रहण होता है। यथा—परापरत्व युक्तिश्च सख्या सयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्व च परिमाणमथापि च। सस्कारोभ्यास इत्येते गुणा प्रोक्ता पराबय॥ (च सू अ २५) इस प्रकार सार्था गुर्वादयो इत्यादि चरकोक्त वाक्य से केवल उन्ही गुणो का ग्रहण करना उपयुक्त है जिनका निदश आयुर्वेद के आचार्यों ने अपनी मूल सहिताओ मे किया है। इन गुणो को छोडकर अन्य दशनोक्त गुणो के साथ समन्वय हेतु व्यर्थ की खीचातानी पूर्वक प्रयास करना अनुपयुक्त है।

गुणों का साधर्म्य

आयुर्वेद शास्त्र में जिन ४१ गुणो का वर्णन किया गया है वे यद्यपि परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि उनमें कुछ धर्म ऐसे हैं जो सभी मे समान रूप से पाए

जाते हैं। अत परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमे जो धर्म समान रूप से मिलता है वही साधर्म्य कहलाता है। सभी गुणो मे समान रूप से मिलने वाले धर्म निम्न हैं—

१ सभी गुण मे गणत्व जाति पाई जाती है। गुणत्व जाति के कारण ही वे गुण कहलाते हैं।

२ सभी गुण द्रव्य मे अश्रित रहत है। अत वे आश्रित धम वाले हैं।

३ सभी गण गौणत्व धमयुक्त होने से गौण (अप्रधान) होत है।

४ सभी गण निग ण होते हैं। उनमे कोई अन्य गुण नही होता।

५ सभी गण निष्क्रिय होते है। वे किसी प्रकार का क्रिया (कम) नही करते अथवा उनमे कोई क्रिया नही पाई जाती है।

६ सयोग और विभाग मे सभी गण अनपेक्ष अकारण है।

गणो का वधम्य

गणो मे पाया जाने वाला वह धम जो समस्त गणो मे समान रूप से विद्यमान नही रहता अर्थात कुछ गणो मे पाया जाता है और कुछ गुणो मे नही पाया जाता वधर्म्य कहलाता है। गणो मे वधम्य निम्न प्रकार से होता है—

१ रूप रस गन्ध स्पश परत्व अपरत्व तथा गुर्वादि बीस गुण मत होत हैं। अर्थात ये मत गण केवल स्थल स्वरूप वाले द्रव्यो मे पाए जात है। यथा—पृथ्वी जल तज और वायु मे।

२ बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वष प्रयत्न धम अधम सस्कार और शब्द ये अमत गुण होन है तथा जिनका स्थूल स्वरूप नही होता उनमे ये पाए जात है। जस आत्मा और आकाश मे।

३ सख्या परिमाण पथक्त्व सयोग और विभाग ये पाँच मूर्तामूत गुण हैं तथा समस्त द्रव्यो मे पाए जाते हैं।

४ बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वष प्रयत्न ये गण उभयेन्द्रियरूप अन्त करण (मन) के द्वारा ग्राह्य है।

५ शब्द स्पश रूप रस गन्ध ये पाँच गुण ज्ञानेन्द्रियो के प्रत्यात्मनियत विषय है। अर्थात मात्र ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा ही ग्राह्य हैं। इसीलिए ये बाह्य गुण भी कहलाते हैं।

६ धर्म और अधम अतीन्द्रिय होत हैं।

७ सयोग और विभाग कभी भी एक द्रव्य मे नही पाए जाते। किन्तु संख्या एक द्रव्य मे और कभी अनेक द्रव्यो मे पाई जाती है।

८ शब्द स्पश रूप रस गन्ध बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वष प्रयत्न धर्म

अधर्म संस्कार और गुर्वादि बीस गुण ये विशेष गुण कहलाते हैं। क्योंकि इन गुणो के आधार पर ही वस्तु एक दूसरे से भिन्न समझी जाती है।
विशेषवस्तु पृथक्त्वकृत् के आधार पर ही ये विशेष गुण हैं।

६ सख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व और द्रवत्व से सामान्य (नैमित्तिक) गुण होत हैं। अर्थात अनेक द्रव्यो मे ये एक साथ ही पाए जात हैं। इनके द्वारा वस्त एक दूसरे से पथक नही की जा सकती है। इनके द्वारा अनेक द्रव्य एक साथ समझे जाते हैं। जैसे सयोग के द्वारा दो या अधिक सयुक्त द्रव्यो का ज्ञान होता है।

द्रव्यों मे पाए जाने वाले गुण

भिन्न भिन्न द्रव्यो मे पाए जाने वाले गुणो की सख्या भिन्न भिन्न है। न्याय दर्शन के अनसार निम्न द्रव्यो मे उपलब्ध होने वाले गुण और अनकी सख्या निम्न प्रकार है—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयो पच षडवाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥

अर्थात् वायु के नौ तेज (अग्नि) के ग्यारह जल पृथ्वी और जीवात्मा के चौदह चौदह दिशा और काल के पाच-पाँच आकाश मे छह परमात्मा तथा मन के आठ आठ गुण होते हैं। द्रव्यो के उपयुक्त वर्णित गणो का विवरण निम्न प्रकार है—

१ न्यायोक्त चतुर्विंशति गुणो मे से स्पश सख्या परिमाण पथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व तथा वेगाख्य सस्कार ये नौ गुण वायु मे होते हैं।

२ उपयुक्त नौ गुणो के साथ रूप और द्रवत्व ये ग्यारह गुण तेज मे होते हैं।

३ उपयुक्त नौ गुणो के अतिरिक्त द्रवत्व गुरुत्व रूप रस और स्नेह ये चतुर्दश गुण जल मे होते हैं।

४ उपयुक्त चतुर्दश गुणो मे स्नेह के स्थान पर गन्ध ग्रहण कर लेने से चौदह गुण पृथ्वीगत हो जाते हैं।

५ बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न परिमाण सख्या पृथक्त्व सयोग विभाग भावनाख्य सस्कार धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जीवात्मा मे होते हैं।

६ सख्या परिमाण पथक्त्व संयोग विभाग ये पाच गुण दिक और काल के होते हैं।

७ सख्या आदि उपर्युक्त पाच तथा शब्द ये छ गुण आकाश मे विद्यमान रहते हैं।

८ संख्या आदि उपयुक्त पाच गुण तथा बुद्धि इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण परमात्मा मे पाए जाते हैं।

९ सख्या आदि उपयुक्त पाच गुण तथा परत्व अपरत्व एव वेग नामक सस्कार ये आठ गुण मन के होते हैं।

गण प्राधान्य निरूपण

कुछ विद्वान द्रव्यादि पदार्थों मे गुण को प्रधान तथा अन्य द्रव्यादि को अप्रधान मानते हैं। गुणो का प्राधान्य वे निम्न आधार पर मानते हैं—

१ गुण के अभाव मे द्रव्य का कोई महत्व नही है।

२ गुणो के अनसार ही द्रव्य कम करने मे तत्पर होता है।

३ रसो का उत्कषापकष द्रव्याश्रित गुणाधीन है।

४ गुणा से रसो का पराभव हाता।

५ गुणो को विपाक का कारण भूत माना जाता है।

६ सख्या की दृष्टि से गण सर्वाधिक होते हैं।

७ बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार से गुणो का प्रयोगाधिक्य देखा जाता है। उपदेश अपदेश एव अनुमान के द्वारा गुणो का प्राधान्य सिद्ध है।

चतुर्थ अध्याय

कर्म निरुपण

कर्म का लक्षण

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥

—चरक संहिता सूत्रस्थान १/५२

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते । —चरक संहिता सूत्रस्थान १/४१

द्रव्याश्रित च कर्म यदुच्यते क्रियेति । —चरक संहिता सूत्रस्थान ८/१३

एकद्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमितिकर्मलक्षणम् ।

—वशेषिक सूत्र १/१/१७

अर्थ— जो एक ही साथ सयोग और विभाग मे कारण हो तथा द्रव्य मे आश्रित हो वह कर्म कहलाता है । कर्त्तव्य की क्रिया को कर्म कहते है । यह कर्म सयोग और विभाग मे किसी अन्य कारण की अपेक्षा नही करता । अर्थात् कर्म केवल क्रिया की अपेक्षा करता है । यत्नपूर्वक की गई चेष्टा को ही कर्म कहते हैं । द्रव्याश्रित जो क्रिया होती है वही कर्म कहलाता है । इस प्रकार जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित सयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने मे अपने से उत्तरभावी किसी भावपदार्थ (कारण) की अपेक्षा न करता हुआ कारण है वह कर्म कहलाता है । आयुर्वेद मे कर्म से प्रवृत्ति का भी ग्रहण होता है । यथा—

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्य समारम्भश्च ।

—चरक संहिता विमान स्थान अ ८

अर्थात् कार्य के लिए जो चेष्टा की जाती है वह प्रवृत्ति कहलाती है । वही क्रिया कर्म यत्न और कार्य समारम्भ कहलाती है ।

कर्म मे सामान्यत' निम्न तथ्य अपेक्षितरूपेण होना चाहिये—

एकद्रव्यम्— कर्म एक द्रव्याश्रित होता है । यद्यपि गुण भी द्रव्य के ही आश्रित रहता है किन्तु दोनो के आश्रितत्व मे अन्तर होता है । सभी गुण एक द्रव्याश्रित नही होते । कुछ ऐसे गुण भी हैं जो अनेक द्रव्याश्रित होते हैं । जैसे सयोग गुण एक द्रव्या श्रित कभी नहीं होता । जैसे किसी स्थान पर जन समूह एकत्रित होने पर उनका संयोग

अनेक द्रव्याश्रित होगा। इसी भाति रोटी और घृत का संयोग दो द्रव्य (रोटी और घृत) के आश्रित होगा। अत वह सवनिष्ठ या उभयनिष्ठ गुण हुआ। किन्तु कर्म में ऐसा नहीं होता। वह सदा एक ही द्रव्य के आश्रित रहता है। कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो दो द्रव्यो या अनेक द्रव्यो के अश्रित हो। एक द्र याश्रित होने से कम एकनिष्ठ या **एक द्रव्यम** कहलाता है।

अगणम—जिस प्रकार किसी गण मे अ य गुण आश्रित होकर नही रहता उसी प्रकार कम मे भी कोई गुण आश्रित होकर नही रहता। कम किसी गुण का आश्रय अथवा किसी गुण का आधार नही होने के कारण वह गुण रहित होता है अत उसे अगुणम या निगुणम कहा गया है।

सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम—क म के द्वारा सयोग और विभाग दोनो एक ही साथ सम्पादित होते है। अर्थात कम जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहता है उस द्रव्य का पूव देश से विभाग तथा उत्तर देश से सयोग तदाश्रित कम के द्वारा ही होता है। यद्यपि सयोग भी तो उत्तर देश से सयोग मे हेतु होता है कि तु वह पूर्व देश के विभाग मे हेतु नही हो सकता। उसी भाँति विभाग भी पूव देश के विभाग मे हेतु होता है किंतु वह उत्तर देश के सयोग म हेतु नहा हो सकता। कम एक साथ पूव प्रदेश के विभाग एव उत्तर प्रदेश के सयाग म हेतु हाता है। अथात कम के द्वारा सयोग और विभाग एक साथ होता है। इसके अतिरिक्त द्र य भी तो सयोग और विभाग मे युगपत कारण होता है तथापि उसे कम की अपेक्षा रहती है। अर्थात कम के कारण ही द्रव्य सयोग विभाग करने मे समथ होता है। जब द्रव्य कम से युक्त होता है तब ही वह सयोग और विभाग कर सकता है। अभिप्राय यह है कि द्रव्य को सयोग विभाग करने मे कम रूप कारणान्तर की अपेक्षा रहती है। कि तु समुत्प न कम किसी कारणान्तर की अपेक्षा किए बिना स्वय ही सयोग विभाग को युगपत् करता है। यही **सयोगविभागेष्वनपेक्षकारण** कहलाता है।

इन तीनो (एक द्रव्य अगुण और सयोगविभागेष्वनपेक्षकारण) के मिलन से कम का यह लक्षण निष्प न होता है कि जो द्र यो के परस्पर सयोग तथा विभाग को उत्पन्न करता है तथा उसके उत्पन्न करने मे समवायी द्रव्य एव सम्पण सयोगनाश की अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्ति के पश्चात उत्पन्न होने वाल किसी भाव पदाथ की (कारणान्तर के रूप मे) अपेक्षा नही करता और सदा नियम पूवक एक द्रव्य के आश्रय मे रहता तथा स्वय किसी गुण का आश्रय नही होता वह कर्म कहलाता है।

कम के भद

यद्यपि कम असख्य हैं और उसके अनेक प्रकार हैं। अत उनकी इयत्ता निश्चित

किया जाना सम्भव नही है। तथापि इनको समझने के लिए और व्यवहार के लिए उन कर्मों का भेद ज्ञान आवश्यक है। इसी दृष्टि से शास्त्रो मे कम के जो भद या प्रकार निरूपित किए गए हैं उसी आधार पर यहा उनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

कम से सामान्यत दो प्रकार के कम अभिप्रेत हैं—**इहलौकिक कम और पारलौकिक कम**। इहलौकिक कम उपयु क्त प्रकार से सयोग तथा विभाग मे निरपेक्ष कारण होता है और पारलौकिक कम कत्त व्य की क्रिया को कहते है। कत्तव्य से सामान्यत सद्वृत्त या सदाचार का ग्रहण किया जाता है। उसकी क्रिया अर्थात पालन करने से जो कम उत्पन्न होना है वह पारलौकिक कम कहलाता है। दोनो कम केवल क्रिया की अपेक्षा करते हैं और दोनो सयोग एव विभाग मे युगपत कारण होते हैं। जैसे—उत्क्षेपण कम मे उध्व देश से सयोग और उसी क्षण अध देश से विभाग भी होता है। इसी भाँति सदवत्तरूप कत्त व्य का पालन करने से जब शुभ कर्म से सयोग होता है उसी क्षण अशुभ कम से विभाग भी होता है। इस प्रकार सयोग और विभाग म कम निमित्त कारण होता है।

चरक सहिता मे कम का निरुपण करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

प्रयत्नादि कम चष्टितमच्यते अर्थात प्रय न याने श्रम पूवक की जाने वाली चेष्टा ही कम कहलाती है। अथवा ऐमी चेष्टा जो प्रय न (जीवनयोनि प्रवृत्ति और निवत्ति) का कारण है कम कहलाती है। इस कम की वृत्ति केवल मूत द्रव्यो म ही रहती है। अल्प परिमाण वाले द्र य ही मूत कहलाते है। व्यापी (सवत्र व्याप्त रहने वाला) या विभु द्र य मूत नही होता। अत पथ्वी जल तेज वायु और मन इन पाच मृत द्रव्यो मे ही कम की वत्ति रहती है। विभ द्रव्य जैसे आकाश काल दिक आ मा म कम की वत्ति कदापि सम्भव नही है। इन द्विविध कर्मों को ही कुछ अन्य विद्वानो ने क्रमश लौकिक एव आध्या मिक कम की सज्ञा दी है। अर्थात् इहलौकिक कम को लौकिक तथा पारलौकिक कम को आध्या मिक कम माना है।

लौकिक कम के प्रकार

लौकिक कम पुन तीन प्रकार का बतलाया गया है। यथा—१ स प्रत्यय २ अस प्र यय और ३ अप्रत्यय।

सत्प्रत्यय—ज्ञान पूवक यानि जान बूझकर किया गया प्रयत्न (कम) स प्र यय कहलाता है। जसे गद को ऊपर उछालना।

असत्प्रत्यय—अज्ञान पूर्वक किया गया कम अस प्रत्यय कहलाता है। यह कम अनायास ही हमारी बिना जानकारी या बिना प्रयास के होता है। जसे ऊपर उछाली हुई गद नीचे आने के बाद धरती से टकरा कर पुन ऊपर उछल जाती है इस प्रकार गद के नीचे गिरने के बाद पुन जो उध्व गमन

क्रिया होती है वह अज्ञान मूलक एव अप्रयास जन्य होने से असत्प्र यय कहलाता है। इसी प्रकार मस्तिष्कीय सौषुम्निक वर से पीडित रोगी जब अपने एक पैर को सिकोडता है तो उसका दूसरा पर अनायास ही अज्ञान पूवक सिकुड जाता है। यह भी असप्र यय का उदाहरण समझना चाहिए। यह कम चेतन और अचेतन दोनो मे पाया जाता है।

अप्रत्यय—अप्र यय कम केवल अचेतन यो मे ही होता है। इसे निम्न तीन क्रियाओ या कारणो से समझा जा सकता है —

१ नोदन २ गुरुव और ३ वेग या सस्कार। **नोदन**—नो न का अथ है प्रेरित करना या ढकेलना। जसे पानी मे ककड या कोई वस्तु ालने से उसमे हिलने की क्रिया होती है। **गुरुत्व**—निराधार वस्तु या द्रव्य का स्वत नीचे गिरना। जैसे किसी तिपाई पर घडा रखा हुआ है। यहाँ तिपाई घड का आधार है। यदि तिपाई हटा ली जाय तो निराधार होने से तथा घडा अपने गुरुव क कारण नीचे गिर जायगा। **वग**—गति की अत्य त तीव्रता। जसे—धनुष की खीची गई प्र यञ्चा को छोडने से उत्प न गति की तीव्रता (वेग) के कारण धनुष स छटा हुआ बाण बहुत दूर तक चला जाता है और अपने लक्ष्य का भेदन करता है।

यायोक्त कम के भद

न्याय शास्त्र मे कम के पाँच भेद बतलाए गए हैं। यथा

उत्क्षेपण ततोऽपक्षेपणमाकु चन तथा।
प्रसारण च गमन कर्माण्येतानि पच च ।
भ्रमण रेचन स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ —**कारिकावलि**

अर्थ—उत्क्षपण अपक्षपण आकुचन प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म के भेद हैं। भ्रमण रेचन स्य दन उध्व वलन तिर्यग्गमन आदि समस्त कर्म गमन कर्म से समझना चाहिए।

उ क्षपण—**ऊर्ध्वदेशसयोगहेतु रु क्षपणम।** —**तक सग्रह**

उपर की ओर गति करना या ऊपर की ओर फकना। जिसके द्वारा पदाथ का उपर के प्रदेश के साथ सयोग हो तथा अध प्रदेश के साथ वियोग (विभाग) हो वह उ क्षपण कम कहलाता है। जैसे प थर का ऊपर फकना गद का उपर उछा लना पतग का उडाना आदि।

अपक्षेपण— **अधोदेशसयोगहेतुरपक्षपणम ।** —**तर्क सग्रह**

अर्थात जो कम अध प्रदेश से सयोग कराने मे कारण होता है वह **अपक्षपण'** कहलाता है। अपक्षेपण कम के द्वारा द्रव्य का निचले प्रदेश के साथ सयोग तथा उर्ध्व

प्रदेश के साथ वियोग होता है। साधारणत नीचे की ओर गति करना अथवा नीचे फकना ही अपक्षेपण कर्म होता है। जैसे सीढियो के द्वारा नीचे उतरना पत्थर का नीच की ओर फकना पेड स पत्तो का नीच गिरना आदि अपक्षेपण के उदाहरण हैं।

आकुचन— शरीरस्य सन्निकृष्टसयोगहेतु आकुचनम । —तर्क सग्रह

अर्थात जिस कम के द्वारा द्रव्य का शरीर के सन्निकृष्ट प्रदेश के साथ सयोग हो वह आकुचन कम कहलाता है। जिस क्रिया के द्वारा सीधे अथवा फैले हुये द्रव्य का अग्रभाग उम प्रदेश से विभाग अथवा अपने मूल प्रदेश से सयोगरूप सिकुडकर सकुचित अथवा अल्प देश यापि होता है वह आकुचन कम कहलाता है। जैसे फैले हुये हाथो को सिकोडना फले हुये कपड को समेटना किसी वस्तु को अपनी ओर खीचना आदि।

प्रसारण— विप्रकृष्टसयोगहेतु प्रसारणम् । —तर्क सग्रह

अर्थात जिसके द्वारा वस्तु का विप्रकृष्ट (दूरस्थ) प्रदेश के साथ सयोग हो उसे प्रसारण कम कहते हैं। यह कम आकुचन से सर्वथा विपरीत होता है। इसमे वस्तु का परवर्ती (दूरवर्ती) प्रदेश के साथ सयोग तथा सन्निकृष्ट या समीपवर्ती प्रदेश के साथ विभाग होता है। हाथ का फलना कपड का फैलना लताओ का फैलना पानी का फैलना आदि।

गमन— उत्तरदेशसयोगहेतगमनम । —तर्क सग्रह

अर्थात जिसके द्वारा वस्तु का उत्तर वर्ती प्रदेश से सयोग तथा पश्चात वर्ती प्रदेश से विभाग होता है वह गमन कर्म के द्वारा व्यवहृत होता है। इस सयोग विभाग के कारण रूप कम की दिशा तथा प्रदेश अनियत होता है और वस्तु की गति किसी भी प्रदेश की ओर हो सकती है। गमन से गति या चलनात्मक क्रिया का बोध होता है। इसके अतिरिक्त भ्रमण रेचन स्यन्दन उध्वज्वलन तथा तियग्गमन आदि समस्त कर्मों का समावेश गमन कर्म मे हो जाता है।

आयुर्वेद मे कर्म के भेदो के अन्तर्गत उपयुक्त उत्क्षेपणादि पचविध कर्मों के अतिरिक्त अन्य पचविध कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। यथा— **तस्य व्यस्य कम पचविधमक्त वमनादि** —च सू २६/२० अर्थात् द्रव्य के पांच प्रकार के कर्म होते हैं। यथा—१-वमन २ विरेचन ३ निरुह बस्ति ४-अनुवासन बस्ति और ५-नस्य (शिरोविरेचन)। ये सभी कर्म उपर्युक्त वैशेषिक कम मे समाविष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र मे (विशषत शल्य चिकित्सा मे) १ पूर्व कर्म २ प्रधान कर्म और ३ पश्चात् कर्म—इन तीन प्रकार के कम को भी माना गया है। ये समस्त कर्म उपरि निर्दिष्ट कम के लक्षण के द्वारा सिद्ध होते है। इन्हीं कर्मों के आधार पर आयुवद मे कम के लक्षण को प्रतिपादित किया गया है ताकि वह अतिव्याप्त्यादि दोष से रहित हो।

पचम अध्याय

सामान्य निरूपण

यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक मह वपूण सिद्धान्त है। इसे वस्तत चिकित्सा का सत्र समझना चाहिये। आचार्यों ने आयुवद का प्रयोजन बत ाते हुए कहा है—
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता त त्रस्यास्य प्रयोजनम। अर्थात शरीर म स्थित वात पित्त कफ (धात रूप) इन तीनो दोषो रस रक्तादि सप्त धातुओ को समावस्था म रखना ही इस आयुवद शास्त्र का प्रयोजन है। ता पय यह है कि क्षीण हुई धातओ को उपयुक्त औषध एव आहार विहार के द्वारा बढाकर उ हे सम अवस्था मे रखना चाहिये। यही वद्य का मुख्य कतव्य है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा रोग मे जब मास अ य त क्षीण हो जाता है तब **क्रव्यान्मांसादमासानि बृ हणानि विशषत।** इ यादि वचनो के द्वारा रोगी को मास खाने वाले पश पक्षियो के मास सवन का नि श किया गया है। च कि मनुष्य के मास तथा अ य खाद्य मास मे मास व सामान्य है—अतएव म स ब हण करने वाला होता है। कहा भी है— **शरीर बृ हण ना यत्त द्य मासाद्विशिष्यते।**

इससे स्पष्ट है कि आयुवद शास्त्र मे सामा य का प्रतिपादन मात्र दाशनिक सिद्धान्त के रूप मे नही किया गया है अपित चिकित्सा की दृष्टि से उसकी विशष उपयोगिता है। क्योकि **समानगुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धिकारणम।** इस आष वचन के अनुसार सामा य के आधार पर ही शरीर के विभिन्न भावो की क्षीणता को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार यह आयुवदीय चिकि सा का सूत्र एव आयुवद का मौलिक सिद्धान्त है।

दाशनिक दृष्टि से सामा य के प्रतिपादक महर्षि कणाद है। उ होन अपने वशेषिक दशन मे पदाथ के रूप म इसका प्रतिपादन एव विवेचन किया है। किन्तु आयुवद मे इसे चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे अगीकृत किया गया है। वैशेषिक दशन मे तो इसका साधारण रूप मे ही विवेचन मिलता है जबकि आयुवद मे इसका विशद एव सारगर्भित विवेचन किया गया है। आयुवद म यह मात्र सद्धान्तिक रूप मे ही प्रतिपादित नही है अपितु व्यवहारिक रूप मे भी उसे अ यन्त व्यापकता पूवक अपनाया गया है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा को व्यापक रूप से सफलता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त आयुवद मे सामान्य का उपयोग रोग निदान रोग

निवारण के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु भी किया गया है। तदनुसार इसका तात्विक ज्ञान अपेक्षित बतला कर लोक-पुरुष का साम्य (पुरुषोऽयं लोकसमित) जिस प्रकार बतलाया गया है और इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को स्थिर किया गया है वह अपने आप मे सारगर्भित एव पूर्णता लिये हुए है। शरीर और ससार के प्रत्येक भाव मे एकरूपता स्थापित करने और इस विषय मे सिद्धान्त स्थिर करने का श्रेय मात्र आयुर्वेद शास्त्र को है।

सामान्य का लक्षण

सर्वदा सर्वभावानां सामान्य वृद्धिकारणम् —च सू १।४४
सामान्यमेकत्वकरम —च सू १।४५
तुल्यार्थता हि सामान्यम —च सू २।४५

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेत च सामान्यम। तदेकत्वकर वृद्धिकर सादृश्य च। —सप्तपदार्थी

नित्यमनेकानुगतसामान्यम द्रव्य-गुण कर्मवृत्ति नित्यतो सत्यनेक समवेतत्वमिति वा सामान्यलक्षणम।

अर्थ—सदा समस्त भाव पदार्थों की वृद्धि करने वाला कारण सामान्य होता है। सामान्य एकत्व करने वाला होता है। तुल्यार्थता ही सामान्य कहलाती है स्व विषय के समस्त द्रव्यो मे रहने वाला आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण सामान्य होता है। सामान्य नित्य एक तथा अनेक मे अनुगत समवाय सम्बन्ध से रहता है। यह एकत्व वृद्धि तथा सादृश्य को उत्पन्न करने वाला होता है। अर्थात नित्य होते हुए जो अनेक पदार्थों मे समवेत रहता है उसे सामान्य कहते हैं। यह द्रव्य गुण और कर्म तीनो मे रहता है।

सयोग आदि भी अनेक पदार्थों में समवेत रूप से रहते हैं। अत उनमे अतिव्याप्ति के निवारणार्थ नित्यत्व का सन्निवेश किया गया है। सयोग नित्य नहीं होता। नित्य होते हुए आकाश परिमाणादि द्रव्यो मे समवेत रहते हैं। किन्तु वे एक काल में एक ही वस्तु मे समवेत रहते हैं। अर्थात आकाश परिमाण नित्य है। किन्तु वह मात्र एक आकाश मे रहता है। अत अनेक पद लगाया गया। अत्यान्ताभाव में भी नित्यत्व और अनेक वृत्ति दोनो ही गुण हैं। अत वृत्तित्व सामान्य का परित्याग करके समवेतत्व' शब्द लगाया गया। इस प्रकार सामान्य का निर्दुष्ट लक्षण निष्पन्न हुआ।

सामान्य जाति—सामान्य से जाति का भी ग्रहण किया जाता है। जो लक्षण या धर्म समान गुण धर्मी द्रव्य मे पाया जाता है वह जाति कहलाता है। जैसे समस्त

गायो मे समान रूप से रहने वाला धर्म 'गोत्व' है। इसे गोत्व जाति कहते है। इसी प्रकार मनुष्यो मे मनुष्यत्व और अश्वो मे अश्वत्व आदि।

सामान्य के उपर्युक्त लक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस पदार्थ के द्वारा भिन्न भिन्न देश और काल मे रहे हुए अनेक द्रव्यो म समानता का ज्ञान होता है उसे सामान्य अथवा जाति कहते। जसे भिन्न भिन्न देश और काल मे रही हुई अनेक गाय है। उनमे जिस पदार्थ के द्वारा हम यह गाय है यह गाय है इस प्रकार की समानता का जो ज्ञान होता है वह है गोत्व। जिस जिस पदार्थ मे हमे गोत्व की प्रतीति होती है। उसे ही हम गाय कहते हैं। अत सिद्ध है कि समस्त गायो मे गोत्व समान रूप से विद्यमान रहता है। जो अनेक द्रव्यो मे समान रूप से विद्यमान हो वही समान्य या जाति कहलाती है।

गोत्व जाति के ज्ञान से ससार के समस्त भागो मे रहने वाली विभिन्न रगो विभिन्न गुणो और विभिन्न अवस्थाओ वाली गाय गोत्व' जाति से भिन्न या पृथक नही हो सकती और उसी मे समाविष्ट होने स सभी एक ही रूप मे जानी जाती हैं। अर्थात् इनमे भेद होते हुए भी इनका जो तात्विक ज्ञान और गोत्व धर्म या जाति है वह समस्त गायो मे सदा से रहता आया है और आगे भी रहेगा। गायो के नष्ट होने पर भी गोत्व जाति का विनाश नही होगा। गाय तो उत्पन्न भी होती है उसका विनाश भी होता है किन्तु उसमे रहने वाला गोत्व न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट होता है। अर्थात गोत्व नित्य होता है। गाय अनेक होने पर भी उनमे स्थित गोत्व एक ही होता है और गाय मे वह समवाय (अपृथग्भाव) सम्बन्ध से रहता है। तात्पर्य यह है कि अनेक द्रव्यो मे रहता हुआ भी जो स्वय एक और नित्य होता है वह सामान्य कहलाता है।

इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए आचार्यों ने सामान्य का **नित्यत्व अनेकानुगत सामान्यम** यह लक्षण प्रतिपादित किया है। यह केवल द्रव्य गुण और कर्म मे रहता है। सामान्य मे सामान्य नही होता। क्योकि सामान्य म सामान्य मानने से अनवस्था होती है। विशेष मे सामान्य रह नही सकता क्योकि विशेष सामान्य से सर्वथा विपरीत होता है। इसी लिए वह असामान्य कहलाता है।

सामान्य का आश्रय

सामान्य की सत्ता या स्थिति किस किस पदार्थ मे होती है इसका प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है— **द्रव्य गुण कर्मवृत्ति सामान्यम**। अर्थात यह सामान्य द्रव्य गुण और कर्म मे रहता है। इनके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ मे सामान्य की वृत्ति नही है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सामान्य स्वय सामान्य मे नही रहता जसाकि गुण स्वय गुण म नही रहता है। यदि सामान्य मे सामान्य की स्थिति मान ली जाय तो

वह अनवस्था दोष से दूषित हो जायगा और दोष युक्त पदाथ न तो दशन शास्त्र मे और न ही आयुवद शास्त्र मे ग्राह्य है। सामान्य की अवस्थिति विशेष मे भी स्वीकार नही की गई है। क्योकि वह (विशेष) इस (सामान्य) के सर्वथा विपरीत या विरुद्ध होता है। परस्पर विरोधी पदार्थों या द्रव्यो मे एक दूसरे की अवस्थिति कदापि सम्भव नही है। समवाय एक पदार्थ होते हुए भी एक नित्य सम्बन्ध रूप होता है जो द्रव्य गुण और कम मूलक होता है। अत उसमे सामान्य की स्थिति सम्भव नहीं है। सामान्य तो समान गुण धम की वृद्धि का कारण है न कि वह सम्बन्ध कारक है। इस प्रकार सामान्य मात्र द्रव्य गुण-कम वृत्ति वाला होता है। ये तीन पदाथ ही उसके आश्रय हैं।

सामान्य के भेद–

टीकाकार आचाय चक्रपाणि दत्त के द्वारा आयुवद मे चरक सहिता मे सामान्य तीन प्रकार का माना गया है। यथा—१ **द्रव्य सामान्य** २ **गुण सामान्य** और ३ **कर्म सामान्य**। चरक मे तीन स्थलो पर सामान्य के लक्षणो का उल्लेख मिलता है। वे तीनो लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार के सामान्य का प्रतिपादन करने वाले हैं। जैसे—(१) **द्रव्य सामान्य— सवदा सवभावानां सामान्य वृद्धिकारणम** (२) **गुण सामान्य— सामान्यमेकत्वकरम** (३) **कम सामान्य— तुल्यार्थता हि सामान्यम**।

द्रव्य सामान्य—मनुष्य के शरीर मे स्थित और बाह्य जगत मे स्थित (अन्य प्राणियो के शरीर को छेदन कर लाया गया गया) मास समान है। क्योकि दोनो मे समानता है। इसी भाति बाह्य जगत मे स्थित रक्त मज्जा शुक्र और शरीर गत रक्त मज्जा शुक्र के ही समान है। सामान्य युक्त बाह्य द्रव्य के द्वारा सामान्य युक्त शरीर गत द्रव्य की सर्वोत्तम पुष्टि (वृद्धि) होती है। जसे मास से मास की रक्त से रक्त की मज्जा से मज्जा की शुक्र से शुक्र की इत्यादि। इस प्रकार एक द्रव्य स्वजातीय एव स्वयोनि द्रव्य की वृद्धि मे कारण होता है। यही द्रव्य सामान्य कहलाता है।

गुण सामान्य—जिस गुण वाले द्रव्य का सेवन किया जाता है। शरीर मे दोष धातु एव मल गत उसी गुण की वृद्धि होती है। जसे मास आदि बाह्य द्रव्यो मे स्थित गुरु गुण तथा मास आदि विभिन्न शरीरगत धातुओ मे स्थित गुरु गुण परस्पर सामान्य है। बाह्य द्रव्यो का सेवन करने पर तद्गत गुरु आदि गुण शरीरावयवगत गुरु आदि गुणो की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार लघु स्निग्ध रूक्ष शीत आदि गुणो के उदाहरण निम्न प्रकार जानना चाहिए—

पयशुक्रयोर्भिन्नजातीयोरपि मधुरत्वादिसामान्य तत्वकता करोति' अर्थात् शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध माधुय गुण से शुक्र की वृद्धि करता है अथवा एकत्व को उत्पन्न करता है। अत गुणो की समानता होने से यह गुण सामान्य है।

कम स मान्य –किसी बाह्य कर्म को करने से शरीरगत तद्र प कम की वृद्धि होती है। एक ही स्थान पर सतत बठ रहने से या विश्राम करने से स्थैर्य (स्थिरता) करने वाले कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अधिक ससरण (तरना) से चलन कम रूप वायु की वद्धि होती है। इस प्रकार कम का सेवन शरीरगत उसी कर्म की वृद्धि करने वाला होता है।

भट्टार हरिश्च द्र ने चक्रपाणि दत्त द्वारा प्रतिपादित उपयु क्त त्रिविध—द्रव्य सामा य गुण सामान्य एव कम सामा य को पथक पथक न मानकर तीनो का समा वेश **सवदा सवभावाना सामा य वृद्धिकारणम** इस परिभाषा के अ तगत ही कर लिया है। अत इ होने सामा य के पृथक तीन भेदो का मानना अयुक्तियुक्त समझा। उन्होने सामान्य के निम्न तीन भेद स्वीकार किये हैं—(१) अ यन्त सामा य (२) मध्य सामा य और (३) एक दश सामान्य। इसमे सवदा सवभावानां सामान्य वृद्धि कारणम् को अ यन्त सामान्य **सामान्यमेकत्वकरम** को मध्य सामा य और **त यार्थता हि सामान्यम** को एक दश सामा य माना है। कि तु चक्रपाणि दत्त ने उक्त त्रिविध सामा य का कोई विशष मह व नही दिया है। उन्होने विशेष प्रयोजन वाला नही होने से श्रद्धा योग्य एव मा य नहीं समझा। इसके अतिरिक्त उन्होने आगे कहा कि अनेक आचाय सामा य को दो प्रकार का मानत हैं— (१) उभयवत्ति सामान्य और (२) एकवत्ति सामान्य।

उभयवत्ति सामान्य— उभयवत्ति सामा य वह होता है जिसमे वधक और वर्धनीय दानो द्रव्यो मे द्रव्यत्व या गुणत्व सामा य पाया जाता है। जसे— मास मासवधकम अर्थात बाह्य मास खाने से शरीरगत मास की वद्धि होती है। इसमे बाह्य मांस पोषक एव शरीरगत मास पोष्य होता है। यहा पर पोषक और पोष्य दोनो मे मासत्व सामान्य है। अत यह उभयवृत्ति सामान्य हुआ।

एकवृत्ति सामा य—एकवृत्ति सामा य वह होता है जिसमे एक पक्षीय अर्थात पोषक सामा य होता है। जसे 'घतमग्निकरम् अर्थात घृत का सेवन करने से अग्नि को वद्धि होती है। यहा घृत और अग्नि मे कुछ भी सामान्य नही है। प्रभाववश घृत अग्नि की वृद्धि (प्रदीप्त) करता है। वृद्धिकारक होने से सामान्य के उदाहरण के अन्तगत उसे लिया गया है। घृत मे स्थित घतत्व ही अग्नि की वृद्धि मे कारण होता है। अग्नि मे घृत व का अभाव है। अत वह एकवृत्ति सामान्य हुआ। इसी भांति (दौडना) आदि से वायु की तथा निद्रा से कफ की वृद्धि होना आदि उदाहरण एक वृत्ति सामा य के ही परिचायक हैं।

इस प्रकार समान और असमान दोनों प्रकार के द्रव्य वृद्धि में कारण होते हैं। इस तथ्य को दखकर कुछ आचार्यों का मत है कि महर्षि चरकोक्त उपर्युक्त लक्षण

'सामान्य वद्धिकारणम्' निरथक प्रतीत होता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि जहां-जहा द्रव्य गुण अथवा कर्म की समानता हो वहां-वहां वृद्धि अवश्य होती है। यहां जहां-जहां सामान्य हो वहा-वहा वृद्धि हो और जहां-जहां वद्धि हो वहा-वहा सामान्य हो ऐसी व्याप्ति नही बनाई जाती है। क्योंकि देखा गया है कि पर सामान्य के अभाव में भी वृद्धि होती है। यह आवश्यक नही कि जहां सामान्य हो तुल्यार्थता हो अथवा एकत्वकर हो वही वृद्धि होती है। अपितु भिन्न द्रव्यत्व भिन्न गुणत्व एव भिन्न कर्मत्व होने पर भी प्रभाववश वृद्धि सम्भव है। जसा कि उपयुक्त एकवृद्धि सामान्य के अन्तगत घृतमग्निकरम् के उदाहरण के द्वारा स्पष्ट है।

यहां एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि सामान्य और प्रभाव मे पर्याप्त भिन्नता है। द्रव्य मे स्थित प्रभाव के द्वारा जो काय सम्पन्न होता है वह सामान्यत द्रव्य-गुण कर्मातीत होता है। ऐसी स्थिति मे प्रभाव के द्वारा जो कम विशेष का सम्पादक होता है यदि उसे सामान्य का भी उदाहरण बतलाया जाता है तो वह कथमपि मान्य नही हो सकने की स्थिति मे यहाँ भी उसी प्रकार का अर्थ करना उपयुक्त होगा जो उभयवृत्ति मे सामान्य किया गया है। अर्थात द्रव्य-गुण कर्म इन तीनो मे से किसी एक की समानता होने पर उसके प्रयोग से जो वद्धि होती है उसे एक देश सामान्य कहना चाहिए। यह निर्विवाद सत्य है कि वृद्धि के प्रति द्रव्य गुण और कम ये तीनों कारण होते हैं। इनमे से किसी एक दो या तीनो म से सामान्य के आधार पर शरीर गत द्रव्य गुण या कम इन तीनो म किसी एक दो तीन की वृद्धि होती है। इन तीनो मे से कोई एक भी नही होने पर वृद्धि का होना सवथा असम्भव है। यदि इनके बिना ही शरीर गत भावो की वद्धि स्वीकार ली जाय तो सामान्य सिद्धान्त की स्थापना का कोई प्रयोजन ही शेष नहीं रह जाता। वस्तुत आयुवद शास्त्र में सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकृतिसम समवाय पर आधारित है। उसके विपरीत वृद्धि का जो भी उदाहरण दृष्टिगोचर होता है वह विकृति विषम समवायारब्ध होता है अथवा उसे द्रव्यगत प्रभावजन्य समझना चाहिए।

उपयु क्त विवेचन के आधार पर यह कहना अयुक्ति सगत नहीं होगा कि किसी भी रोग विशेष को दूर करने के लिए जब विभिन्न भेषज प्रयोग किए जाते हैं तब केवल द्रव्य सामान्य जिसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है से ही कार्य की सिद्धि सम्भव नही है, अपितु द्रव्य गुण और कर्म इन तीनो का आश्रय लेकर चिकित्सा की जाती है तब ही त्वरित रूप से लाभ होता है और तब आयुर्वेद के प्रयोजन की सिद्धि होती है।

सामान्य के अन्य भेद

व्यापकता की दृष्टि से सांख्यदर्शन मे सामान्य के निम्न भेद बतलाए गए हैं—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ।।
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते ।।
व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च ।

—कारिकावलि १८

सामान्य दो प्रकार होता—(१) पर सामान्य और (२) अपर सामान्य । द्रव्यादि तीन पदार्थों (द्रव्य गुण और कर्म) मे रहने वाली सत्ता को पर सामान्य और पर से भिन्न जाति को अपर सामान्य' कहते हैं । द्रव्यत्व आदि जाति तो पर सामान्य भी कहलाती है । सामान्य व्यापक होने पर 'पर और व्याप्य होने से अपर भी होता है । क्योकि व्यापकता की दृष्टि से पर सामान्य अधिक देश या अधिक व्यक्तियो मे व्याप्त रहता है और अपर सामान्य अल्प देश या अल्प व्यक्तियो मे ही व्याप्त रहता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सबसे अधिक व्यक्तियो मे रहने वाली अथवा अधिक देश मे रहने वाली जाति पर सामान्य और कम व्यक्तियो अथवा अल्प देश मे रहने वाली जाति अपर सामान्य कहलाती है । जो दोनो के बीच मे रहने वाली जाति है वह अपर सामान्य कहलाती है जैसे द्रव्य गुण और कर्म इन तीनो पदार्थों मे पदार्थत्व जाति पर सामान्य है । इसे सत्ता भी कहते हैं । क्योकि इसके अन्तर्गत अन्य समस्त प्रकार के सामान्यो का समावेश हो जाता है । जैसे द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व घटत्व पटत्व आदि । पर सामान्य कभी अपर भी हो सकता है और अपर सामान्य कभी पर भी हो सकता है । अर्थात् सामान्य भाव बुद्धि विशेष के अधीन है । दृष्टि भेद से अथवा प्रकरण वश दोनो प्रकार की स्थिति सम्भव है । जैसे पदार्थत्व द्रव्यत्व की अपेक्षा पर सामान्य है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है । किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व भी पर सामान्य हो जाता है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है ।

अतः ये दोनों परत्वापरत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं । एक-दूसरे की अपेक्षा रखे बिना सामान्य मे परत्वापरत्व भाव सम्भव नही है ।

षष्ठ अध्याय

विशेष निरुपण

आयुवद शास्त्र मे सामान्य की भाति विशेष का भी महत्वपूण स्थान है। विशेष भी सामान्यवत आयुवदीय चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण आधार भूत सिद्धान्त है। मिथ्या आहार विहार के द्वारा शरीर मे स्थित दोष प्रकुपित (वृद्धि को प्राप्त) हो जाते हैं तो वे विभिन्न प्रकार के रोगो को उत्पन्न करते हैं। उन रोगो के उपशमनार्थ या उनकी चिकित्सार्थ बढ हुए दोषो का शमन या क्षय या निर्हरण करना आवश्यक है। दोषो का इस प्रकार का शमन या क्षय विशेष' सिद्धान्त की अपेक्षा रखता है। अर्थात विपरीत गुण वाले द्रव्यो का सेवन करने से दोषो का उपशमन या क्षय हो सकता है। जसा कि शास्त्र मे निर्दिष्ट है—'विपरीतगुणैर्द्रव्यै मारुत सम्प्रशाम्यति। इसी प्रकार पित्त और कफ के विषय मे भी समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त शरीर मे स्थित विभिन्न अ गो अवयवो भावो आदि की पृथक सत्ता का ज्ञान भी मात्र विशेष के द्वारा होता है। रक्त से अस्थि मज्जा आदि धातुए पृथक-पृथक सत्तावान हैं। हृदय यकृत प्लीहा आदि अन्या य अवयव भी अलग-अलग अस्तित्व वाले हैं। इन समस्त भावो के पथक अस्तित्व मे मात्र विशेष ही कारण है। इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से तथा शरीरान्तगत समस्त भावो में पथक्त्व ज्ञापित करने की दृष्टि से विशेष नामक पदाथ को आयुर्वेद शास्त्र मे अ गीकार कर प्रतिपादित किया गया है।

आयुवद शास्त्र मे विशेष पदाथ को विशिष्ट प्रयोजन से अपनाया गया है। रोगों की उत्पत्ति और उनका विनाश स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा चिकित्सो पयोगी द्रव्यों गुण और कर्म का पथक्त्व एव पृथक कामु कता का विवेचन विशेष के ही आधीन है। अन्यथा ससार मे विद्यमान समस्त भावो पदार्थों मे एकत्व या एकरूपता हो जायेगी। ऐसी स्थिति मे हमारा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पायगा। विशेष सिद्धान्त के द्वारा आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित मूल प्रयोजन की सिद्धि होती है। द्रव्य गुण विज्ञान के लिए तो इसकी उपयोगिता सर्वाधिक है। विभिन्न रोगो में भेषज प्रयोग का मूल आधार ही विशेष सिद्धान्त है। अत आयुर्वेद शास्त्र मे इसके महत्व और उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

षडदर्शनो म कणाद दशन का विशिष्ट महत्व है। कणाद दर्शन सामान्यत वैशेषिक दशन के नाम से व्यवहृत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रस्तुत विशष पदाथ वशषिक (कणाद दशन) का सर्वाधिक महत्वपूण पदाथ है और इसका प्रतिपादन विशष रूप से किया गया है। अत कणाद दशन मे विशष पदाथ का वशिष्टय एव विशिष्ट उपादेयता होने के कारण वह वशेषिक दशन कहलाने लगा।

विशष का लक्षण

ह्रासहेतुर्विशेषश्च। —चरक सहिता सूत्र स्थान १/४३
विशेषस्तु पृथक्त्वकृत। —चरक सहिता सत्र स्थान १/४४
विशेषस्तु विपर्यय। —चरक सहिता सूत्र स्थान १/४४
अत्य तव्यावत्तिहतुर्विशेष।

'सजातीयेभ्यो व्यावर्तन विशष शिष असर्वोपयोगे इति धात्वनुसारात

—वामनाचार्य

व्यावत्तिप्रत्ययहेतुरनेक प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेष स ह्रासहेतु पथक्त्वकृत् वसादृश्यच

—सप्तपदार्थी

सामान्यरहितत्वे सति नित्यकद्रव्यमात्रवृत्तिविशष।
अजातिरेकवत्तिश्च विशेष इति शिष्यते।
सवषा भावाना द्रव्यगुणकर्मणा विशषो ह्रासहेतु।

विशिष्टो हि भावो विशिष्टानि द्रव्यगुणकर्माणि ह्रासयित प्रयुङ त इति विशिष्टाना द्रव्यगुणकमणा ह्रासे प्रयोजको विशेष। —गगाधर

अथ—ह्रास का कारण विशष होता है। विशेष पृथक्त्व करने वाला होता है। सामान्य से ठीक विपरीत (उल्टा) विशष होता है। एक वस्तु से अन्य समस्त वस्तुओ को अन्तत पथक करने वाला कारण विशष होता है। सजातीय द्रव्यो से पथक् करने वाला विशष होता है और यह शिष् धातु से असर्वोपयोग अर्थ मे निष्पन्न हुआ है। व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु प्रति द्रव्य मे समवाय सम्बध से स्थित वह ह्रास का हेतु, पृथक्त्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करने वाला विशष होता है। सामान्य के अभाव मे (सामान्य से विपरीत) नित्य और एकत्व द्रव्य मे रहने वाला विशेष होता है।[1]

जाति रहित और एक वृत्ति वाला विशेष होता है। समान (गुण धर्म) वाले द्रव्यो से समान भावो की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत असमान याने विशेष से हानि या ह्रास होता है। द्रव्य-गुण-कर्म आदि समस्त भावों के ह्रास मे विशेष हेतु होता है।

विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित विशेष के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि नित्यद्रव्य में रहने वाले सामान्य से ठीक विपरीत दूसरे द्रव्य को परस्पर व्यावृत करने वाला विशेष होता है। संसार के समस्त परमाणु एक-दूसरे से भिन्न हैं। अनेक परमाणु सजातीय होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता एव महत्व है। प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। अत वह दूसरे परमाणु से सर्वथा भिन्न है। परमाणुओं की इस पृथकता का कारण विशेष है। यदि विशेष नामक स्वतन्त्र पदार्थ न माना जाय तो ससार के समस्त परमाणुओ एव द्रव्यों मे कोई विभेद या पार्थक्य नही रह जायगा और सभी आत्मा मिलकर एकरूप हो जायेंगी। अत वर्तमान मे हमे प्रति शरीर मे भिन्न भिन्न आत्मा की जो प्रतीति होती है वह विशेष के कारण ही है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का मन एक-दूसरे से पृथक् एव भिन्न है। मन की भिन्नता के कारण ही हम लोग एक-दूसरे के मन की बात को नही जान पाते हैं। इस भिन्नता का कारण भी विशेष ही है। इस प्रकार ससार के समस्त द्रव्यों एव द्रव्यगत परमाणुओ मे पारस्परिक विभेद (पार्थक्य) स्पष्ट करने के लिए षट् पदार्थान्तगत स्वतन्त्र रूपेण विशेष नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विशेष पृथगाकार बुद्धि का कारण है। जैसे गोत्व ही अपर गो व्यक्ति की अपेक्षा से एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करने से सामान्य है वही गोत्व अश्व (घोडा) आदि की अपेक्षा से पृथक बुद्धि उत्पन्न करने के कारण अश्व आदि के प्रति विशेष कहलाता है।

जिस प्रकार सामान्य को वृद्धि का कारण बतलाया गया है उसी प्रकार विशेष ह्रास में कारण है। किन्तु ये दोनो वृद्धि और ह्रास मे तभी कारण होते हैं जबकि उनका कोई प्रबल विरोधी कारण उपस्थित न हो। जैसे भोज्य मास मे मांसत्व होने से वह शरीर के धातु रूप मांस के समान है परन्तु शोणित अस्थि से असमान या पृथक् होने का कारण विशिष्ट है। अत यद्यपि भोज्य मास का सेवन करने से शरीर के धातु रूप मास की वृद्धि तो होती है किन्तु असमान या पृथक होने से शोणित अस्थि आदि धातुओ का विशेष की अपेक्षा से ह्रास या क्षय (कमी) होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नही है। इसका कारण यही है कि शोणित आदि के ह्रास के लिए विरोधी कारण उपस्थित नहीं है। अथवा जहा विशेष से ह्रास या क्षय अपेक्षित है वहाँ विशेष से विरुद्धत्व विशेष का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आचार्यों ने शास्त्र में स्थान स्थान पर उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही वृद्धि और क्षय का उपाय निर्देशित किया है। यथा—

वृद्धि समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ।

तथा— विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ।

इत्यादि वचनो से विरुद्धत्व विशेष का ही सकेत मिलता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि अविरुद्ध विशेष यद्यपि वृद्धि या ह्रास मे कारण नही है तथा असमान द्रव्यो का उपयोग करने से विनश्वर द्रव्यो का ह्रास होता ही है क्योंकि उसका पूरण या पोषण करने वाला हेतु उपस्थित नही है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये— यदि शरीर मे स्थित शोणित के विरोधी द्रव्य का सेवन नही किया जाय और न ही तत्समान द्रव्य का सेवन किया जाय जिससे तत्सम द्रव्य गुण की वद्धि हो तो परिणाम यही होगा कि शरीर मे स्थित वतमान रक्त मे कमी होती जायेगी। इसका कारण यही है कि यद्यपि विरुद्ध विशेष का सेवन नही किया जा रहा है फिर भी स्वत क्षीयमाण रक्त के पूरक हेतु के विद्यमान या सेवन नही होने से रक्त स्वयमेव क्षीण होता जायगा। अत अविरुद्ध विशेष का सेवन करने पर भी ह्रास या क्षय को देखते हुए ही ह्रास हेतुर्विशेषश्च इस प्रकार का कथन किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि द्रव्य भी किसी कारण से विनाश या क्षय को प्राप्त होते हैं उन कारणो को ही विरुद्ध विशेष समझना चाहिये। इस प्रकार विरुद्ध एव अविरुद्ध विशेष के आधार पर आयुर्वेद शास्त्र मे चिकित्सा हेतु उसकी उपयोगिता है।

विशेष पदाथ की व्याप्ति सामान्यत नि य द्रव्यो मे जैसे—पृथ्वी जल तेज एव वायु के परमाणुओ मे एवं आकाश काल दिक मन और आत्मा में है। अत नित्य द्रव्यो मे रहने के कारण विशेष भी नित्य है। विशष सख्या मे अनेक होने के कारण अनन्त हैं अथवा जिन द्रव्यों मे विशष की व्यापकता (स्थिति) है उन द्रव्यो की अनन्तता के कारण विशेष भी अनन्त हैं। विशेष इन्द्रिय गोचर नही होने के कारण इन्द्रियातीत अथवा अतीन्द्रिय होते हैं। इनकी व्यापकता अल्प देश मे ही होती है। अर्थात् वैधर्म्य तक ही ये सीमित रहते हैं।

विशेष के भेद

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है—विशेष सामान्य से ठीक विपरीत होता है। सामान्य की भाँति यह भी तीन प्रकार का होता है—द्रव्य विशेष गुण विशेष और कर्म विशेष। ऊपर विशेष के जो विभिन्न लक्षण बतलाये गए हैं उनमे से 'ह्रास हेतुर्विशेषश्च' यह लक्षण द्रव्य विशेष का 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' यह लक्षण गुण विशेष का और विशेषस्तु विपयय यह लक्षण कर्म विशेष का स्वीकृत किया गया है। इन लक्षणो के अनुसार विशेष को निम्न उदाहरणो के द्वारा समझना चाहिये—

द्रव्य विशेष—वृद्धिगत किसी द्रव्य को अन्य द्रव्यो के प्रयोग के द्वारा घटाना या कम करना द्रव्य विशेष कहलाता है। जैसे शरीर मे वृद्धिगत मेद को घटाने के लिए उष्ण जल के साथ मधु का सेवन करना जौ-बाजरा आदि अन्न द्रव्यो का सेवन करना। इसी प्रकार मांस को कम करने के लिए अस्थि का प्रयोग उपयुक्त होता है। अस्थि प्रयोग के लिए शख शुक्ति कौडी की भस्म आदि द्रव्य लिए जा सकते हैं।

गुण विशेष—किसी द्रव्य का प्रयोग करने पर उसके विपरीत गुणो को हानि होना गुण विशेष कहलाता है। शरीर मे वायु की वृद्धि होने पर तेल का प्रयोग किया जाता है क्योकि वायु शीत रुक्ष व लघु गुण प्रधान होता है और तेल उष्ण स्निग्ध व गुरु गुण वाला होता है। निरन्तर अभ्यास या प्रयोग करने से अपने विशेष गुण के कारण तेल वायु के गुणो का शमन करता है और वायु को दूर करता है। इसी प्रकार गुडूची शीत गुण के कारण पित्त के उष्ण गुण का शमन करती है। अत विपरीत गुणो का ह्रास होने के कारण यह गुण विशेष कहलाता है।

कर्म विशेष—एक कर्म के द्वारा अन्य विपरीत कर्म की हानि होना कर्म विशेष कहलाता है। वायु का कर्म चलन है। जब उसकी वृद्धि हो जाती है तो उसके विपरीत रोगी को विश्राम कराया जाता है। अथवा लघन जल प्लावन भ्रमण आदि कर्मों के द्वारा स्थिरता कारक कफ के कर्मों का ह्रास या शमन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के द्वारा शरीर मे वृद्धिगत कर्मों की हानि करना कर्म विशेष होता है।

प्रवृत्तिरुभयस्य तु

सामान्य और विशेष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि सामान्य वृद्धि करता है और विशेष ह्रास या पृथक्त्व करता है। परन्तु सामान्य और विशेष बिना उपयोग के ही वृद्धि एव ह्रास मे कारण नही हुआ करते। अर्थात् अजमांस मे मांसत्व रहते हुए भी जब तक उसका उपयोग नही किया जाता तब तक मनुष्य में तज्जन्य मांस की अभिवृद्धि होना सम्भव नही है। इसी प्रकार विशेष मे भी समझना चाहिए। महर्षि चरक ने भी यही भाव 'प्रवृत्तिरुभयस्य तु' इस वचन के द्वारा व्यक्त किया है। अर्थात दोनो की प्रवृत्ति ही वृद्धि एव ह्रास में कारण होती है। अथवा इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि धातु साम्य के लिए सामान्यवत् यथा विशेषवत् द्रव्यों का उपयोग करना उचित है। क्योकि आयुर्वेद में द्रव्यो का उपयोग आरोग्य साधन के लिए ही होता है। जैसा कि कहा गया है— **आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्ति'**। कथन का अभिप्राय यह है कि भिन्न भिन्न कारणों से दोषो या धातुओ के प्रवृद्ध होने पर दोष वैषम्य या धातु वैषम्य हो सकता है। उस समय उसके गुणो से विपरीत गुण वाले विशिष्ट द्रव्यों के उपयोग से दोषसाम्य या धातु साम्य प्रति स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी दोष या धातु के किन्हीं कारणों से क्षीण

हो जाने पर उस दोष या धातु के समान गुण वाले द्रव्यो का सेवन करने से उस दोष या धातु की अभिवृद्धि होकर दोष साम्य या धातु साम्य स्थापित हो जाता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है सम्यक प्रकार से प्रयुज्यमान एक ही द्रव्य वद्धि और ह्रास को युगपात् करता है। एक ओर वह स्वसमान द्रव्य गुण और कम की वृद्धि करता है तो दूसरी ओर वह अपने विरोधी या विपरीत द्रव्य गुण और कम की हानि भी करता है। तब ही वह धातु साम्यकर होता है। आयुवद शास्त्र मे भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। यथा—

तस्माद् भषज सम्यगवचायमाण युगपदूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकर भवति अधिकमपकर्षति न्यूनमाप्यायति।

अर्थात् सम्यक रूप से प्रयोग की गई भेषज (औषध) युगपात न्यून एव प्रवृद्ध धातुओ मे साम्य को उत्पन्न करती है। वह अधिक को घटाती है और न्यून को बढाती है।

इस प्रकार सामान्यत सामान्य एव विशेष के आधार पर वद्धि और ह्रास की प्रवृत्ति एक साथ होती है।

सप्तम अध्याय

समवाय निरूपण

लक्षण—

समवायोऽपृथग्भाव भूम्यादीनां गुणमत ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्य न तत्रानियता गुणा ॥
—चरक संहिता सूत्रस्थान १/४९

भूम्यादीनां गुणरपृथग्भाव समवाय मत । स नित्य यत्र तत्र गुण अनियत न ।

तेना धाराणामाधेयर्योऽपृथग्भाव स समवाय । स नित्य इति समवायोऽविनाशी । सत्यपि समवायिना द्रव्याणां नाशे समवायो न विनश्यति ।
—चक्रपाणि दत्त

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो ।
तेषु जातेश्च सम्बन्ध समवाय प्रकीर्तित ॥ —कारिकावलि १/१२

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनो क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च य सम्बन्ध स समवाय । —मुक्तावलि

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूताना य सम्बन्ध इहेति प्रत्यय हेतु स समवाय ।
—प्रशस्तपाद

इहेदमिति यत कार्यकारणयो । —वैशेषिक दर्पण ७/२/२४

अर्थ—भूमि आदि आधार द्रव्य के साथ गुर्वादि आश्रय गुणो का जो अपृथग्भाव (अलग-अलग न रहने का) सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं । यह सदा नित्य होता है जहाँ भी द्रव्य है वहाँ गुण अनियत नहीं है अर्थात नियत रूप से विद्यमान है ।—(चरक)

इससे आधार का आधेय से जो (अपृथग्भाव पृथक नही होकर रहने का) सम्बन्ध है वह समवाय है । वह नित्य है । इस प्रकार समवाय अविनाशी होता है । समवायि द्रव्यो के नाश होने पर भी समवाय नष्ट नहीं होता है ।

कपाल आदि मे घट आदि का द्रव्यो में गुण और कर्मों का उन ही द्रव्य गुण और कर्म मे जाति का जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है । —(मुक्तावलि)

इसमे यह है' इस प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) जिसके कारण कार्य-कारण भाव (अवयवावयवी) मे होती है वह समवाय है । —(वै द)

दो अथवा दो से अधिक तत्वो का पारस्परिक संयोग होने पर उनमें कोई न

कोई सम्ब ध अवश्य होता है। इस सम्ब ध के कारण ही द्रव्य परस्पर सयुक्त रूप से स्थित रहते हैं। यह सम्ब ध दो प्रकार का होता है—(१) नित्य सम्बन्ध (२) अनित्य सम्बन्ध।

इसमे प्रथम नित्य सम्ब ध वह होता है जिसके द्वारा द्रव्य स्थायी रूप से एक दूसरे से सयुक्त रहते हैं। इसमे द्रव्यो का सम्ब ध विच्छेद नही होता है और सयुक्त द्रव्य कभी एक दूसरे से पथक नही होते। यह स्वत सिद्ध होता है और किसी बाह्य कर्म के द्वारा उसे नियोजित नही किया जा सकता है। नित्य सम्ब ध वाले द्रव्य पहले पथक पथक सत्तावान् नही होते। अत किसी भी कम के द्वारा उन्हे सयुक्त नही किया जा सकता और न ही किसी कम के द्वारा उ हे पृथक किया जा सकता है।

द्वितीय अनित्य सम्ब ध वह होता है जिसमे द्रव्यो का पारस्परिक सयोग अस्थायी होता है और उ हे कभी भी पृथक किया जा सकता है। अनित्य सम्ब ध मे सयोजित द्रव्य पहले पथक-पथक सत्तावान नही होते हैं और सयुक्त होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान रहती है। उन द्रव्यो को किसी बाह्य कम के द्वारा सयोजित किया जाता है। यह सम्ब ध स्वत सिद्ध नही होता।

उपयक्त दोनो प्रकार के सम्ब धो मे प्रथम नि य सम्ब ध ही समवाय सम्ब ध कहलाता है और द्वितीय अनित्य सम्ब ध साधारण सयोग मात्र होने से सयोग कह लाता है।

समवाय केवल वही होता है जहाँ पदार्थों मे अयुतसिद्धिवृत्ति आधार्याधार भाव एव काय-कारण भाव हो। अयुतसिद्ध पदार्थों मे स्वभावत अपथग्भाव सम्ब ध रहता है। अर्थात वे पदाथ एक दूसरे के बिना स्थित नही रह सकते और न ही उ हे एक दूसरे से पथक किया जा सकता है। जब दो पदार्थों मे से एक की स्थिति पर दूसरे की स्थिति तथा एक के विनाश पर दूसरे का विनाश निभर हो तो वे पदार्थ अयुतसिद्ध अथवा अयुतसिद्ध वत्ति वाले होते है—जैसे अवयव और अवयवी गुण और गुणी (द्रव्य) क्रिया और क्रियावान् (द्रव्य) जाति और व्यक्ति नि य द्रव्य और विशेष इन सब का परस्पर समवाय सम्ब ध ही होता है। इसमे अवयव अवयवी से गुण गुणी (द्रव्य) से क्रिया क्रियावान् (द्रव्य) से जाति व्यक्ति से और नि य द्रव्य विशेष से कभी पथक नही हो सकता। अत इसमे परस्पर समवाय सम्ब ध है।

उपय क्त सिद्धान्त को निम्न उदाहरण के द्वारा भली भाति समझा जा सकता है। जैसे तन्तु और कपडे मे परस्पर समवाय सम्ब ध है। क्योकि कपडा शब्द का प्रयोग करने पर कपड के निर्माण मे तन्तु अपेक्षित है। अर्थात् बिना तन्तुओ के कपड का निर्माण सम्भव नही है और केवल तन्तु पृथक रहने पर वह कपडा नही कहलाया जा सकता। इस प्रकार कपडा और त तु दोनो एक-दूसरे से पथक् नहीं रह सकते। इसे ही अयुतसिद्धि या अयुतभाव कहते हैं।

जिन द्रव्यो में समवाय सम्बन्ध होता है उनमे अयुतसिद्धि वृत्ति के अतिरिक्त आधार्याधार भाव भी होता है। अर्थात् एक आधार्य (आधेय) एवं दूसरा आधार होता है। तन्तु और पट (कपडे) मे भी यही भाव विद्यमान रहता है। इनमें तन्तु आधार है और पट (कपडा) आधाय या आधय है। इसी प्रकार ऊपर जो अनेक दृष्टान्त दिये गए हैं उनमे अवयव आधार है और अवयवी आधेय गुण आधार एव गुणी आधेय क्रिया आधार और क्रियावान् आधेय जाति आधार और व्यक्ति आधेय तथा नित्य द्रव्य आधार और विशेष आधेय। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध वाले पदार्थ अयुतसिद्ध एव आधार्याधारभूत होते हैं।

उपयुक्त समवाय को सयोग नही कहा जा सकता। क्योंकि समवाय नित्य होता है और एक होता है। यह स्वत सिद्ध होने से किसी प्रक्रिया विशेष के द्वारा सयोजित नही किया जा सकता। इसके विपरीत सयोग अनित्य होता है, सख्या मे अनेक होते है और क्रिया विशेष के द्वारा सयोजित होने के कारण कृत्रिम होता है।

आयवद शास्त्र मे समवाय को भी एक पृथक पदाथ के रूप मे स्वीकार किया गया है। आयुवद मे चिकित्सा के लिए जिन वानस्पतिक खनिज या अन्य द्रव्यो तथा औषधियो का प्रयोग किया जाता है उनमे स्थित गुण के आधार पर ही वद्य यह निणय करने मे समथ होता है कि कौन सा द्रव्य या औषधि किस रोग मे प्रयोग करने योग्य है। द्रव्यो मे स्थित गुण किस सम्बन्ध से या किस भाव से वहा स्थित है—इसकी व्यापक एव सम्यक विवेचना आचार्य चक्रपाणिदत्त ने की है। महर्षि चरकोक्त भूम्यादीना गुणै को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं— भूम्यादीना गुणै यह अपृथग्भाव की विशेषता को बतलाता है। भूम्यादीना से तात्पर्य भूमि सदृश अन्य द्रव्य आदि से है। भूमि अनेक आधय पदार्थों का आधार है अत आधारत्व के उदाहरण के लिए ऐसा कहा गया है। क्योकि भूमि समस्त रूप रस आदि अथ गुरुत्व आदि विंशति गुण तथा परत्वादि दस गुण अवयवि जो सामान्य कर्मों का आधारभूत है और ये सब आधेय हैं। अन्य किसी भी द्रव्य मे इतने आधेय नही है। भूम्यादीनां का अभिप्राय यहाँ भूमि आदि समस्त आधारो का यह अर्थ लगाना चाहिए। गुणै का अर्थ आधेयो से है जो अप्रधान होते हैं। आधार की अपेक्षा आधेय सवत्र अप्रधान होते हैं। अप्रधान को गौण कहा जाता है। अप्रधान में गुण शब्द का भी व्यवहार पाया जाता है। जैसे-गुणीभूतोऽयम्" अर्थात यह गुणीभूत याने अप्रधान या गौण है। कथन का अभिप्राय यह है कि आधारो की आधेय से सहावस्थिति है यही समवाय सम्बन्ध है।

इस प्रकार समवाय के द्वारा द्रव्य और गुण का नित्य (अविनाशी) सम्बन्ध प्रतिपादित करने की दृष्टि से यहाँ उसका पदार्थत्व बतलया गया है जो महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

अष्टम अध्याय

अभाव निरूपण

आयुर्वेद मे यद्यपि अभाव को स्वीकार नही किया गया है और न ही इसकी कोई उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। तथापि प्रारम्भ मे द्विविध पदार्थों (भाव पदाथ और अभाव पदाथ) का परिगणन होने के कारण परिशेष्य न्याय के अनुसार अन्त मे अभाव पदार्थ का सक्षिप्त निरूपण कर देना समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से यहा अभाव का सक्षिप्त वणन प्रस्तुत किया जा रहा है।

लक्षण—

> प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम।
>
> अभावत्वमखण्डोपाधिधर्मविशेष इति केचित
>
> भावभिन्नत्वमभावत्वमिति परे।

अथ—जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोध) के ज्ञान के अधीन हो उसे अभाव कहते हैं।

कुछ विद्वानो का मत है कि अखण्डोपधि धम विशेष का नाम ही अभाव व है। अन्य विद्वानो के मतानुसार भाव से भिन्नत्व का नाम ही अभावत्व है।

अभाव के उपयु क्त लक्षणो से स्पष्ट है कि किसी वस्तु का नही होना ही अभाव कहलाता है। यह अभाव त्रकालिक हो सकता है। अर्थात वर्तमान मे वस्तु का नहीं होना या अनुपलब्धि होना भूतकाल मे वस्तु का नही होना या अनुपलब्धि होना और भविष्यकाल मे वस्तु का नही होना या अनुपलब्धि होना। भाव पदाथ का ज्ञान तो स्वत होता है। जैसे घट का ज्ञान घट से होता है किन्तु घटाभाव का ज्ञान स्वत न होकर घट के द्वारा होता है अर्थात् घटाभाव का ज्ञान घट के अधीन होता है। जब तक हमे घट का ज्ञान नही होता तब तक घटाभाव का ज्ञान भी नही हो सकता।

अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हुए आचार्य का कथन है कि द्रव्यादि जिन छह भाव पदार्थों का परिगणन एव कथन किया गया है वे जिसके विरोधी हो ऐसा अभाव भी सप्तम एक पदाथ है।

अभाव के भेद—

अभावस्तु द्विधा ससर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥
एव त्र विध्यमापन्न संसर्गाभाव इष्यते । —(भा प्र)

अथ—अभाव पदाथ दो प्रकार होता है—ससर्गाभाव और अन्योन्याभाव। इसमे ससर्गाभाव पुन तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अत्य ताभाव ।

कुछ विद्वान् अभाव के पुन दो भेद मानते हैं—प्रत्यक्षाभाव और अतीन्द्रिया भाव । जो वस्तु किसी भी इ द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष की जा सकती है उसकी अनुपलब्धि होना प्र यक्ष अभाव कहलाता है । इ द्रिय के द्वारा जो वस्तु ग्राह्य न हो तथा उसका विद्यमान नही होना अतीन्द्रियाभाव कहलाता है ।

प्रागभाव—

उत्पत्ते पूव कायस्याविद्यमानोऽभाव प्रागभाव अनादिसान्त ।
प्रागभावो विनाशी अजन्य उत्पत्त पूव कायस्य योऽभाव स प्रागभाव ।

किसी भी काय की उत्पत्ति से पूव उसका जो अभाव होता है उसको प्रागभाव कहते है । यह अनादि है किन्तु काय उत्प न होने के बाद इसका विनाश हो जाता है अत सान्त होता है । अजन्य होने से यह अनादि और विनाश होने से सान्त होता है । काय की उत्पत्ति से पूर्व स्वप्रतियोगी समवायि कारण मे यह रहता है। अर्थात् यह काय की उत्पत्ति के पहले काय के समवायि कारण मे रहता है और उसके द्वारा इस कपाल मे घट होगा—ऐसा ज्ञान होता है ।

प्रध्वसाभाव—

कार्यस्य विनाशानन्तरमुत्पद्यमानो योऽभाव प्रध्वसाभाव सादिमनन्तः ।
प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्ति ध्वस्त इति प्रतीतिहेतु ।
ध्वसो जन्य अविनाशी च उत्पत्त्यनन्तर कार्यस्य योऽभाव स ध्वस ।

काय के विनाश के पश्चात् जो उत्पन्न होता है वह प्रध्वसाभाव कहलाता है । यह अभाव उत्पन्न होता है किन्तु इसका कभी विनाश नही होता । अत यह उत्पद्यमान होने के कारण सादि और अविनाशी होने के कारण अनन्त होता है । यह अपने प्रतियोगी (विरोधी) से उत्पन्न होकर उसके समवायिकारण मे रहता है। इस अभाव के द्वारा घट का ध्वस हुआ ऐसा ज्ञान होता है । यह जन्य और अविना श होता है ।

अत्यन्ताभावा—

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्तभाव ।

त्रैकालिकसंसर्गाभावोऽत्यन्ताभाव स चानादिरनन्तो नास्तीत्यनुभवसिद्धो नित्य ।

जिस अभाव की प्रतियोगिता ससग से अविच्छिन्न हो और भत भविष्य तथा बर्तमान तीनो कालो मे रहती हो उसको अ यन्ताभाव कहते है। जसे पथ्वी पर घट नही है इस प्रकार का अभाव अ यन्ताभाव का उदाहरण है। यह अजन्य और अविनाशी होता है।

तीनो काल—भत भविष्य और वतमान म पदाथ के ससग के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते है। नही है ऐसा अनुभव सिद्ध और नित्य है। जसे वायु मे रूप का ससग नही है न कभी था और न कभी होगा। इस अत्य तभाव से पदार्थ का अभाव प्रतिपादित नही होता कि तु उसके ससग का अभाव प्रतिपादित होता है। जसे वायु और रूप दोनो पदाथ विद्यमान है कि तु इन दोनो का ससग नही है। अत इसे ससर्गाभाव कहा जा सकता है। यह प्रागभाव और प्रध्वसाभाव का अप्रतियोगी अन्योन्याभाव से भिन्न होते हुए अभाववान होता है। इसमे प्रागभाव और प्रध्वसाभाव के निवारणाथ त्रकालिक तथा अन्यो याभाव के निवारणार्थ ससग विशेषण पद लगाया गया है।

अन्योन्याभाव—

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योन्याभाव ।

जिन अभाव की प्रतियोगिता तादा म्य सम्ब ध से अविच्छिन्न हो उसको अन्योन्याभाव कहते हैं। जसे घट पट नही है। यहा पर घटा मा पट नही है अर्थात् इन दोनो मे तादा म्य—ऐक्य नही है। इस प्रकार के पारस्परिक अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। यहा पर प्रागभाव तथा प्रध्वसाभाव के निवारणाथ तादात्म्य शब्द लगाया गया। तादा म्य सम्ब ध के द्वारा अत्यन्ताभाव का निवारण भी हो जाता है। यह भी अत्यन्ताभाव की भाँति अजन्य एव अविनाशी होता है।

उपयु क्त प्रकार से वर्णित अभाव पदाथ की दाशनिक दृष्टि से भले ही कुछ उपयोगिता हो किन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा की दृष्टि से इसकी कोई उपयोगिता नही हैं। क्योकि मानव शरीर पाच भौतिक होता है। इसे स्वस्थ रखने तथा रोगाक्रान्त होने पर इसकी चिकित्सा करने मे केवल पाच भौतिक द्रव्य ही उपयोगी होते हैं। अत उन्ही का प्रयोग किया जाता है। जो द्रव्य या पदाथ है ही नही उसके द्वारा चिकित्सा किया जाना बिल्कुल भी सम्भव नही है। अत उससे आयुवद का प्रयोजन भी सिद्ध नही होता है।

नवम अध्याय

प्रमाण निरुपण

सम्पूण भारतीय वाङ मय मे दशन शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है। दर्शनशास्त्र भारतीय सस्कृति के प्राण माने जाते है। इन दशनाशास्त्रो मे मुख्य प्रति पाद्य विषय प्रमाण ही रहा है। क्योकि सृष्टि प्रलय आत्मा प्रकृति स्वग मोक्ष पुनजन्म आदि ससार के विभिन्न विषयो एव तत्वो के ज्ञान की कसौटी प्रमाण को ही माना गया है। इन विषयो की सिद्धि प्रमाण के बिना सम्भव नही। अत दशनशास्त्रो मे सवप्रथम प्रमाण का ही विवेचन एव प्रतिपादन मुख्य रूप मे किया गया है। प्रमाण यथाथ ज्ञान का साधन होने के कारण उसके द्वारा ससार के विभिन्न तत्वो की वास्त विक समीक्षा मे अभूत पव सफलता मिली है। प्रमाण के द्वारा यथार्थ का प्रतिपादन एव अयथाथ का निराकरण होने के कारण वह एक ऐसा निष्पक्ष मानदण्ड स्वीकार किया गया है जिसकी समानान्तर श्रणी का कोई दूसरा साधन नही है। प्रमाण मान की कसौटी हैं जो पदाथ के यथाथ ज्ञान एव स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। बिना प्रमाण के कोई पदाथ मान्य नही होता। इसीलिए दशन शास्त्रो मे विशेषत न्याय शास्त्र मे प्रमाण का महत्व सर्वोपरि है। यही कारण है कि सवत्र न्याय शास्त्र को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। याय शास्त्र मे प्रमाणो की महत्ता सर्वोपरि होने से उनकी उपयोगिता स्वत ही बढ़ गई है।

दशन शास्त्र मे प्रमाणो कथन एक अनिवाय स्थिति है। प्रमाण के अभाव में दशन शास्त्रोक्त प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता सदिग्ध मानी जाती है। ज्ञान के साधन के रूप मे प्रमाण या प्रमाणो का विवेचन कर दशन शास्त्र ने जिस बौद्धिक अनु चिन्तन एव तात्त्विक मनन को प्रोत्साहित किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता है। अत प्रमाणों की उपयोगिता अपनी दृष्टि से निर्विवाद है। दाशनिक एव अध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावित आयुवद शास्त्र मे प्रमाण विवेचन सर्वथा प्रासगिक है।

पूर्व प्रकारण मे षट पदार्थों का निरूपण किया गया। उन पदार्थों को सम्यक्-तया जाने बिना हमारे जीवन के लिए उनकी कोई उपयोगिता नही है। अत सर्व प्रथम पदार्थों का यथाथ ज्ञान अपेक्षित है। पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे साधन अपेक्षित हैं जो पूर्णत निदु ष्ट अकाट्य एव अबाधित हो। क्योकि

निदुष्ट अकाटय एव अबाधित साधन ही वस्तु स्वरूप का यथाथ ज्ञान कराने मे सक्षम होते हैं। पदाथ एव पदाथ के स्वरूप का यथाथ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने प्रमाण को सर्वाधिक उपयुक्त एक मात्र साधन माना है। अत प्रस्तुत प्रकरण मे अब प्रमाण विज्ञान का निरूपण किया जायेगा।

प्रमाण का लक्षण

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधान प्रमाणशब्द।
—श्री गगाधर

प्रमाया करण प्रमाणम्

यथार्थानुभव प्रमा तत्साधन च प्रमाणम **—उदयनाचाय**

प्रमाता येनाथ प्रमिणोति तत प्रमाणाम **— वात्सायन**

अर्थोपलब्धिहत प्रमाणम। **न्यायवार्तिक**

सम्यग्ज्ञान प्रमाणम। **—न्याय दीपिका**

अथ—जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा जाना जाता है वह करण अथ को व्यक्त करने वाला प्रमाण शब्द है। (गगाधर) प्रमा के करण को प्रमाण कहते है। यथाथ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं उस प्रमा का साधन प्रमाण कहलाता है (उदयनाचाय)। जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है वह प्रमाण कहलाता है। (वात्सायन) अथ की उपलब्धि का हेतु प्रमाण कहलाता है। (न्यायवार्तिक) सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते है। (न्याय दीपिका)

आयुर्वेद मे परीक्षा शब्द का व्यवहार

प्रमाण सम्बन्धी उपयुक्त लक्षणो से प्रमाण का अथ एव स्वरूप स्पष्ट होता है। प्रमाण को ज्ञान का साधन निरूपित किया गया है। अत वस्तु स्वरूप अथवा पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान का साधन भी प्रमाण ही है। प्रमाण के द्वारा ही हम पदार्थों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सकते है। प्रमाण के लिए सामान्यत निम्न पर्याय उपलब्ध होते है— **उपलब्धि साधन ज्ञान परीक्षा प्रमाणमित्यर्थान्तर समाख्यानि वचन सामर्थ्यात्।** इन पर्यायवाची शब्दो मे परीक्षा शब्द महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी है। परीक्षा शब्द के अथ को स्पष्ट करते हुए लिखा है— **परीक्ष्यते यया बुद्धया सा परीक्षा** (गगाधर) अर्थात जिस बुद्धि के द्वारा परीक्षा की जाती है वह परीक्षा कहलाती है। परीक्षा शब्द की व्याख्या और अधिक स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार की गई है— **परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा** चक्रपाणिदत्त। **अर्थात्** जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप व्यवस्थित रूप से निरूपित किया जाता है वह परीक्षा कहलाती है। इस प्रकार प्रमाण और परीक्षा दोनो शब्द एक ही अभिप्राय के द्योतक हैं।

आयुर्वेद शास्त्र मे प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द का व्यवहार एव प्रयोग प्रचर रूप से हुआ है। क्योकि आयुवद मे **भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्** इस पाद चतुष्टय के ज्ञान के लिए तथा इनके अभ्यवहार के लिए परीक्षा ही एक उपयुक्त शब्द है। प्रमाण शब्द का जो वास्तविक अथ है वह आयुवद शास्त्र मे प्रतिपादित सिद्धान्तो के परिप्रक्ष्य मे समुचित रूप स उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। प्रमाण शब्द की निष्पत्ति माङ माने धातु से नापना के अथ मे हुई है। इसके अतिरिक्त प्रमाण शब्द की निरुक्ति म कतिपय आचार्यों के अनुसार करण मे और कतिपय आचार्यों के अनुसार भाव म ल्युट प्र यय होकर प्रमाण शब्द निष्प न होता है। इसीलिए कुछ आचाय **प्रमाया करण प्रमाणम** और कुछ आचाय **प्रमाया भाव उत्पत्ति प्रमाणम्** इस प्रकार निरुक्ति या लक्षण करते है।

इसके विपरीत आयुर्वेद शास्त्र मे किसी प्रपञ्च मे नही पडते हुए महर्षि चरक ने परीक्षा श का व्यवहार किया है जिसकी मूल प्रकृति **ईक्ष सवर्शने** धातु है। आयुवद शास्त्र मे प्र यक्ष आदि के लिए प्रमाण शब्द की अपेक्षा परीक्षा शब्द का व्यवहार एव प्रयोग एक ओर जहाँ सवथा प्रासगिक एव समीचीन है वहाँ दूसरी ओर अ यन्त महत्वपूर्ण भी है। आयुर्वेद शास्त्र मे प्रमाण के अथ मे परीक्षा शब्द का व्यवहार निम्न उद्धरण द्वारा स्पष्ट है— **द्विविधमेव खलु सव सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा-अ।प्तोपदेश प्रत्यक्षमनमान यक्तिश्च।** —**चरक संहिता सूत्रास्थान ११/७६**

इसी प्रकार अन्यत्र भी परीक्षा श द का ही व्यवहार किया गया है— **द्विविधा खल परीक्षा ज्ञानवता प्र यक्षमनुमान च।**

प्रमा प्रमेय प्रमाता और प्रमाण

वस्तु स्वरूप का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिये सामान्यत प्रमा प्रमेय प्रमाता और प्रमाण इन चार अवयवो की अपेक्षा रहती है। ये चारो अवयव सम्मिलित रूप से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन मे समथ होते हैं। इनमे से किसी एक का भी अभाव वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन मे बाधक हो सकता है। अत प्रत्येक की सक्षिप्त जानकारी एव परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है।

प्रमा—सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय मे ज्ञान शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ है। ज्ञान शब्द मे जितना व्यापक अर्थ निहित है उतना सम्भवत उसके किसी पर्याय वाची शब्द मे नही है। ज्ञान शब्द अपने आप मे परिपूर्ण होने के कारण उसके क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारण नही की जा सकती। ज्ञान व्यावहारिक भी होता है और अव्यावहारिक भी। ज्ञान सत्य भी होता है और भ्रमपूर्ण या मिथ्या भी। ज्ञान यथार्थ भी होता है और अयथार्थ भी। किन्तु प्रमा केवल यथाथ ज्ञान (सत्य ज्ञान) की ही

ज्ञापक होती है। यह अयथार्थ ज्ञान से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत होती है। अतः प्रमा शब्द का अभिप्रेतार्थ यथार्थ ज्ञान यथार्थ अनुभव अथवा सम्यक ज्ञान ही ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि आचार्यों ने लिखा है— **यथार्थानुभवः प्रमा** —उदयनाचार्य। **अर्थात्** यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते है। इसी भांति— **तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा** अर्थात जो वस्तु जैसी है उसमे उसी प्रकार का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जैसे रस्सी मे सर्प का भ्रम न होकर रस्सी का ही ज्ञान होना एवं सीप मे चाँदी का भ्रम न होकर सीप का ही ज्ञान होना यथार्थ अनुभव (ज्ञान) कहलाता है। यही प्रमा कहलाती है। रस्सी मे सर्प का भ्रम एवं सीप मे चादी का भ्रम अयथार्थ अनुभव होने से अप्रमा कहलाती है।

प्रमेय—प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रमा के योग्य अर्थात जानने योग्य जो होता है वही प्रमेय कहलाता है। यही प्रमेय का साधारण अर्थ होता है। जिस वस्तु के विषय मे हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते है अथवा जो वस्तु हमारे जानने योग्य होती है वह प्रमेय कहलाती है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ अनुभव अथवा किसी वस्तु का सम्यक ज्ञान जब भी होगा वह किसी न किसी विषय का ही होगा। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है अर्थात जिस विषय का यथार्थ अनुभव या सम्यक ज्ञान होता है यथार्थ अनुभव के उस विषय की संज्ञा प्रमेय होती है। इस दृष्टि से प्रमेय के अन्तर्गत पूर्वोक्त आयुर्वेदीय समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है क्योंकि समस्त पदार्थ जानने योग्य अथवा ज्ञान के विषय हैं।

आयुर्वेद शास्त्र मे प्रतिपादित द्रव्यादि पदार्थ पंच महाभूत त्रिदोष-सप्तधातु त्रिमल त्रिसूत्र त्रिस्कन्ध आदि सिद्धान्त तथा अन्य प्रतिपाद्य विषय प्रमेय है।

प्रमाता—उपर्युक्त प्रमेय (षट पदार्थ) की प्रमा को ग्रहण करने वाला कोई अधिकारी अवश्य होगा। बिना अधिकारी के प्रमा का कोई प्रयोजन अथवा लाभ नही होता। अतः प्रमा का अधिकारी अथवा जो ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है वही 'प्रमाता' कहलाता है। द्रव्य विज्ञानीय प्रकरण के अन्तर्गत आत्मा निरूपण मे यह स्पष्ट किया जा चुका है। **ज्ञानाधिकरण ह्यात्मा** ज्ञान का अधिकरण आत्मा होता है। अर्थात ज्ञान अथवा जानने की क्रिया केवल चेतन (आत्मा) मे ही हो सकती है। चेतन (आत्मा) युक्त प्राणी (मनुष्य) ही ज्ञान का अधिकारी होने से ज्ञाता कहलाता है। ज्ञाता के बिना ज्ञान नही होता। अतः ज्ञाता ही ज्ञान अथवा प्रमा का आधार होने के कारण प्रमाता कहलाता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा व्यतिरिक्त समस्त वस्तुओ के जडात्मक होने से वे ज्ञाता अथवा ग्रहीता नही बन सकती। अतः आत्मवान् पुरुष ही प्रमाता होता है।

प्रमाण—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सामान्यत ज्ञान का साधन ही प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है और जिसके अभाव मे ज्ञानोपलब्धि होना सम्भव नही है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमा प्रमेय और प्रमाता इन तीनो की साथकता एव उपयोगिता तब ही होती है जब प्रमाण विद्यमान हो। क्योकि प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा प्रमाता विषय (प्रमेय) का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) का लाभ करता है। जानने वाला (प्रमाता) एव प्रमेय पदार्थों के उपस्थित रहने पर भी प्रमा (ज्ञान) का लाभ तब तक नही हो सकता जब तक प्रमा का लाभ कराने वाला कोई साधन न हो। क्योकि प्रमाता मे प्रमा का लाभ (ज्ञानोत्पत्ति) तब ही होता है जब उसका कोई साधन होता है। अत प्रमा का वह साधन जिसके अभाव मे प्रमाता एव प्रमेय के विद्यमान होने पर भी प्रमा का लाभ (ज्ञान की प्राप्ति) न हो प्रमाण कहलाता है। इसलिए प्रमा के करण (साधकतम कारण) को प्रमाण कहा गया है।

कार्यमात्र के अनेक कारण होते हैं। कुछ साधारण कारण होते है और कुछ असाधारण कारण। इसमे जो असाधारण कारण होता है उसे **करण** कहते हैं। असाधारण कारण को साधकतम कारण भी कहते है। इस प्रकार असाधारण कारण या साधकतम कारण दोनो ही **करण** कहलाते हैं और प्रमा का यह करण ही प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण का महत्व—आयुर्वेद मे प्रमाण की अत्यन्त उपयोगिता एव महत्व है। क्योकि आयुर्वेदीय पदार्थों का ज्ञान एव वस्तु स्वरूप का विनिश्चय मात्र प्रमाणाधीन ही है। प्रमाण केवल पदार्थों के स्वरूप का ही विनिश्चय नही कराते अपितु रोगो का ज्ञान प्राप्त करने एव औषधियो का निर्णय करने मे भी सहायक होते हैं। जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है आयुर्वेद मे प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द का भी व्यवहार किया गया है। जैसा कि महर्षि चरक के निम्न वचन से स्पष्ट है—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा।

—चरक संहिता सूत्रस्थान ११/१७

यहां पर संसार के समस्त पदार्थों को सत् (भावरूप) एव असत् (अभाव रूप) मे विरूपति करते हुए उनके ज्ञान प्राप्ति के साधन चार प्रकार के बतलाये गए हैं।

प्रमाण का फल—प्रमेय की सिद्धि (पदार्थों का यथार्थ ज्ञान) प्रमाण के द्वारा होती है। अत प्रमेय की सिद्धि होना ही प्रमाण का फल है। प्रमाण का मुख्य प्रयोजन है—*यथार्थ अनुभव या सत्यानुरूपा प्रमा की उपलब्धि करना*। हमे जिस विषय का यथार्थ ज्ञान होता है वह ज्ञान अशेष नि शक एव अबाधित होने के कारण प्रामाणिक होता है। प्रामाणिक ज्ञान सदैव उपादेय होता है। यही प्रमाण का फल है।

नैयायिको के अनुसार प्रमाण का फल आत्मा संवित्ति है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा जब किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उस ज्ञान के अनन्तर अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है जो निश्चयात्मक होने के कारण वस्तु स्वरूप का विनिश्चय करने वाला होता है। इस ज्ञान सम्बन्ध से आत्मा मे संवित्ति उत्पन्न होती है तदनन्तर वह ज्ञान प्रामाणिक एव यथार्थ माना जाता है। इसे निम्न उदाहरण के द्वारा भली भाति समझा जा सकता है। जसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा को यह यथार्थ अनुभव होता है कि घटमहं जानामि यहा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष के अनन्तर घटमहं जानामि इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात इस ज्ञान सम्बन्ध से उत्पन्न हुई आत्मा संवित्ति के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता स्वत सिद्ध हो जाती है। यही प्रमाण का फल है।

दार्शनिक विद्वानो के मतानुसार सृष्टि के दृष्ट एव अदृष्ट सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्रमाणो के द्वारा ही होता है। प्रमाणो के द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान सर्वथा यथार्थ होता है। किन्तु अनेक बार साधनो के कारण भूत प्रमाण के अभाव मे अयथार्थ ज्ञान भी होता है जो वस्तु स्वरूप के विनिश्चय मे बाधक होता है। अत ऐसी स्थिति मे प्रमाण के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विनिश्चय करना चाहिए। यही प्रमाणो का फल है।

प्रमाणों की संख्या पदार्थों के ज्ञान के साधनभूत प्रमाणो की संख्या के विषय मे विभिन्न दर्शनो एव दार्शनिक विद्वानो मे मतैक्य नही है। अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार जिस दर्शन अथवा दार्शनिक विद्वान को जितने प्रमाणो की आवश्यकता प्रतीत हुई उन्होंने उतने ही प्रमाणो को स्वीकार किया। अत विभिन्न दार्शनिक विद्वानो ने स्वशास्त्र सिद्धान्तानुसार प्रमाणो की संख्या एक से दस तक स्वीकार की है। प्रमाणो की संख्या के विषय मे विभिन्न दार्शनिक विद्वानो एव दर्शनो के मत निम्न प्रकार हैं

१ चार्वाक दर्शन ने केवल एक ही प्रमाण स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन के मतानुसार वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का साधन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण मे उसकी आस्था नही है।

२ जैन बौद्ध और वैशेषिक दर्शन पदार्थों एव तत्वो के सम्यक ज्ञान के लिए केवल दो प्रमाणो को ही स्वीकार करते है। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणो के द्वारा संसार के समस्त प्रमेयो की सिद्धि हो जाती है। अत प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य प्रमाणो की आवश्यकता नही है।

३ सांख्य दर्शन योग दर्शन एव रामानुजाचार्य उपर्युक्त दो प्रमाणो के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण शब्द भी मानते हैं। इस प्रकार वे प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द— इन

तीन प्रमाणों को स्वीकार कर इन्हें ही प्रमेय सिद्धि का साधन स्वीकार करते हैं। नैयायिको का एक वर्ग जो जरन्नैयायिक के नाम से जाना जाता है वह भी इन्हीं तीनों प्रमाणो का समर्थन करता है।

४ नैयायिको के शेष दोनो वग अर्थात् अर्वाचीन और प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण उपमान को स्वीकार कर प्रमाणो की सख्या चार मानते हैं। याय दशन मे स्वीकृत इन चार प्रमाणो का समर्थन माहेश्वर सम्प्रदाय वालो ने भी किया है।

५ मीमासको का एक वर्ग जो प्रभाकर मतानुयायी अथवा प्रभाकर मीमांसक समझे जाते हैं उपयु क्त चार प्रमाणो के अतिरिक्त पाचवा प्रमाण अर्थापत्ति' अथवा अथ प्राप्ति नाकक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् कुल पाच प्रमाण स्वीकार करते हैं।

६ मीमासको का दूसरा वग जो कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करता है या भट्ट मीमासक के नाम से जाना जाता है। उपपु क्त पाचो प्रमाणो के साथ साथ छठा प्रमाण **अनुपलब्धि** या **अभाव** को भी स्वीकार करता है। वेदान्ती लोग भी इन्ही छ प्रमाणो को स्वीकार करते है।

७ पौराणिक लोग उपयु क्त छ प्रभाणो का समथन करते हुए सम्भव तथा एतिह्य नामक दो प्रमाणो को और जोडकर कुल आठ प्रमाणो के द्वारा वस्तु स्वरूप का विवेचन करते हैं।

८ तान्त्रिक लोग उपयु क्त आठ प्रमाणो को स्वीकार करते हुए नौवा प्रमाण **चेष्टा** नामक मानते हैं और इनके द्वारा अपने मत का प्रतिपादन करते हैं।

९ कुछ अ य विद्वान एव दाशनिक उपयु क्त नौ प्रमाणो के अतिरिक्त दसवा परिशेष नामक प्रमाण भी मानते हैं। उनके मतानुसार प्रमाणो की सख्या दस होती है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न दर्शनो एव विद्वानो ने अपने मत और सिद्धान्त के अनसार प्रमाणो की भिन्न भिन्न सख्या एक से दस तक स्वीकार की है। जो दशन कम से कम प्रमाणो को मानकर उनके द्वारा वस्तु-स्वरूप या पदार्थों का विनिश्चय करते हैं वे दशन अन्य दशनो या विद्वानो के द्वारा स्वीकृत अधिक अन्य प्रमाणो का स्वमत सम्मत प्रमाणो मे ही अन्तर्भाव कर लेते हैं। जैसे सांख्य योग और आयुर्वेद दशन के विद्वान अर्थापत्ति तथा सम्भव नामक प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में अभाव का समावेश प्रत्यक्ष और अनुमान मे तथा एतिह्य नामक प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण और आप्तोपदेश नामक प्रमाण मे कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन तीन से दस तक सभी प्रमाणो को प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तगत मान लेते हैं।

आयुर्वेद सम्मत प्रमाण—आयुर्वेदीय सिद्धान्तो का अपना विशिष्ट महत्व एवं उद्देश्य है। यहा सक्षेप में उन साधनो या प्रमाणो की सख्या का उल्लेख किया जायेगा जिनके द्वारा वे सिद्धान्त जाने जाते हैं। आयुवदीय स्वतन्त्र मौलिक दशन होने के कारण आयुर्वेद के द्वारा सम्मत स्वतन्त्र प्रमाणो की सख्या भी है। क्योकि उन प्रमाणो के द्वारा ही शरीर के विभिन्न अवयवो और उन पर क्रिया करने वाले आहार द्रव्य-औषध द्रव्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसक अतिरिक्त उन्ही प्रमाणो के द्वारा शरीर को विकारग्रस्त करने वाल कारणो रुग्णावस्था मे व्यक्त होने वाल विभिन्न लक्षणो और शरीर मे उत्पन्न हुए रोगो का शमन करने वाली चिकित्सा का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आयुर्वेदीय ग्रथो म सामान्यत त्रिविध प्रमाणो पर ही विशेष जोर दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसक लिए आयुवद क आचार्यों ने विशेषत आत्रेय सम्प्रदाय क अनयायियो न त्रिविध प्रमाणो क प्रतिपादन मे साख्य योग एव रामानुज क मत का ही अनसरण किया है। यथा—**त्रिविध खलु रोगविशषज्ञान भवति। तद्यथा आप्तोपदेश प्रत्यक्षमनमान चेति**—(चरक सहिता विमान स्थान अ ३)—अर्थात् राग विशेष को जानने क तीन उपाय होते है। जसे—आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान।

इसके अतिरिक्त कही-कही आवश्कतानसार कवल दो प्रमाण ही स्वीकृत किये गये हैं। किन्तु बाद म वहाँ भी तीन प्रमाण स्वीकृत कर अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

द्विविध खल रोगविशषविज्ञान भवति। प्रत्यक्षमनमानञ्चति सहाप्तोपदेशन त्रिविधमपि।

अर्थात् राग विशेष के ज्ञान क दो साधन होते है। प्रत्यक्ष और अनुमान। आप्तोपदेश के साथ तीन साधन भी होत है। इसी प्रकार—

द्विविध खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनमान च। एतद्धि द्वयमपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा त्रिविधा वा सहोपदेशन।

—**चरक सहिता विमान स्थान** ८/८३

अर्थात ज्ञानवान् विद्वानो क लिए परीक्षा दो प्रकार की होती है—१ प्रत्यक्ष और २ अनमान।

उपर्युक्त दो परीक्षा और आप्तोदेश ये तीन परीक्षाए भी होती हैं। इस प्रकार द्विविध परीक्षा अथवा आप्तोपदेश सहित त्रिविध परीक्षा होती है।

आयुर्वेद मे अन्यत्र महर्षि चरक ने आवश्यकतानुसार चतुर्विध परीक्षा का अनुमोदन करते हुए चार प्रमाणो को भी स्वीकृत किया है। यथा—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेश प्रत्यक्षम अनुमान युक्तिश्चेति । —चरक संहिता सूत्र स्थान ११/१७

अर्थात् इस पाँच भौतिक जगत मे सभी वस्तुएँ दो भागो में विभक्त हैं—१ सत और २ असत । इन दोनो की परीक्षा चार प्रकार से होती—१ आप्तोपदेश २ प्रत्यक्ष ३ अनुमान और ४ युक्ति ।

यहा पर यद्यपि चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं । किन्तु आगे चल कर मुख्य रूप से तीन प्रमाणो को ही स्वीकृत किया गया है । वहाँ पर चौथे युक्ति प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से न मानकर युक्ति प्रमाण को अनुमान का अनुग्राहक होने से उसे पथक स्वीकार न कर **अनमान खलु तर्को युक्त्यपेक्ष** अनुमान का यह लक्षण बतला कर युक्ति का अनमान के अन्तगत ही अन्तर्भाव कर लिया है। इसके अतिरिक्त आयुवद मे महर्षि चरक ने एक स्थान पर स्वतन्त्र रुपेण उपमान प्रमाण का लक्षण निदश पूवक पाँचवें प्रमाण के रूप उसके अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। किन्तु उसे भी अनमान प्रमाण के अन्तगत समाविष्ट कर प्रमाणो की सख्या को केवल तीन तक ही सीमित रखा । इस प्रकार चरक मे मुख्य रूप से तीन प्रमाण ही स्वीकृत किए गए है । आयुवदीय दष्टि से यही मत सर्वाधिक ग्राह्य है ।

महर्षि सुश्रुत न प्रमाणो के विषय मे यद्यपि अपना कोई स्वतन्त्र मत व्यक्त नही किया है । किन्त एक स्थान पर भगवान धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभति शिष्यो को उपदेश देते हुए चतुर्विध प्रमाण का निदश नाम मात्र किया है । यथा **तस्यांगवरमाद्य प्रत्यक्षागमानमानोपमानैरविरुध्यमम‌ानमुपधारय** — सु सू १/१६ अर्थात् उस आयुवद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अग (शल्यतन्त्र) का मैं प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान इन चार प्रमाणो से विरोध न करते हुए जो उपदेश कर रहा हू उसे तुम लोग धारण करो । यहा सुश्रुत ने जिन चार प्रमाणो का कथन किया है वह सम्भवत महर्षि गौतम के मत का अनुसरण करते हुए किया है । क्योंकि न्यायसूत्र मे **प्रत्यक्षानमानोपमान शब्दा प्रमाणानि ।** इन चार प्रमाणो को स्वीकार किया गया है किन्तु आयुवद में उपमान प्रमाण का पथक निदश करते हुए भी उसे अनुमान के अन्तगत ही माना गया है । अत मूल रूप से प्रमाणो की सख्या केवल तीन है । इस प्रकार तीन प्रमाणो को स्वीकार कर आयुर्वेद ने स्पष्टत सांख्य एव योग दर्शन के मत का अनुसरण करते हुए उन्हे स्वीकार कर स्वमत का प्रतिपादन किया है । अन्य समस्त प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणो मे करते हुए आयुर्वेद ने उनकी पृथक् उपादेयता को स्वीकार नहीं किया और प्रमाण के क्षेत्र मे अपनी स्वतन्त्र स्थिति स्थापित करते हुए अपना स्वतन्त्र मन्तव्य व्यक्त किया ।

स्वत प्रामाण्य और परत प्रामाण्य

प्रमाण के द्वारा पदाथ या वस्तु स्वरूप को जिस रूप मे जाना जाता है उसका उसी रूप मे प्रा त होना अर्थात प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता हैं। यह प्रमाण का धम है। ग्सकी उत्पत्ति उ ही कारणो से होती है जिन कारणो से प्रमाण उत्पन्न होता है। इसी तरह अप्रामाण्य भी अप्रमाण के कारणो से ही उत्पन्न होता है। प्रामाण्य की मर्यादा के सम्ब ध मे सभी दर्शनकारो मे मतक्य नही है। इसके परिणाम स्वरुप स्वत प्रामाण्य वाद एव परत प्रामण्यवाद का ज म हुआ।

इसमे स्वत प्रामाण्यवाद मीमासको को अभीष्ट है। स्वत का अथ है अपने आप और प्रामाण्य का अर्थ है प्रमाणता या प्रमाणित होना। स्वत प्रामाण्य का अथ हुआ जो स्वतः (अपने आप) प्रमाणित हो जिसे प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नही रहती है वह अपने आप म प्रमाण भत होता है। इस अथ मे वेद का ग्रहण किया जाता है। मीमासक वेद को अपौरुषेय मान कर उसे स्वत प्रमाण कहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वेद धम और इसके नियम उपनियम आदि का प्रति पादन करने वाले होते हैं। उनके मतानुसार वे ईश्वरकृत या ईश्वरमूलक नही हैं। अत वेद स्वत प्रमाण है या वेद की प्रमाणता स्वत है।

इसी प्रकार आप्तवचन भी स्वत प्रमाण माने गए हैं। क्योकि आप्त पुरुष रज और तम दोषो से सवथा निमु क्त होते है। उनका ज्ञान अव्याहत होता है। यथाथ वक्ता होने के कारण उनके वचनो को स्वत प्रमाण माना गया है। उनके वचना को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नही है।

इसके विपरीत नयायिका का परत प्रामाण्य अभीष्ट है। क्याकि वे वेद का ईश्वर कृत मानते हैं। दूसरो या अन्य के द्वारा रचित होने से वेद का प्रामाण्य परत माना गया है। परत प्रामाण्य के अनुसार किसी भी विषय या वस्तु की प्रमाणता को पथक से सिद्ध किया जाना आवश्यक है। परत याने दूसरो से और प्रमाण्य याने प्रमाणित होना। अर्थात दूसरो से प्रमाणित किया जाना परत प्रमाण्य होता है।

वस्तुत यदि देखा जाय तो प्रमाण्य हो या अप्रामाण्य उसकी उत्पति पर से ही होती है। ज्ञाप्ति अभ्यास दशा म स्वत और अनभ्यास दशा मे किसी स्वत प्रमाण भूत ज्ञानान्तर से याने परत होती है। जसे जिस स्थान से व्यक्ति परिचित होता है उस स्थान मे स्थित जलाशय आदि मे होने वाला ज्ञान या मरीचि ज्ञान अपने आप ही अपनी प्रमाणता या अप्रमाणता बतला देता है किन्तु अपरिचित स्थान मे विद्यमान जलाशय के ज्ञान की प्रमाणता पनिहारिनो के द्वारा पानी भरकर लाया जाना मेढको का टर्राना या कमल की ग ध आना आदि जल के अविनाभावी स्वत प्रमाण भूत ज्ञानो से ही होती है। इसी प्रकार जिस वक्ता के गुण-दोषो का हमे पहले ही ज्ञान है उसके वचनो की प्रमाणता और अप्रमाणता का ज्ञान तो हमे स्वत ही हो जाता है कि तु अन्य के वचनो की प्रमाणता के लिए हमे दूसरे सवाद आदि कारणो की अपेक्षा होती है।

दशम अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण निरुपण

प्रत्यक्ष ज्ञान का जो करण या साधन होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष शब्द का निर्माण प्रति + अक्ष इन दो शब्दो के योग से हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति क अनुसार प्रति अक्ष्णो अर्थात जो आखो क समक्ष हो अथवा अक्षमक्ष प्रतीत्योत्पद्यते इ त प्रत्यक्षम अर्थात् चक्षु, श्रोत्र घ्राण रसना और त्वक इन इद्रियो के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। उपर्युक्त इद्रियो क द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान निश्चयात्मक निर्विवाद एव निरपेक्ष होता है अत निश्चयात्मक अथवा निर्विवाद ज्ञान जिसका चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है उसमे इद्रिय ही व्यापारवद असाधारण कारण होती है। अत इद्रिय ही प्रत्यक्ष ज्ञान का साधकतम या प्रधान कारण (करण) होती है। इद्रिय और मन का पारस्परिक सयोग होने से ही इद्रियो का व्यापार होता है। इसी भाति मानस प्रत्यक्ष क लिए आत्मा और मन का सयोग अपेक्षित है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

लक्षण

प्रत्यक्ष तु खलु तद् यत स्वयमिन्द्रियमनसा चोपलभ्यते।

—चरक सहिता विमानस्थान ४/४

अर्थ—इद्रियो और मन क द्वारा स्वय जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

अथ प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते तत्रात्म प्रत्यक्षा सुखदुखेच्छाद्वेषादय शब्दादयस्त्वि द्रयप्रत्यक्षा।

—चरक सहिता विमान स्थान ८/३९

प्रत्यक्ष वह कहलाता है जो आत्मा और इद्रियो के द्वारा स्वय उपलब्ध होता है। इसमे आत्मा के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले सुख दुख इच्छा द्वेष आदि भाव तथा इद्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध भाव होते हैं।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्।

इद्रिय और इद्रियार्थ (इन्द्रियो के विषयों) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान तात्कालिक निश्चित यथार्थ और सशय रहित होना चाहिए।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवतते ।
व्यक्ता तदात्व या बद्धि प्रत्यक्ष सा निगद्यते ।।

—चरक संहिता सूत्रस्थान ११/२

आत्मा इन्द्रिय मन और इन्द्रियो के विषय इनका सम्बन्ध जब (एक विशेष क्रम से) होता है और उस काल मे जो निश्चयात्मिका बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। अर्थात आत्मादि चतुष्टय के सन्निकर्ष से तत्काल जो यथाथ ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है।

ज्ञान यदिन्द्रियार्थाना सन्निकर्षात्प्रवतते ।।
प्रत्यक्ष षड्विध तत्त श्रोत्रजादिप्रभदत ।।

इन्द्रिय और इन्द्रियो के विषयो के सन्निकष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है और श्रोत्रज आदि भेद मे वह छह प्रकार का होता है।

प्रत्यक्षमिति यत्किञ्चिदेवार्थस्य साक्षात्कारिक ज्ञान तदेव प्रत्यक्षम ।

—डल्हणाचाय

जो कुछ विषय का साक्षात्कारिक ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

तत्र विशदज्ञानात्मक प्रत्यक्षम । यस्मिन् ज्ञाने ज्ञानान्तरस्य व्यवधान न भवति विशेषवत्तया प्रतिभासन च भवति तत्प्रत्यक्षम । **—जैन दर्शन सार**

विशद ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। जिस ज्ञान म दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती और विशेष रूप से प्रतिभास होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

यहाँ पर आत्मा मन इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ इनका सन्निकष आवश्यक है। जब तक इनका सन्निकष नही होगा तब तक प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि नही होगी। इन चारो द्रव्यो का सयोग एक क्रम विशेष के द्वारा होता है। अर्थात सव प्रथम आत्मा का सयोग मन के साथ होता है। आत्मा सयुक्त मन का सयोग इन्द्रिय के साथ और आत्मा सयुक्त समनस्क इन्द्रिय का सयोग इन्द्रियार्थ (अपने विषय) के साथ होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। उपर्युक्त आत्मादि चतुष्टय का सयोग क्रम इतनी तीव्र गति से होता है कि सामान्यत हमे उसकी प्रतीति नही हो पाती। वैसे ता इन्द्रियो का अपने विषय के साथ सयोग सदव बना रहता है। किन्तु जब तक उस इन्द्रिय के साथ सचेतन मन का सयोग नही होता तब तक इन्द्रिया अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ नही होती। इसी तथ्य का प्रतिपादन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है — **मन पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । —चरक संहिता सूत्र स्थान** ६/७। अर्थात् मन से सयुक्त इन्द्रिया ही अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ होती हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा मन इन्द्रिय और विषयो का सन्निकर्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान मे कारण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और मन रूप साधन के द्वारा विषयो का ज्ञान आत्मा को होता है। क्योंकि पदार्थों के ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा ही है। मन और इन्द्रिय नही ये दोनों तो साधन मात्र हैं। मन तो केवल इन्द्रियो को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है और इन्द्रियां केवल अपने विषयो का ग्रहण मात्र करती हैं। उन विषयो का यथार्थ ज्ञान केवल आत्मा को ही होता है। इसलिए ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा को ही माना गया है। जैसा कि शास्त्र मे प्रतिपादित है—**ज्ञानाधिकरण ह्यात्मा।**

इन्द्रिया की अविमलता अथवा व्यवधान आदि अनेक कारणो से कई बार भ्रमात्मक या सशयात्मक या विपरीत मिथ्या ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे रस्सी मे सर्प का ज्ञान (भ्रमात्मक ज्ञान) रेगिस्थान मे मृग मरीचिका या समुद्र तट पर पडी हुई सीप मे रजत का ज्ञान (विपरीत ज्ञान) सायकालीन अन्धकार के कारण नातिदूरस्थ स्थाणु मे पुरुष का ज्ञान (सशयात्मक ज्ञान) इत्यादि। इस प्रकार के समस्त मिथ्या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नही माना गया है। अत उन मिथ्या ज्ञान का निवारण करने के लिए महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष का निम्न विशेषण विशिष्ट लक्षण बतलाया है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम।

न्याय दर्शन १ १ ४

अर्थात इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला अव्यपदेश्य अव्यभिचारी (व्यभिचार रहित निर्दोष) और व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है।

यहा पर यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक इन्द्रिय का स्वविषय के साथ सम्बन्ध होना प्रत्यक्ष ज्ञान मे विशिष्ट कारण है।

ज्ञानोत्पत्ति प्रकार

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा इन्द्रिय मन और इन्द्रियो के रूपादि विषयो के सम्बन्ध से तत्काल जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। उस प्रत्यक्ष मे ज्ञानोत्पत्ति कैसे होती है ? इस पर आत्मा के प्रकरण मे विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। (देखिये पृष्ठ ६३ पर) तथापि सक्षेपत यहा इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि सर्वप्रथम आत्मा का मन के साथ सयोग होता है तत्पश्चात् मन इन्द्रियों के साथ सयुक्त होता है और फिर इन्द्रियां स्वविषय के साथ सयोजित होती हैं। इसके परिणाम स्वरूप आत्मा को ज्ञान होता है। समस्त प्रकार का ज्ञान उपर्युक्त क्रम से ही होता है।

ज्ञानोत्पत्ति के उपर्युक्त क्रम मे (आत्मा सयुक्त) मनोयुक्त इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करती हैं। उस समय जो ज्ञान होता है वह वस्तु मात्र होता है। इसे आलोचन

निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। तदनन्तर मन के द्वारा कल्पना की जाती है। अर्थात अमुक वस्तु ऐसी है या वैसी है हेय है या उपादेय है—इस प्रकार की कल्पना मन करता है। तत्पश्चात् उस विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है उस निश्चयात्मिका बुद्धि से पुरुष बुद्धि पूर्वक कुछ कहने या करने का निश्चय करता है जो ज्ञान का परिणाम है। ज्ञान हुए बिना मनुष्य का कुछ कहने या करने मे प्रवृत्त होना सम्भव नही है।

यहा यह भी समझ लेना चाहिए कि प्राणि की जो बुद्धि जिस इन्द्रिय मे आश्रित होकर प्रवृत्त होती है वह बुद्धि या ज्ञान उसी इन्द्रिय के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है तथा मन से उत्पन्न बुद्धि मन के द्वारा निर्दिष्ट होती है। जसे चक्षुओ से प्रवत्त ज्ञान चक्षु बुद्धि या चाक्षुष ज्ञान कहलाताता है। श्रोत्रा के द्वारा प्रवत्त बुद्धि को श्रोत्र बुद्धि या श्रोत्र ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रिया से प्रवृत्त ज्ञान भी जानना चाहिए।

इन्द्रियो का स्वरूप एव महत्व

इन्द्रिया मानव शरीर के अत्यन्त आवश्यक एव उपयोगी अवयव है। इन्द्रियो का सम्बन्ध शरीर के साथ केवल इतना है कि वे शरीर मे स्थित हैं किन्तु इनका सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा आत्मा से अधिक है। क्योकि ये ही इन्द्रिया आत्मा को ज्ञान कराने मे सहायक होती है। आत्मा को बाह्य विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन एव इन्द्रियो की सहायता लेना अपेक्षित रहता है। क्योकि बिना साधन के साध्य की सिद्धि सम्भव नही है। इन्द्रिय रूप साधन के बिना आत्मा एकाकी रूप से विषयो का ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ है। वह इन्द्रियो की सहायता से ही विविध विषयो को ग्रहण कर उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए इन्द्रियो को आत्मा का साधन कहा गया है।

इससे सभी प्रकार के ज्ञान मे इन्द्रियो का महत्व एव उपयोगिता सुस्पष्ट है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे तो उसका और भी अधिक महत्व है। इन्द्रियो के अभाव मे प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सर्वथा असम्भव है। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा इन्द्रिय रूप साधन के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ है। इसीलिए यहाँ इन्द्रियो के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

इन्द्रियो का श्रेणी विभाजन एव सख्या

सामान्यत इन्द्रियो की सख्या ग्यारह है। अपने स्वतन्त्र कर्म के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय पृथक पृथक होती है। किन्तु उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियो मे रखा गया है—

१ ज्ञानेन्द्रिय
२ कर्मेन्द्रिय
३ उभयेन्द्रिय

१ **ज्ञानेन्द्रिय**—इनकी सख्या पाच है। यथा—१ श्रोत्र २ त्वक्, ३ चक्षु, ४ रसना और ५ घ्राण। इन पाचो ज्ञानेन्द्रियो को बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। ये इन्द्रियां विभिन्न बाह्य विषयो को ग्रहण कर उनका ज्ञान कराने में सहायक होती है। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत होने के कारण वे केवल अपने ही विषयो को ग्रहण कर उनका ज्ञान करती हैं। इन्ही पांच इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होती है। अत ज्ञान का साधन मुख्य रूप स ये पाच ज्ञानेन्द्रियां ही हैं।

२ कर्मेन्द्रिय ये भी सख्या मे पाच होती हैं। यथा १-वाक् २-हस्त ३-पाद ४-उपस्थ और ५ पायु। इन पाँच इन्द्रियो के द्वारा विभिन्न प्रकार के कर्म सम्पादित किए जाते है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने कर्म का साधन है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियो के विषय नियत हैं उसी प्रकार कर्मेन्द्रियो के विषय (कर्म) भी नियत हैं। इन्हीं इन्द्रियो के द्वारा मनुष्य अन्यान्य चेष्टाओ को करने में समर्थ होता है।

३ **उभयेन्द्रिय**—यह सख्या मे एक है। इसे मन कहा जाता है। मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। क्योकि यह ज्ञान कराने और कर्म करने दोनो मे सहायक होता है। मन की प्रवृत्ति उभयमुख होने के कारण इसे उभयेन्द्रिय की सज्ञा दी गई है। मन की सहायता के बिना न तो ज्ञानेन्द्रिया ही अपने विषय का ग्रहण कर सकतीहैं और न ही कर्मेन्द्रिया किसी कर्म को करने मे समर्थ होती हैं। मन की प्रवृत्ति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त नही है। यद्यपि उसके आधीन अनेक क्रोध मान माया लोभ शोक काम आदि भाव होते हैं तथापि इन्द्रियत्व की दृष्टि से वे भाव मन के विषय नही हैं। मन केवल ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो का प्ररक होने से उभयेन्द्रिय माना गया है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दसो इन्द्रियो की अपेक्षा मन मे कुछ विशेषता रहती है। अत इसे समान्य इन्द्रियो मे परिगणित न कर उभयेन्द्रिय रूप से इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। साथ ही मन आत्मा को ज्ञान कराने का एक ऐसा साधन है जो अन्य इन्द्रिया नही बन सकती हैं। इन्द्रिया सामान्य रूप से जिन विषयो का ग्रहण करती हैं उनका ज्ञान मन के माध्यम से ही आत्मा तक पहुचता है। अत मन सामान्य इन्द्रियो से सर्वथा भिन्न आत्मा को ज्ञान कराने वाला एक प्रमुख साधन रूप एक स्वतन्त्र इन्द्रिय है। यह चू कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो से सम्बद्ध रहता है अत इसे उभयेन्द्रिय माना गया है। इन्द्रियो के सम्बन्ध मे महर्षि सुश्रुत का निम्न वचन द्रष्टव्य है— 'तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि इतराणि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मन'।

इन्द्रियों के विषय

प्रत्येक इद्रिय का अपना अपना अलग विषय नियत होता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जिस पदाथ का ज्ञान कराती है वही उसका नियत विषय होता है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण को ग्रहण करती है और उसी का ज्ञान कराती है। अत वही उसका नियत विषय है। इसी प्रकार त्वगिद्रिय का स्पश चक्षु का रूप रसना का रस और घ्राण का गन्ध नियत विषय है। इन पाँचो विषयो के अन्तगत ही ससार के समस्त विषय अथवा ज्ञ य पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करने के लिए सीमित एव प्रतिबधित है।

इसी भाति कमद्रियो का विषय कम करना है। प्रत्येक कमन्द्रिय का विषय भी नियत होता है। अत प्र येक कमद्रिय केवल अपने नियत कम का करने मे ही समथ है अन्य को नही। एक कर्मेद्रिय अ य कमद्रिय के विषय (कम) को नहीं कर सकती। जसे बोलने का काय केवल वाक इद्रिय के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है अ य हस्त पाद आदि इद्रियो द्वारा नही। इसी प्रकार अन्य इद्रियो के विषयो को भी समझना चाहिए। कमद्रियो मे जो वक्तव्य अर्थात जो कहने योग्य है वह कम वाक इद्रिय का विषय है। मूत्र याग एव मथन कम करना उपस्थ या शिश्नेन्द्रिय का विषय है तथा मल याग करना पायु या गुदेद्रिय का विषय है। इस प्रकार पाँचो ही कमद्रियो के अपने अपने पथक पथक विषय (कम) नियत है।

उपयु क्त दस प्रकार के विषय पथक पृथक रूप से एक एक इद्रिय के नियत हैं। विस्तार की दप्टि मे इन विषया का क्ष त्र सीमित नही है। अत इस दष्टि से इद्रियो का विषय क्षत्र भी सीमित नही कहा जा सकता। प्र येक विषय के क्ष त्र का विस्तार इनना अधिक है कि उसे श दो म नही बाँधा जा सकता है। क्योकि सुनने के लिए अनेक प्रकार के शब्द है स्पश करने के लिए अनेक विषय है देखने के लिए रूप वान अनक पदाथ है रसास्वादन करने के लिए विभिन्न रस वाले अनेक द्रव्य हैं ग ध विषय से युक्त अनेक द्रव्य है सी प्रकार अनेक कम हैं जो कमद्रियो के द्वारा किए जाने योग्य हैं। इस प्रका इद्रियो के विषयो का क्षत्र अ यन्त विस्तत है।

मन इन दसो प्रकार की इद्रियो के विषय म सलग्न होने का अधिकारी है। प्र येक विषय का ज्ञान प्रा त करने के लिए प्रत्येक इद्रिय के साथ मन का सयोग अनिवार्य है। अन्यथा ज्ञानोपलब्धि होना सभव नही है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मेद्रिय के साथ मन का सयोग अपेक्षित है। अन्यथा कम होना सभव नही है।

इद्रियो का भौतिकत्व

साख्य दशन मे इद्रियो की उत्पत्ति अहकार से मानी गई है। उसके मतानु

सार तामस् अहंकार के द्वारा तैजस् अहकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है। जैसे—**वकारिकादहकारात्तैजससहाय्यात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।**

किन्तु आयुर्वेद मे इन्द्रियो को अहकारिक अर्थात अहंकार से समुत्पन्न न मान कर पाञ्च भौतिक माना गया है। आयुर्वेद के मतानुसार इन्द्रियो की उत्पत्ति पंच महाभूतो से होती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय मे एक एक महाभूत की प्रधानता होती है जिससे वह इन्द्रिय अपने महाभूत के अनुसार ही विषय का ग्रहण करने मे समर्थ होती है। महर्षि चरक ने स्पष्टता से इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। जैसे—

एककाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।
पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥

अर्थात जिन के द्वारा बुद्धि की प्रवृत्ति होती है वे कम से अनुमान योग्य पाचों इन्द्रिया क्रमश एक एक महाभूत की अधिकता से युक्त होती हैं। अत इन्द्रियो के विषय मे आयुर्वेद मे साख्य दर्शन का अनुकरण न कर वैशेषिक दर्शन का अनुकरण किया गया है। वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन और वेदान्त दर्शन के विद्वान इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। इसी आधार पर महर्षि चरक ने भी इन्द्रियो का भौतिकत्व प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार इन्द्रिया प्रत्यक्ष गम्य नही हैं। चाक्षुष आदि ज्ञान रूप अपने कर्मों से उनका अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार छेदन भेदन आदि कर्म अपने करण या साधन के बिना नही हो सकते उसी प्रकार मनुष्यो मे चाक्षुष ज्ञान आदि भी करण के बिना नही हो सकता है। ये करण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही होती हैं।

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिया पाञ्च भौतिक होती है अर्थात प्रत्येक सूक्ष्म इन्द्रिय की रचना पाच महाभूतो के समवाय से हुई है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय मे पाँचो महाभूत विद्यमान रहते हैं तथापि एक एक इन्द्रिय की रचना मे एक एक महाभूत की अधिकता होती है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय मे आकाश महाभूत त्वगिन्द्रिय मे वायु महाभूत चक्षु इन्द्रिय मे तेज महाभूत रसना इन्द्रिय मे अप (जल) महाभूत और घ्राण इन्द्रिय मे पृथ्वी महाभूत की अधिकता होती है। यही आशय महर्षि चरक के निम्न वचन से प्रकट होता— **तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि खं श्रोत्रे क्षितिः घ्राणे आपोरसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते।**

महाभूतो की अधिकता के अनुसार जिस इन्द्रिय मे जिस महाभूत की अधिकता होती है उसी के अनुसार उसका व्यपदेश एव अभिधान या नामकरण होता है। जैसे तेज की अधिकता से चक्षु को तैजस पृथ्वी की अधिकता से घ्राण को पार्थिव वायु की अधिकता से त्वक को वायव्य आकाश की अधिकता से श्रोत्र को नाभस तथा अप् (जल) की अधिकता से रसना को आप्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस महाभूत की प्रधानता होती है वह उसी महाभूत के अनुरूप विषय को ग्रहण करने मे

समथ होती है। जसे श्रोत्र मे आकाश महाभूत की अधिकता होने के करण श्रोत्रन्द्रिय केवल आकाश महाभूत के प्रयात्मनियत गुण शब्द को ही ग्रहण करने मे समथ होती है अय का नही। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का निमाण (उत्पत्ति) वायु महाभूत के द्वारा होने के कारण वह केवल वायु महाभत के प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श को ही ग्रहण करने मे समथ है। चक्षु इन्द्रिय मे तेज महाभूत की अभियक्ति होने के कारण वह केवल तेज महाभत के प्रत्यात्मनियत गुण रूप को ही ग्रहण कर सकता है। रसना इन्द्रिय मे अप महाभूत की प्रधानता होन से वह जल महाभत के मुख्य गुण रस को ही ग्रहण करती है तथा पथ्वी महाभत से निर्मित होने वाली घ्राणन्द्रिय केवल पृथ्वी महाभूत के मूलगुण गध का ज्ञान करान मे ही समथ है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की रचना जिस महाभूत स होती है उसी महाभूत के गुण के अनुसार वह इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण कर उसका ज्ञान कराती है।

महर्षि सुश्रुत ने भी इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि आयुवद मे इन्द्रिया आर इन्द्रियो के अथ भौतिक ही वर्णित किए गए है। उन्होने लिखा है—

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वदे वर्ण्यन्ते तथन्द्रियार्था।

—सुश्रुत सहित/शरीस्थान १।१५

इन्द्रियो के भौतिकत्व मे आयुवदीय मत का समथन करते हुए महर्षि सुश्रुत ने निम्न कारण प्रस्तुत किए है—

इन्द्रियेणन्द्रियाथ तु स्व स्व गह्णाति मानव।
नियत तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थिति ॥

—सुश्रुत सहिता शारीर स्थान १/१५

मनुष्य इन्द्रिय के द्वारा अपने-अपने इन्द्रियाथ को ही ग्रहण करता है। अर्थात जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस इन्द्रिय के द्वारा वह उसी विषय को ग्रहण करता है। क्योकि इन्द्रिय और इन्द्रियाथ की तुल्य योनि होने से वे (इन्द्रिया के विषय) नियत है। अत अय इन्द्रिय मे अय विषय का ग्रहण नही किया जा सकता है—यही सिद्धात है।

इस श्लोक मे इन्द्रियो को भौतिक मानने की स्थिति (सिद्धान्त) का वणन किया गया है। इस तत्त्व का विचार निम्न तीन तथ्यो के आधार पर किया जा सकता है

१ साख्य दशन अनुसार पाचो इन्द्रिया अहकारोत्पन्न हैं। एक ही कारण से उत्पन्न होने से पाचो इन्द्रियो का स्वरुप एक समान होना चाहिए। यदि यह तत्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय मे पाँचो प्रकार के इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए अथवा पाँचो इन्द्रियो से पाचो अर्थों का ग्रहण नियम विरहित होना चाहिए। या एकाध इन्द्रिय के न होने पर अथवा किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर उसका कार्य

अन्य इन्द्रियों से होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। पांचों इन्द्रियों में अर्थ ग्रहण का नियम होता है। अत यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिया एक कारणोत्पन्न नहीं हैं। अर्थात् पाच प्रकार के अर्थों के लिए जसे पांच इन्द्रियां हैं वैसे ही पाच इन्द्रियों के उत्पादक पांच उपादान कारण भी हैं।

२—श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने मे वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध मे अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियो का विषय ग्रहण करने का कार्य नियम युक्त होता है। यह कार्य तब ही हो सकता है जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि-उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो। इसीलिए आयुर्वेद मे प्रत्येक इन्द्रिय का उपादान कारण भिन्न भिन्न याने एक एक महाभत माना गया है।

३—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमश आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी के गुण हैं। शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है। गन्ध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र रूप और चक्ष रस और जिह्वा स्पश और त्वचा तथा गन्ध और घ्राण ये तुल्य योनि' (एक ही महा भूत वाले) होते हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रिया के भौतिकत्व की एक विशेषता यह होती है कि इन बुद्धीन्द्रियो के उपादान कारण महाभूत पञ्चीकृत होते हैं। जसे घ्राणेन्द्रिय का उपादन कारण महाभूत केवल पृथ्वी न होकर पच महाभूतो का [illegible] है जिसमे पृथ्वी तत्व की अधिकता होती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो के [illegible] भी समझना चाहिए।

पंच पचक

सामान्यत पांच वस्तुओ के समूह को पचक हैं। इसे वग भी कहा जाता है। एक वर्ग या पचक एक पचक कहलाता है। दो वग या पचक दो पचक कहलाते हैं।

इसी प्रकार पाच वग या पचक पचपचक कहलाते है। मानव शरीर मे इस पंच पचक का सम्बन्ध शरीर मे विद्यमान पांच ज्ञानेन्द्रियो से है। आयुर्वेद मे पचपचक का सिद्धान्त महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि इसका सम्बन्ध केवल शरीर से है किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से स्वास्थ्य की दृष्टि से एव मानव शरीर में उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद मे सिद्धान्त रूप मे इसे स्वीकार किया गया है। चरक संहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

इह खलु पचेन्द्रियाणि पचेन्द्रियद्रव्याणि पचेन्द्रियाधिष्ठानानि पचेन्द्रियार्था पचेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति । —चरक सहिता सूत्रास्थान ८/३

अर्थात १—पाच इन्द्रियां २—पाच इन्द्रियो के द्रव्य ३—पाच इन्द्रियो के अधिष्ठान ४—पाच इन्द्रियो के अथ (विषय) और ५—पाच इन्द्रियो की बुद्धि (ज्ञान)।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय सम्बधी पचपचक होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है।

१—**पांच इन्द्रियां— तत्र चक्ष घ्राण रसन स्पशनमिति पचेन्द्रियाणि ।**

—चरक सहिता सूत्रास्थान ८।८

अर्थात चक्षु घ्राण श्रोत्र रसना औरस्पर्शन ये पाच इन्द्रिया होती हैं।

२—**पांच इन्द्रिय द्रव्य— पचेन्द्रियद्रव्याणि ख वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ।**

—चरक सहिता सूत्रस्थान ९

अर्थात ख (आकाश) वायु ज्योति (अग्नि) अप (जल) और भू (पृथ्वी) ये पाचो इन्द्रियो के पाच द्रव्य हैं।

३—**पांच इन्द्रिय अधिष्ठान— पचन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कणौ नासिके जिह्वा त्वक चति ।** चरक सहिता सूत्रस्थान ८।१

अर्थात १-दोनो नेत्र २ दोनो कान ३-दोनो नासिका ४ जिह्वा और ५-त्वचा ये पचेन्द्रियो के पाच अधिष्ठान (वास स्थान) हैं।

४ **पांच इन्द्रियार्थ— पचन्द्रियार्था —शब्दस्पशरूपरसगधा ।**

—चरक सहिता सूत्रस्थान /११

अर्थात १ शब्द २ स्पश रूप ४ रस और ५ गध ये पाच इन्द्रियो के पाच अथ (विषय) हैं

५—**पांच इन्द्रिय बुद्धि पचन्द्रियबुद्धय —चक्षुबुद्ध यादिका ता पुनरिन्द्रियेन्द्रियाथसत्वात्मसन्निकषजा** क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च। — चरक सूत्रस्थान ८।१२

अर्थात चक्ष बुद्धि आदि पाच इन्द्रिय बुद्धिया होती है। ये बुद्धिया इन्द्रिय इन्द्रियो के अथ मन और आत्मा के सन्निकष (सयोग) से उत्पन्न होती है। ये बुद्धिया (ज्ञान) क्षणिक और निश्चयात्मिका भेद से दो प्रकार की होती हैं।

(पाच बुद्धियो के नाम चक्षु बुद्धि श्रोत्रबुद्धि घ्राण बुद्धि रसना बुद्धि और स्पश बुद्धि)

इन्द्रियो की वृत्तिया

इन्द्रियो का सामान्य व्यापार ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है। अर्थात् इन्द्रिया किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब अपने विषयो मे प्रवृत्त होती हैं तथा अपने विषय को ग्रहण करती है तब वह क्रिया इन्द्रिय वृत्ति कहलाती है। जसे चक्षु के द्वारा

रूप का श्रोत्र के द्वारा शब्द का त्वक के द्वारा स्पर्श का रसना के द्वारा रस का और घ्राण के द्वारा गन्ध का ग्रहण करना ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है। इसी भाति पच कर्मेन्द्रियो की भी प्रवत्तियां होती हैं। जैसे वागिन्द्रिय के द्वारा बोलना हस्त के द्वारा आदान प्रदान अर्थात् ग्रहण करना पाद के द्वारा गमन करना उपस्थ के द्वारा मूत्र त्याग एवं मैथुन करना तथा पायु के द्वारा मल त्याग करना आदि। इस प्रकार इन्द्रियो का प्रत्यात्मनियत व्यापार इन्द्रिय वृत्ति कहलाता है। इन्द्रियो की वृत्ति का वणन सांख्य दर्शन मे निम्न प्रकार से किया गया है—

> रूपादिषु पचानामालोचनमात्रमिष्यते वत्ति।
> वचनाऽऽदानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पचानाम॥

त्रयोदश करण

करण का सामान्य अथ साधन होता है। आयुर्वेद के मतानुसार करण तेरह होते हैं। सृष्टि की उत्पति मे इन करणो का महत्वपूण भाग होता है। ये तेरह करण मानव शरीर मे विद्यमान रहते है और इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों का ज्ञान होता है। मानव शरीर मे इनके द्वारा विभिन्न भावो की उत्पत्ति होती है। ये तेरह करण निम्न होते है— बुद्धि अहकार मन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाच कमन्द्रियां।

इनमे बुद्धि अहकार और मन ये तीन अन्त करण कहलाते हैं। पाच ज्ञानेन्द्रिया और पाच कर्मेन्द्रिया ये दस बाह्य करण कहलाते है।

अन्त करण मुख्य रूप से आभ्यन्तरिक विषयो का सम्पादन करते हैं। जैसे विचार विमश करना अभिमान आदि उत्पन्न करना क्रोध लोभ शोक भय शान्ति क्षमा धृति आदि भावो को उत्पन्न करना। बाह्य करण इनसे सवथा भिन्न होते हैं और उनकी प्रवृत्ति केवल बाह्य रूप होने के कारण वे बाह्य विषयो एव भावो को ही ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त[1] ये दस बाह्य करण तीन अन्त करणो द्वारा भोग्य होते हैं अर्थात तीनो अन्त करण अपने अनुकल बाह्य करणो का उपभोग करते हैं।

करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य

उपर्युक्त तेरह करणो मे प्रारम्भिक तीन अन्त करण प्रधान माने गए हैं। क्योकि अहकार और मन सहित बुद्धि सम्पूण विषयो का ग्रहण करती है। बुद्धि का कम मन और अहकार सापेक्ष होता है। मन इन्द्रियो को स्वविषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है। बुद्धि ग्रहण किए हुए उन विषयो का विचार कर निष्कर्ष निकालती है मन और बुद्धि के इस कार्य मे अहकार सहायक होता है। इसके अतिरिक्त अहंकार स्वाधीन अहम् भाव को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार विषयो का ग्रहण करने एव उनका निणय करने के लिए ये तीनो साधन महत्वपूर्ण

होते है। इसीलिए त्रयोदश करणो मे त्रिविध अन्त करणो को प्रधान माना गया है। इसके अतिरिक्त दस बाह्य करण भोग्य एव त्रिविध अन्त करण भोक्ता होने के कारण इनकी प्रधानता है। क्योकि सवत्र भोग्य की अपेक्षा भोक्ता ही प्रधान होता है।

उपयु क्त विविध करण स्वय ससार के विषयो को प्रकाशित करते हैं। वे दीपक की भाति विषयो को प्रकाशमान करने वाले होते हैं। यद्यपि वे तीनो परस्पर भिन्न होते हैं तथापि उन तीनो का सयुक्त स्वरूप विषयग्राही होता है और वे तीनो अभीष्ट अथ को पुरुष के लिए प्रकाशमान कर बुद्धि मे स्थित या बुद्धि के माध्यम से ज्ञान कराने मे समथ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक मे तेल वर्ती एव अग्नि ये तीनो परस्पर विरुद्ध होते हुए भी इन तीनो का सयोग प्रकाशेत्पादक होता है और वह प्रकाश अ धकार के निवारण मे समथ होता है उसी प्रकार अहकार मन और बुद्धि परस्पर भिन्न होते हुए भी इनका सयोग ज्ञान रूपी प्रकाश को उत्प न करने वाला होता है और इससे अज्ञान रूपी अन्धकार की निवत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि ये तीनो ही करण विविध प्रकार के पदार्थों को प्रकाशित कर आत्मा को उनका ज्ञान कराने मे सहायक होते है।

साख्य दशन ने भी इन तीनो अ त करणो को प्रधान और शेष दश बाह्य करणो को अप्रधान माना है। यही भाव निम्न कारिका से व्यक्त होता है—

सा त करणा बुद्धि सर्वं विषयमवगाहते यस्मात
तस्मात त्रिविध करण द्वारि द्वाराणि शषाणि ॥

अर्थात अ त करण से युक्त बुद्धि ही चकि सव विषयो को ग्रहण करती है इसलिए तीन प्रकार के अन्त करण प्रधान और शष बाह्य कारण अप्रधान होते है।

अ त करणो की वत्तिया—

मन बुद्धि और अहकार इन तीन अन्त करणा का अपना जो सामान्य लक्षण होता है यह स्वालक्षण्य कहलाता है। इसके अनुसार प्र येक करण का अध्यवसाय अथवा यापार पथक होता है। जसे बुद्धि का अध्यवसाय विषयो का निणय करना अहकार का अध्यवसाय अभिमान अथवा अहम् भाव उत्पन्न करना और मन का अध्यवसाय इन्द्रियो को स्वविषय ग्रहण करने हेतु प्ररित करना होता है। यही इनका स्वालक्षण्य कहलाता है।

इन तीनो अन्त करणो की स्वलक्षण लक्षित वत्ति असामान्य होती है। किन्तु इन्द्रिया के कुछ व्यापार सामान्य रूप से होते हैं। अत इस समानता के कारण इन्द्रिया की वत्ति सामान्य कहलाती है। इन्द्रियो की यह वृत्ति ही उनका व्यापार कहलाती है। किन्तु अन्त करणो की वृति सामान्य न होने के कारण असामान्य

कही गई है। जैसे बुद्धि अहकार और मन जब किसी एक इन्द्रिय के साथ सयुक्त होते हैं तब ये चारो मिलकर अभीष्ट विषय का निश्चय करने के लिए एक रूप हो जाते हैं तब उनकी एक ही वृत्ति होती है। ऐसी स्थिति मे यद्यपि चारो का स्वरूप भिन्न भिन्न होते हुए भी उस विषय को ग्रहण करने के लिए उनकी वृत्ति एक हो जाती है। जैसे रूप का निश्चय करने के लिए तीनो अन्त करण और एक चक्षु इन्द्रिय इस प्रकार चार करणो का सयोग वस्तु स्वरूप का निश्चय करने मे समर्थ होता है। इसमे अ त करणो का सयोग विशेष रूप से अपेक्षित होने के कारण वह असाधारण होता है। अन्य दस करण साधारण हाते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

आत्मा इन्द्रिय मन और इन्द्रियो के विषय इनके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली चाक्षष बुद्धि आदि छह बुद्धिया घट पट आदि काय तथा इन्द्रिय विषयो के भेद से अनेक हो जाती हैं। तथापि वस्तुत शरीर मे इन्द्रिया पाच होती हैं। अत उनके द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी पाच ही प्रकार का होता है। इसक अतिरिक्त एक मन क द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी होता है। इस प्रकार छह प्रकार का प्र यक्ष होता है। तथापि काय और इन्द्रियो के विषय की दष्टि से ससार मे जितने भी विषय हैं उतने ही प्रकार का प्रत्यक्ष माना जा सकता है। इस तरह प्र यक्ष के अनेक भेद हो सकते है। किन्तु दाशनिको ने मौलिक रूप से दो प्रकार का ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। यथा —१ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और २ सविकल्पक प्र यक्ष।

१ **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष**—जो ज्ञान नाम जाति गुण और क्रिया से शून्य होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मे वस्तु का मम विभागात्मक ज्ञान नही होता है। केवल यह कुछ है इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान मे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखी गई वस्तु किस आकार प्रकार वाली किस स्वरूप वाली कौन सी वस्तु है? इसका कुछ ज्ञान नही होता। इसको निष्प्रकारक ज्ञान भी कहा गया है। यथा— 'तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्' अर्थात् प्रकारता से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इसमे विशेष्य विशेषण और उसके सम्ब ध का ज्ञान नही होता। अत इसमे एक चौथी ही विषमता रहती है। इसको न प्रमा ही कहा जा सकता है और न अप्रमा ही।

श्रीधर स्वामी की क दली मे प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा माना गया है। न्यायसिद्धान्त मुक्तावलि में भी 'प्रमभिन्नत्वात् प्रमा' कह कर इसे प्रमा स्वीकार किया गया है। किन्तु श्री गंगेशोपाध्याय के मतानुसार निर्विकल्पक

ज्ञान भ्रम और प्रमा दोनो से ही भिन्न और विलक्षण है। यथा— **न प्रमा नापि भ्रम ज्ञान स्यान्निर्विकल्पकम। प्रकारतादिशू य हि सम्बन्धानवगाहि तत** अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान न प्रमा है और न भ्रम (अप्रमा) है। यह प्रकारता आदि से शून्य सम्ब ध रहित होता है। प्रमा व और अप्रमात्व दोनो प्रकारतादि घटित ज्ञान मे रहते हैं।

२ **सविकल्पक प्रत्यक्ष**— निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात समविभाग एव विशेषता युक्त जो ज्ञान होता है। वह सविक पक प्र यक्ष कहलाता है। इसमे वस्तु के स्वरूप आकार प्रकार नाम जाति गुण क्रिया आदि का सम्पूण ज्ञान होता है। इस प्रकार के प्र यक्ष ज्ञान के लिए नासा जिह्वा श्रोत्र त्वक चक्षु और मन ये छ इद्रिया करण मानी जाती है। इन छहो इद्रिया का घट पट टेब न-कुर्सी आदि विषयो क साथ स निकष (सयोग) होने पर प्र यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सन्नि कष अथवा सविक प प्र यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—१ लौकिक प्र यक्ष अथवा लौकिक स निकष और २ अलौकिक प्र यक्ष या अलौकिक सन्निकष। इनमे लौकिक प्र यक्ष पुन दो प्रकार का होता है—१ बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और २ आभ्यन्तर लौकिक प्र यक्ष। इनम प्रथम बाह्य लौकिक प्र यक्ष पुन पाच प्रकार का होता है— १ चाक्षष प्र यक्ष २ श्रौत प्र यक्ष ३ घ्राणज प्र यक्ष ४ रासन प्र यक्ष और ५ वाच प्र यक्ष। द्वितीय आभ्य तर लौकिक प्र यक्ष प्र येक केवल एक प्रकार का होता है। वह मानस लौकिक प्र यक्ष कहलाता है।

स निकष का स्वरूप एव भद

आचार्यों ने सम्ब ध को स निकष कहा है। यथा— **सन्निकर्षो नाम सम्बन्ध।** आ मा का मन से मन का इद्रियो से और इद्रियो का अपने-अपने विषय के साथ विषया का प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु जो सम्ब ध होता है वह स निकर्ष कहलाता है। इसे इद्रियाथ स निकष भी कहत है। बाह्य लौकिक प्र यक्ष ज्ञान इसी सन्निकष से होता है।

ऊपर जो छह प्रकार का लौकिक प्रत्यक्ष बतलाया गया है। इस प्रत्यक्ष का सम्ब ध छह इद्रियो से है। अत इस लौकिक प्र यक्ष के साधक इद्रियाथ सन्निकर्ष भी छह ही होते हैं। व स निकष निम्न लिखित है—

१ सयोग सन्निकष २ सयुक्त समवाय सन्निकष ३ सयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष ४ समवाय सन्निकष ५ समवेत समवाय स निकष और ६ विशेषण विशेष्य भाव सन्निकष।

पयु क्त छह सन्निकर्षों का वणन निम्न प्रकार है—

१ **सयोग सन्निकष— चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने सयोगसन्निकष** —अर्थात् चक्षु के द्वारा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने मे सयोग सन्निकष होता है। इसमे चक्षु और घट

का जो सन्निकर्ष होता है वह सयोग मात्र होता है। चक्षु और मन ये दो इन्द्रिया रूपवान द्रव्य का ग्रहण करती हैं अवशिष्ट श्रोत्र त्वक् रसना और घ्राण ये चार इन्द्रिया द्रव्य मे स्थित शब्दादि गुणो को ग्रहण करती हैं। चक्षु के द्वारा ग्राह्य विषयो के प्रति द्रव्यो मे स्थित लौकिक विषयता से चक्षु का सयोग कारण होता है।

२ **सयुक्त समवाय सन्निकर्ष—'घटरूपप्रत्यक्षजनने सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष।** अर्थात् घट और उसक रूप क प्र यक्ष ज्ञान मे सयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। क्याकि घट मे रहने वाला रूप समवाय सम्ब ध से रहता है। प्रस्तुत ज्ञान मे घट क साथ चक्षु का सयोग रूप सन्निकर्ष हुआ और घट मे समवाय सम्ब ध से रहने वाले रूप के साथ समवाय सन्निकर्ष हुआ। इस प्रकार यह सयुक्त समवाय सनिकर्ष कहलाता है।

३ **सयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष— घट रूप समवेत यत रूपत्वस्य सम वायात। रुपत्वसामा यप्र यक्षे समवेतसमवायसन्निकर्ष चक्ष सयक्ते।** अर्थात् घट मे रूप समवेत रूप से रहता है और रूप मे रूपत्व समवाय सम्ब ध से रहता है। रूपत्व सामा य का प्र यक्ष होने पर अथवा घट मे स्थित रूप और रूपत्व का चक्षु क साथ सयोग होने पर सयुक्त समवेत समवाय स निकर्ष होता है। इसम घट घट मे स्थित रूप और रूप मे स्थित रूप व इन तीनो का एक साथ प्रत्यक्ष होता है।

४ **समवाय सन्निकर्ष— श्रोत्र ण शब्दसाक्षात्कारे समवायसन्निकर्ष। कणविव वर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात श दस्याकाशगणत्वात गुणगुणिनोश्च समवायात्।** अर्थात श्रोत्र द्रिय क साथ शब्द का साक्षात्कार होने पर समवाय सन्निकर्ष होता है। कण विवर छिद्र का विशेष आकार ही आकाश है और वह आकाशीय भाग ही श्रोत्र द्रिय है। उस श्रोत्र या आकाशीय भाग के साथ ही वाद्य ध्वनि अथवा स्वर व्यजन आदि शब्द का सन्निकर्ष (सयोग) होता है। वह शब्द आकाश का प्रत्यात्मनियत अथवा अपथगभावी गुण है। वह शब्द गुण आकाश मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार गण और गुणी का समवाय सम्ब ध होने से शब्द और श्रोत्र का भी समवाय स निकर्ष होता है।

५ **समवेत समवाय सन्निकर्ष— शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायसन्निकर्ष श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।** अर्थात् श्रोत्र के साथ शब्द व का साक्षात्कार होने पर समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। क्याकि श्रोत्र (आका ग) क साथ समवेत हुए शब्द मे शब्दत्व समवाय सम्ब ध से रहता है।

६ **विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष— अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष घटाभाववत् भूतलमित्यत्र चक्षुसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।** अर्थात् अभाव का प्रत्यक्ष होने पर विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है। जसे—

वह भूतल घटाभाव युक्त है। ऐसा कहने पर जिस भतल के साथ चक्ष का सन्निकर्ष होता है वह भतल घटाभाव वाले विशेषण से सयुक्त है। वहाँ पर चक्ष सयुवत भूतल विशेष्य है और उनमे घटाभाव' उसका विशेषण है।

इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष क साधक सन्निकष छह प्रकार क होते हैं। ये छह भेद लौकिक प्रत्यक्ष अथवा लौकिक सनिकर्ष क कहे जा सकते है।

इसक पश्चात अलौकिक प्र यक्ष तीन प्रकार का होता है। यथा—१ सामा य लक्षणा प्रत्यासत्ति २ ज्ञान लक्षणा प्र यासत्ति और ३ योगज।

१ **सामा यलक्षणा प्र यासत्ति**—जिसके द्वारा किसी वस्तु जाति अथवा अथ के एक देश का प्र यक्ष होने पर उस सम्पूण वस्तु सम्पूण जाति अथवा सम्पूण अथ का सामा यत बोध होता है उसे सामा य लक्षणा प्र यासत्ति कहते है। जसे—एक गाय का प्र यक्ष होन पर उसकी सम्पूण गोत्व जाति का ज्ञान सामान्यत हो जाता है।

२ **ज्ञान लक्षणा प्र यास त** जिसके द्वारा वस्तु क साथ इन्द्रियो का सनिकष हुए बिना ही उस वस्तु के विषय या गण का ज्ञान हो जाना है। अर्थात केवल ज्ञान के आधार पर जिसक गण का बोध हो जाता है वह ज्ञान लक्षणा प्र यासत्ति कहलाता है। जसे—बफ को देखन मात्र से बिना उसका स्पश किए हुए ही उसकी शीतलता का ज्ञान हो जाता है। इसी भाति अग्नि को देखने मात्र स ही बिना उसका स्पश हुए किए ही उसकी उष्णता का ज्ञान हो जाता। मिश्री को देखकर उसका जिह्वा सयोग हुए बिना ही उसकी मधुरता का ज्ञान हो जाता है।

३ **योगज**—यह ज्ञान कवल योगियो को ही होता है। योगीराज विशेष समाधि अथवा ज्ञानोपलब्धि क आधार पर किसी भी विषय का अबाधित सम्पर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार से उत्पन्न हुआ प्र यक्ष ज्ञान योगज कहलाता है। यह योगज प्र यक्ष सामान्यत दो प्रकार का होता है—१ युक्त और २ युञ्जान। जसा कि शास्त्र म प्रतिपादित है—

योगजो द्विविध प्रोक्तो यक्तयञ्जानभवत ।
युक्तस्य सवदा भ न चि ता।सहकृतोऽपर ॥

—याय सिद्धा त मक्तावलि

१ **युक्त**—युक्त योगज प्र यक्ष वह होता है जिसमे योगियो को अपने तपोबल के द्वारा अखण्ड निमल ज्ञान प्रा त होता हैं। वह ज्ञान सदा बना रहता है और वस्तु स्वरूप को जानने के लिए पुन पुन समाधि योग धारण करने की आवश्यकता नही रहती।

२ युञ्जान—युञ्जान योगज प्रत्यक्ष वह होता है जिसमे वस्तु स्वरूप का ज्ञान करने के लिए समाधि धारण अथवा समाधि के द्वारा विचार करना अपेक्षित रहता है। यह ज्ञान समाधि धारण करने पर अथवा समाधि के द्वारा विचार करने पर प्राप्त होता है।

इस प्रकार अनेक भेद प्रभेद युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सभी भेद सक्षपत निम्न तालिका के द्वारा जाने जा सकते हैं—
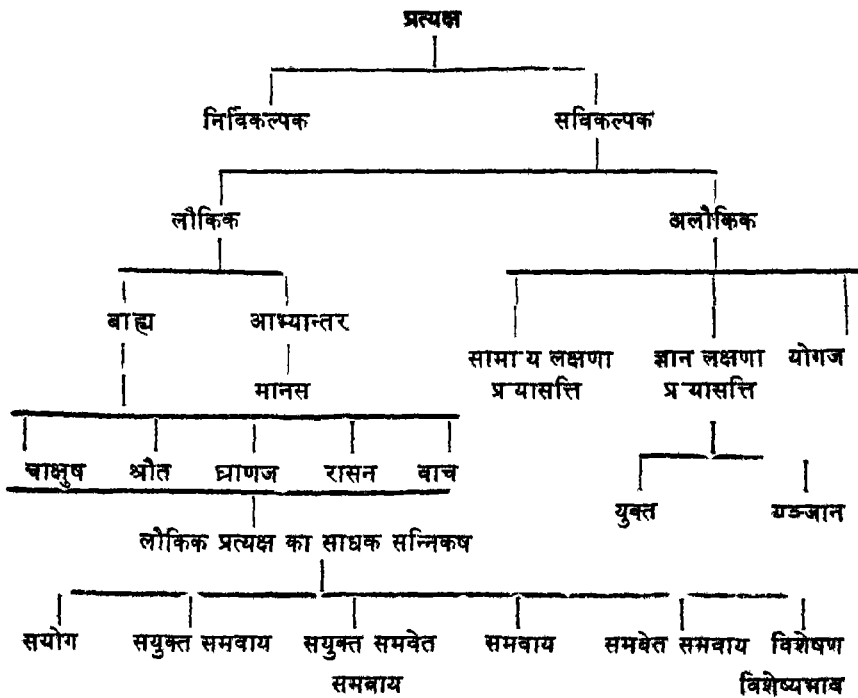
आयुर्वेद में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का स्वरूप

आयुर्वेद चकि एक जीवन विज्ञान एव चिकित्सा शास्त्र है अत उसमें प्रतिपादित प्रत्येक विषय उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। आयुर्वेद में जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का विवेचन किया गया है वह दार्शनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से नहीं है अपितु मानव मात्र के स्वास्थ्य एव विकार की अपेक्षा से है। आयुर्वेद मे यह सन्निकर्ष इन्द्रियार्थ संयोग के नाम से प्रतिपादित है। यह सयोग दो प्रकार का बतलाया गया

है—सात्म्य और असात्म्य। सात्म्य इन्द्रियार्थ सयोग शरीर के लिए हितकारी होता है जबकि असात्म्य इन्द्रियाथ सयोग शरीर के लिए अहितकर माना गया है। यह प्रत्यक्षत भी अनुभूत है। जब इन्द्रिय का स्व विषय के साथ ऐसा सयोग होता ह जिससे ज्ञान प्राप्ति होती ह तथा वह शरीर या शरीरगत किसी भी भाव विशेष के लि अहितकर नही होता है तो वह **सात्म्य इन्द्रियाथ सयोग** कहलाता है। इसके विपरीत इन्द्रिय का अपने विषय के साथ ऐसा सयोग होना जो शरीर के लिए हानि कर या अहितकर होता है **असात्म्येन्द्रियाथ सयोग** कहलाता है। यह आसात्म्येन्द्रियार्थ सयोग तीन प्रकार का होता है अतियोग हीनयोग या अयोग और मिथ्यायोग। इन तीनो ही आसात्म्येन्द्रियाथ सयोग को रोग का कारण होने से अनुपशय कहा गया है क्योकि जो रोग का कारण होते है वे अहितकर होने से असात्म्य होते हैं इसीलिए उन्हे अनुपशय कहा जाता है। असात्म्येन्द्रियाथ सयोग आयुवद मे निम्न प्रकार से प्रतिपादित है—

चक्षु के विषय का अतियोग अयोग मिथ्यायोग— अत्यन्त प्रभा (चमक) वाले दृश्य (देखे जाने योग्य) पदार्थों अर्थात सूर्य आदि का अत्यधिक देर तक या लगातार देखना रूप का अतियोग कहलाता है। दृश्य पदार्थों का सवथा नही देखना यह रूप का अयोग है। अतिसूक्ष्म आखो के अत्यन्त पास के अति दूर के उग्र भयावने अदभुत अप्रिय घृणित तथा विकृत अपवित्र रूपो का देखना मिथ्या योग है।

कान के विषय का अतियोग— अत्यन्त ऊचे मेघगजन ढोल तथा ऊचे रोने आदि के शब्दो का अत्यधिक रूप मे सुनना कान का अतियोग कहलाता है। **कान के विषय का अयोग** शब्दो का सवथा नही सुनना कान का अयोग कहलाता है। **कान के विषय का मिथ्या योग**—ककश कठोर प्रिय वस्तु के नाश क सूचक प्रिय पुत्र आदि के मृत्यु सूचक अथवा हानि सूचक तिरस्कार सूचक झिडकना तथा डरावने आदि शब्दो को सुनना कान का मिथ्या योग कहलाता है।

नाक के विषय (गन्ध) का अतियोग अयोग और मिथ्यायोग—अत्यन्त तीक्ष्ण (मरिच आदि की) उग्र (लवेण्डर इत्र आदि की) एव अभिष्यन्दि (मालकागनी तथा हाथिया आदि की) गन्धो का अत्यधिक रूप मे सूघना नाक का अतियोग कहलाता है। सवथा नही सूघना अयोग कहलाता है। दुगन्ध अप्रिय गन्ध अपवित्र गन्ध क्लिन्न अर्थात नमी क कारण सडाध होने से उत्पन्न हुई गन्ध विषयुक्त वायु का श्वास लेना अथवा उसका गन्ध तथा मुर्दे की गन्ध आदि गधो का सूघना मिथ्यायोग कहलाता है।

जिह्वा के विषय (रस) का अतियोग अयोग मिथ्यायोग—रसो का अत्यधिक मात्रा म स्वाद लेना जिह्वा का अतियोग होता है। सर्वथा नही लेना अयोग कहलाता है। अपथ्य रसो का लेना अथवा अपथ्य आहार खाना रस का मिथ्यायोग कहलाता है।

यथा-प्रकृति (लघु-गुरु) विरुद्ध आहार द्रव्यों का सेवन मिथ्या योग ही हो सकता है। सम परिमाण मे मिलाए हुए शहद और घी को सयोग विरुद्ध कहते हैं। इस सयोग विरुद्ध द्रव्य के सेवन को भी मिथ्या योग ही कह सकते हैं। इसी प्रकार अन्य सस्कार आदि द्रव्यो को जान लेना चाहिये। उपयु क्त प्रकृति विरुद्ध आदि आहार द्रव्यो के सेवन को मिथ्यायोग मे ही लाया जा सकता है क्योकि अतियोग और वियोग के बिना ही ये दोष करने वाले हैं। अयोग मे जहाँ विषय के सर्वथा ग्रहण नहीं करने का समावेश होता है वहा अल्पमात्रा में ग्रहण करने का भी।

त्वचा के विषय का अतियोग अयोग और मिथ्यायोग-अत्यन्त शीत और अत्यन्त गम स्पश से जाने जा सकने वाला स्नान अभ्यङ्ग तथा उत्सादन (उबटन) आदि का अ यधिक सवन करना त्वचा का अतियोग कहलाता है। सर्वथा सेवन नही करना अथवा अल्पमात्रा मे सेवन करना अयोग कहलाता है। स्नान आदि का तथा सर्दी गर्मी आदि भावो का जो स्पश द्वारा जाने जाते हैं उ हे यथाक्रम सेवन नहीं करना ऊची नीची जगह बठना आदि चोट लगना अपवित्र वस्तु एव भूतो (रोगजनक कीटाणओ का) स्पर्श हाना स्पशनेद्रिय (त्वक) का मिथ्यायोग कहलाता है। यथाक्रम सेवन नही करने का अभिप्राय यह है कि गर्मी से पीडित का सहसा शीत जल से स्नान कर लेना इत्यादि।

वेदना का अधिष्ठान

आयुर्वेद शास्त्र मे वेदना शब्द का व्यवहार व्यापक रुप से हुआ है बेदना का सामा य अर्थ होता है कष्ट या दु ख। यह अर्थ अत्यन्त प्रचलित या लोक रूढ़ है। किन्तु वेदना का यथाथ अभिप्राय उपयु क्त अथ से सवथा भिन्न है। वेदना एक प्रकार की अनुभति है जो दु ख रूप भी हो सकती है और दु ख रूप भी। आयुवद शास्त्र मे जब दार्शनिक दष्टिकोण से वेदना शब्द का व्यवहार किया जाता है तो वह अनुभूति मूलक होता है। अर्थात् वेदना एक ऐसा भाव है जो मनुष्य को होने वाली अनुभूति का सकेत करता है। अनुभूति परक वेदना सुख रूप भी हो सकती है और दु ख रूप भी। इसीलिए सुख और दु ख की व्याख्या करते हुए कहा गया है— **अनुकलवेदनीय सखम प्रतिकल-वेदनीय दु खम्**। अर्थात् जिसकी वेदना (अनुभूति) अनुकूल होती है वह सुख होता है और जिसकी वदना (अनुभूति) प्रतिकल होती है वह दु ख होता है। महर्षि चरक ने भी इसी भाव मे वेदना शब्द का व्यवहार किया है यथा—

> **स्पशनेद्रियसस्पश स्पर्शो मानस एव च।**
> **द्विविध सुखदु खानां वेदनानां प्रवर्तक ॥**

चरक सहिता शारीर स्थान १/१३२

अर्थात् सुख दु ख रूप वेदनाओ का प्रवर्तक दो प्रकार का स्पर्श है—१ स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से होने वाला स्पर्श और २ मानस स्पर्श। यहाँ बाह्य विषय के ग्रहण मे स्पर्श

नेन्द्रिय का स्पर्श यदि अनुकूल रूप मे है तो वह सुखात्मक वेदना है। वही स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श यदि प्रतिकूल रूप है जैसे अत्यन्त उष्ण या शीत अत्यन्त कठोर-कर्कश आदि तो वह दुखात्मक वेदना होती है। इसी प्रकार मानस स्पर्श समझना चाहिये। यदि मन का अनुकूल भावो से स्पर्श होता है तो वह सुखात्मक वेदना का प्रवर्तक है और यदि प्रतिकूल चिन्ता भय क्रोध आदि भावो से स्पर्श होता है तो वह दुःखात्मक वेदना का प्रवर्तक समझना चाहिये।

महर्षि चरक ने साम्य वेदना (सुख) एव असाम्य वेदना (दुःख) के रूप मे वेदना शब्द का व्यवहार किया है। जैसे **वेदनानामसात्म्यानामित्यते हेतव स्मृता ।** —चरक संहिता शरीरस्थान १/१२ अर्थात इन्द्रियो का जो मिथ्यायोग हीनयोग अतियोग होता है उसे असात्म्य वेदनाओ (दुःखो) का कारण समझना चाहिये।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उन वेदनाओ का अधिष्ठान क्या है ? अर्थात वह वेदना कहा रहती है ? इसका उत्तर देते हुए महर्षि चरक ने कहा है—

वेदनानामधिष्ठान मनो देहश्च सेन्द्रिय ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगणविना ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३६

अर्थात वेदनाओ का अधिष्ठान (आश्रय) मन और सेन्द्रिय (इन्द्रिय युक्त) शरीर है। केश लोम नख का अग्रभाग अन्नमल (पुरीषादि) द्रव (स्वेद-मूत्र तथा रस रक्तादि) और शब्द आदि गुण को छोडकर। अर्थात केश लोम आदि भाव वेदना का अधिष्ठान नही है।

यहा सेन्द्रिय देह का अभिप्राय जीवित शरीर समझना चाहिये। जैसा कि शास्त्र मे भी प्रतिपादित है **सेन्द्रिय चेतन द्रव्य निरीन्द्रियमचेतनम।** अर्थात् सेन्द्रिय द्रव्य चेतन होता है और निरीन्द्रिय अचेतन। यहाँ सेन्द्रिय कहने से केश लोम नख आदि का निरसन स्वत ही हो जाता है क्योकि निरिन्द्रिय होने से वे अचेतन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदना सुख रूप और दुःख रूप होती है। उस सुखात्मक एव दुखात्मक वेदना के कारण ही मनुष्य ससार मे जन्म-मरण को धारण करता है। क्योकि सुख और दुःख दोनो का हेतु तृष्णा होती है। वह तृष्णा इच्छा और द्वेषात्मिका होती है। अर्थात इच्छात्मिका तृष्णा सुख का और द्वेषात्मिका तृष्णा दुःख का कारण होती है। वह तृष्णा शरीर और मन दोनो को प्रभावित करती है। उसी से मनुष्य के शुभाशुभ कर्म सस्कारो की प्रवृत्ति होती है। तृष्णा के सुख दुःख का हेतुत्व महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुख दुःखात् प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारण पुनरुच्यते ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३४

अर्थात् इच्छा और द्वषात्मिक तृष्णा की प्रवृत्ति सुख और दुःख से होती है पुन वही तृष्ण सुख और दुःख का कारण हो जाती है।

वह तृष्णा किस प्रकार शरीर और मन को प्रभावित करती है? इसका विवेचन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वत्ति वेदना ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३५

अर्थात् वह तृष्णा वेदना के आश्रय भूत शरीर और मन को दृढ़ता पूर्वक पकडती है। उपादान के नही होने पर शरीर और मन का तृष्णा के द्वारा स्पर्श नही किया जाता है। इस प्रकार अपृष्ट हुए उस शरीर और मन को वदना का भी ज्ञान नही होता।

अभिप्राय यह है कि वदना के अधिष्ठान भूत शरीर और मन को तृष्णा की जकड मे रहना पडता है। क्योकि वही सुख दुख रूपात्मक वेदना का कारण होती है। किन्तु तृष्णा के अभाव मे शरीर और मन का इंद्रियो के साथ सयोग नही होगा। उनके सयोग के अभाव मे इंद्रियो का भी स्वविषय सयोग नही होगा अत वेदना का भी ज्ञान नही होगा।

वेदना नाश क हेतु

आयुर्वेद मे मानव जीवन का चरम लक्ष्य असाम्य वेदनाओं (दु खो) की आत्यन्तिक निवत्ति माना गया है। यही आयुर्वेद दशन का अभीष्ट है। वेदनाओ के कारण ही तृष्णा की प्रवृत्ति होती है जो अ तत सुख दु ख का कारण बनती है। ऐसी वेदनाओ का नाश कसे होता है और वदना नाश मे क्या हेतु है? इसका समाधान महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—

योगे मोक्षे च सर्वासां वदनानामवर्तनम।
मोक्षे निवृत्तिर्नि शेषा योगो मोक्ष प्रवतक ॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३७

अर्थात योग और मोक्ष मे समस्त वेदनाओ का नाश हो जाता है। मोक्ष मे वेदनाओ की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक होता है।

यहा पर योग और मुक्त अवस्था में समस्त वेदनाओ की निवृत्ति (समाप्त होने) का सकेत किया गया है। मोक्ष याने मुक्त अवस्था तो आत्मोत्कर्ष की चरम परिणति है। अत उसमे समस्त सासारिक भावो की आत्यन्तिक निवृत्ति होना सर्वथा स्वाभाविक है। योगावस्था मे भी वेदनाओ का अभाव या नाश हो जाता है। वेदनाओ के नाश मे भी वही कारण होते हैं जो योग के सम्पादन मे होते हैं। योग के होने मे मुख्य कारण है आत्मा मे मन का स्थिर होना। अर्थात् मन की समस्त प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख न होकर

अन्तर्मुख हो जाती हैं तब मन स्वत ही आत्मा मे स्थिर हो जाता। ऐसी स्थिति मे मन के द्वारा बाह्य जगत का कोई भी काय सम्पन्न नही होता है। परिणामत सुख और दु ख दोनो निवत्त (समाप्त) हो जाते हैं और वेदनाओ का नाश या अभाव हो जाता है। सामान्यत समाधि अवस्था मे जब मन की वत्तियो का निरोध हो जाता है तब मन के दोष द्वय रज और तम का स्वय ही मन से वियोग या अभाव हो जाता है। यही योग कहलाता है। इस योगावस्था मे सुख रूप या दु ख रूप वेदना का कोई स्थान नही है। यद्यपि योगावस्था मे भी प्रारब्ध कर्मों का भोग तो करना ही पडता है कि तु प्रवत्ति का सर्वथा अभाव होने से सुख और दु ख उभय (वदनाओ) का भी अभाव हो जाता है।

योगावस्था मे प्रार ध कर्मों का भोग कर लेने के अनन्तर कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्ति हो जाती है-यह सावतान्त्रिक सिद्धा त है। अत इस मक्तावस्था मे वदनाओ की भी आ यन्तिक निवत्ति हो जाती है। समस्त वेदनाओ की आत्यन्तिक निवृत्ति आत्मा की विशद्ध निमल अवस्था का द्योतक है। इस अवस्था मे आत्मा सासारिक भावो से सवथा वियुक्त हो जाने के कारण कम ब धना से भी उसे सदा सवदा के लिए मक्ति मिल जाती है और कम ब धन के अभाव मे पुन उसे ज म मरण धारण नहीं करना पडता है।

इ द्रियो की प्राप्यकारिता विचार

ऊपर जो इ द्रियाथ स निकष या इ द्रियाथ सयोग बतलाया गया है उसमे इ द्रियो और उनके विषया के पारस्परिक सम्पक की क्या प्रक्रिया है? क्या इ द्रिय अपने अधिष्ठान से निकल कर स्वय अपने विषय के पास जाकर उससे सम्पक या सयोग करती है अथवा स्वाधिष्ठान मे ही स्थित रहती है और उसका विषय स्वय इ द्रिय मे पहुचकर उससे सम्पक करता है? इस सम्ब ध मे सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि सभी पाचा इ द्रियो का स्वरूप स्थिति और नियति ममान नही है। सव प्रथम चक्षु इ द्रिय और चाक्ष ष प्रत्यक्ष को लिया जाय। चाक्ष ष ज्ञान मे चक्षु इ द्रिय का अपने विषय रूप के साथ सयोग के लिए चक्ष इ द्रिय का विषय के पास जाकर सन्निकष करना आवश्यक है। क्योकि रूप तो अपने स्थान पर स्थित है वह किसी मनुष्य की चक्ष इ द्रिय के पास नही जाता है। अत चक्ष इ द्रिय ही अक्षि गोलक से निकल कर ज्ञ य पदाथ के पास जाकर उसका ग्रहण करती है। ज्ञ य वस्तु के ससग मे चक्ष इ द्रिय को उस वस्तु स्वरूप का जो सस्कार प्राप्त होता है उसकी सूचना मन से ससग होने पर तत्काल मन को मिलती है और मन चू कि सदव आ मा से सयुक्त रहता है अत मन से आ मा को प्राप्त होती है। इस प्रकार उक्त प्रक्रिया के द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इस चाक्षुष प्र यक्ष मे च कि चक्ष इ द्रिय स्वय स्वविषय तक पहुच क र उससे सम्पर्क कर वस्तु स्वरूप को ग्रहण करती है अत उसे प्राप्यकारी माना जाता है।

किन्तु अन्य इन्द्रियो के साथ ऐसा नही है। श्रोत्रेन्द्रिय को लिया जाय। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत प्रधान है और उसका विषय है शब्द। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय मात्र शब्द का ग्रहण करती है। शाब्दिक प्रत्यक्ष मे यह पाया जाता है कि शब्द स्वयं वायु मण्डल मे लहराता हुआ मनुष्य की कर्ण गुहा मे पहुचता है और वहा स्थित आकाश के सम्पर्क मे आता है। क्योकि शब्द आकाश महाभूत का प्रत्यात्मनियत गुण है। उस शब्द को कर्ण गुहा मे स्थित श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है और मन के माध्यम से उसे आत्मा तक पहुचाती है। तब शब्द का ज्ञान या शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार घ्राणज ज्ञान की प्रक्रिया मे गध के कण वायु मण्डल मे तैरते हुए मनुष्य की नासा गुहा मे पहुचते हैं जहाँ पर नासा इन्द्रिय से उनका ससर्ग होता है। तब नासा इन्द्रिय उन गध कणो को ग्रहण कर उनका सस्कार मन में प्रदान करती है और मन आत्मा के सयोग से युक्त होने के कारण उसे उस गध का ज्ञान कराता है।

रासन प्रत्यक्ष और त्वाच प्रत्यक्ष मे भी उपयुक्त प्रकार से इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने हेतु ज्ञेय वस्तु के पास नही पहुचती है। अपितु ज्ञेय पदार्थ स्वय ही रसना या स्पर्शनेन्द्रिय से सयोग करते हैं जिससे रसना एव स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञेय द्रव्य को ग्रहण कर आत्मा सयुक्त मन के माध्यम से ज्ञान कराती है। इस प्रकार रसना और स्पर्शनेन्द्रिय अपने अधिष्ठान मे स्थित रह कर ज्ञेय वस्तु का ज्ञान कराती है।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल चक्षु इन्द्रिय ही वस्तु स्वरूप को ग्रहण करने हेतु उसके पास पहुचती है। शेष चार इन्द्रिया अपने अधिष्ठान मे ही स्थित रहकर अपने विषयो से सयोग कर उनका ग्रहण करती है और तत्पश्चात् उनका ज्ञान आत्मा को कराती है। उन चार इन्द्रियो को अपने अधिष्ठान से निकल कर बाहर नही जाना पडता है। इसीलिए कतिपय आचार्य उन चार इन्द्रियो को प्राप्यकारी नही मानते हैं वे केवल चक्षु को ही प्राप्यकारी मानते हैं। किन्तु जयन्त भट्ट आदि कतिपय आचार्य इस मत से सहमत नही हैं। उनका कहना है कि इन्द्रिय चाहे अपने अधिष्ठान मे ही स्थित रहकर ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करे या अपने अधिष्ठान से बाहर निकल कर ग्रहण करे अपने अर्थ को तो वह ग्रहण करती ही है। अत सभी इन्द्रियां प्राप्यकारी मानी जानी चाहिये।

विविध यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष का विस्तार

पूर्व मे यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रत्यक्ष ज्ञानोत्पत्ति मे आत्मा मन इन्द्रिया और उनके विषयो का सयोग ही महत्त्वपूर्ण होता है। जिन विषयो का ग्रहण इन्द्रियो के द्वारा नही होता है वे विषय इन्द्रियातीत होने से प्रत्यक्षगम्य नही माने जाते हैं। अतीत काल मे प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि अत्यन्त सीमित थी। इसीलिए

आचार्यों ने कहा था— **अल्प हि प्रत्यक्षमनल्पमप्रत्यक्षम् ।** किन्तु वर्तमान आधुनिक प्रगतिशील वैज्ञानिक युग मे प्रत्येक क्षेत्र मे नए नए आविष्कारो के द्वारा अन्यान्य यन्त्रों का विस्तार हुआ है । इससे अनेक इन्द्रियातीत या सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय इन्द्रियो के ज्ञान की परिधि मे आ गए हैं । उन आविष्कृत विविध यन्त्रो ने प्रत्यक्ष प्रमाण के क्षेत्र की सीमा को और अधिक विस्तार दे दिया है । यही कारण है कि गत कुछ समय तक ऐसी अनेक वस्तुए थी जिनका ग्रहण करने मे चक्षु आदि इन्द्रिया असमर्थ थी । किन्तु आज विज्ञान ने ऐसे अनेक आविष्कार प्रस्तुत कर दिए हैं जिनसे अनेक गूढतम रहस्यो का ज्ञान होने लगा है । चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी अनेक अग्राह्य वस्तुओ को यन्त्रो की सहायता से ग्रहण करने मे समर्थ हुई है । जैसे चश्मा की सहायता से दुर्बल नेत्रो को दृश्य वस्तु स्वच्छ एव स्पष्ट दिखलाई देने लगती है । अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से आज सूक्ष्मतम जीव जन्तुओ का अवलोकन किया जा सकता है । दूरबीन यन्त्र की सहायता से दूरस्थ ऐसी वस्तुओ को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जो दूरबीन के बिना दिखलाई नही पडती । इससे चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र मे अत्यधिक विस्तार हुआ है।

इसी प्रकार श्रावण प्रत्यक्ष के क्षेत्र मे भी विस्तार हुआ है । श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द श्रवण की एक सीमा है । उससे अधिक दूर के या सूक्ष्म शब्दो को सुनने मे श्रोत्रेन्द्रिय असमर्थ रहती है । किन्तु आधुनिक यन्त्रो के द्वारा दूरस्थ एव सूक्ष्म शब्दो को भी सुनना सम्भव हुआ है । श्रवण यन्त्र के द्वारा जहा दुर्बल श्रोत्रेन्द्रिय शब्दो को ग्रहण करने मे समर्थ हुई है वहा दूरभाष (टेलीफोन) आदि यन्त्रो ने सुदूर स्थित स्थानो पर कहे गए शब्दो को ग्रहण करने का सामर्थ्य श्रोत्रेन्द्रिय को दिया है । अर्थात् दूरभाष (टेलीफोन) से देशान्तर मे स्थित व्यक्तियो के शब्द सुने जा सकते है तथा लाऊडस्पीकर के द्वारा शब्दो और ध्वनियो का प्रसार जोर से किया जा सकता है जिसके परिणाम स्वरूप एक व्यक्ति द्वारा उच्चरित वाक्यो को हजारो मनुष्य सुन सकते है ।

आज आतुर के शरीर मे हृदय के स्फुरण का शब्द और विकृति युक्त फुफ्फुस आदि अवयवो की खरखर ध्वनि स्पष्ट रूप से स्टेथस्कोप के द्वारा सुनी जा सकती है ।

इस प्रकार आधुनिक युग मे आविष्कृत अनेक यन्त्रो ने इन्द्रियो के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के क्षेत्र का विस्तार किया है ।

प्रत्यक्ष के रहते हुए अन्य प्रमाणो की आवश्यकता

प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे अधिक महत्वपूर्ण एव उपयोगी है । क्योकि इसके द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय आदि दोषो से रहित होता है । व्यवहार मे भी प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक प्रामाणिक एव विश्वसनीय माना जाता है । मनुष्य को जिस विषय का साक्षात्कार

या प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है उस विषय मे उसे कोई शका नहीं रहती। फिर वह प्रत्यक्ष किए हुए विषय का दृढ़ता क साथ समर्थन करता है। यही कारण है कि सभी दर्शनो ने एक स्वर स प्रत्यक्ष प्रमाण को अगीकार किया है। एकमेव प्रमाण को स्वीकार करने वाले भौतिकवादी और कट्टर नास्तिक चार्वाक दर्शन ने भी प्रत्यक्ष प्रमाण का ही आश्रय लिया है। अत प्रत्यक्ष ज्ञान एव प्रत्यक्ष प्रमाण के सार्वभौम महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता है। किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण क द्वारा जिन विषयो का ज्ञान या साक्षात्कार होता है वे विषय अत्यन्त सीमित हैं। ससार के सभी विषयो का ज्ञान एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सम्भव नही है। क्योंकि **अल्पं हि प्रत्यक्षम् अनल्पम-प्रत्यक्षम** —अर्थात् प्रत्यक्ष होने वाले विषय अत्यन्त अल्प हैं और प्रत्यक्ष नही होने वाले विषय बहुत अधिक। अत ऐसे बहुत से विषय हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान से वचित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रिया ही साधन होती है। इन्द्रिया जिन विषयो को ग्रहण करती है उनका तो प्रत्यक्ष हो जाता है किन्तु इन्द्रिया जिन विषयो को ग्रहण करने मे असमथ है उनका प्रत्यक्ष नही हो पाता। भौतिक होने क कारण इन्द्रियो का विषय क्षत्र अत्यन्त सीमित है। अत सीमित विषय क्षेत्र के बाहर के विषयो का ग्रहण इन्द्रिया के द्वारा नही होने के कारण उन विषयो का ज्ञान नही हो पाता। इसीलिए वे विषय प्रत्यक्ष ज्ञान क बाहर हो जाते है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान क विषयातिरिक्त विषयो का क्षत्र अत्यन्त विशाल एव असीमित है। उन विषया का ज्ञान भी अपेक्षित रहता है।

इसक अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण कवल वतमान काल मे स्थित पदार्थों का सीमित ज्ञान कराने मे ही सहायक है। प्रत्यक्ष के द्वारा भूत और भविष्य कालीन विषयो का साक्षात्कार करना सम्भव नही है। अत भूत और भविष्यकाल के सम्पूर्ण विषयो का प्रत्यक्ष नही होने के कारण वे अज्ञात रह जाते हैं। उन विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रामाणान्तर अपेक्षित हैं। जो विषय प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा मे नही आते हैं उनका ज्ञान किसी प्रमाण के द्वारा ही किया जायेगा अन्यथा वे समस्त विषय अज्ञात ही रह जायगे और उनकी प्रामाणिकता सदैव सदिग्ध बनी रहेगी। अत प्रत्यक्ष प्रमाण क रहते हुए भी अन्य सभी विषया के ज्ञान क लिए अन्य अनुमान आदि प्रमाण भी अपेक्षित हैं। अन्य प्रमाणो को स्वीकार किए बिना प्रत्यक्ष क द्वारा कवल कुछ सीमित विषयो का ज्ञान ही सम्भव हो सकगा।

प्रत्यक्ष के बाधक

पदार्थों के सम्मुख उपस्थित रहने पर भी अनेक बार ऐसा होता है कि हमें उस वस्तु का ज्ञान नही हो पाता। कुछ कारण ऐसे उपन्न हो जाते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान

नही होने देते और उसमे बाधा उत्पन्न करते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने मे बाधा उत्पन्न करने के कारण ही वे प्रत्यक्ष के बाधक कहलाते हैं। महर्षि चरक ने प्रत्यक्ष ज्ञान मे अवरोध उत्पन्न करने वाले उन कारणो का उल्लेख सविस्तार निम्न प्रकार से किया है—

सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात करणदौर्बल्या मनोऽनव स्थानात समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धि ।

—चरक संहिता सूत्रस्थान ११।८

अर्थात विषयो के विद्यमान होने पर भी कभी कभी उनका प्रत्यक्ष नही हो पाता है जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य रूपवान वस्तुओ के विद्यमान होने पर भी १ अत्यन्त समीप होने के कारण २ अत्यन्त दूर होने के कारण ३ आवरण से ढक जाने के कारण ४ इन्द्रियो की दुर्बलता के कारण ५ मन के चचल होने के कारण ६ समानभिहार एक समान कई वस्तुए होने के कारण ७ किसी वस्तु से अन्य वस्तु के दब जाने के कारण और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता है। अत जो लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है वे बिना विचारे और बिना समुचित परीक्षा किए हुए ही एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है। वे किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार नही करते है।

प्रत्यक्ष ज्ञान मे बाधा उत्पन्न करने वाले जो कारण ऊपर बतलाए गए हैं उन्हे निम्न उदाहरणो द्वारा समझना चाहिए

१ **अति समीप**-वस्तु के अत्यधिक समीप होने पर उसका समुचित ज्ञान नही होता है। जैसे किसी पुस्तक को नेत्र के अति समीप लाया जाता है तो उसके अक्षर दिखलाई नही पडते। इसी प्रकार आख मे लगा हुआ काजल भी अति समीपता के कारण दिखलाई नही पडता है।

२ **अत्यन्त दूर**— अत्यधिक दूर होने से भी वस्तु या वस्तु स्वरूप का ज्ञान नही होता है। जैसे आकाश मे अत्यन्त दूर उडता हुआ पक्षी दिखलाई नही पडता अथवा दूर रखी हुई पुस्तक के अक्षर दिखलाई नही पडते।

३ **आवरण** किसी पदार्थ या दीवार का व्यवधान होने से वस्तु के रहते हुए भी उसका ज्ञान नहीं होता है। किसी वस्तु को कागज या कपडे मे लपेट कर रख दिया जाय तो आवरण होने के कारण उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता है।

४ **करण दौर्बल्य** – इन्द्रियो की दुर्बलता या विकृति के कारण वे अपने विषय को ग्रहण नही कर पाती है जिससे वे विषय का समुचित ज्ञान नही करा पाती हैं। जैसे नेत्रो मे रतौंधी या मोतियाबिन्द आदि कोई विकृति हो जाने पर नेत्रो से दिखलाई

नहीं पड़ता है। दृष्टि की दुर्बलता से लोग पढ़ नहीं पाते हैं या उन्हें वस्तुएं स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़तीं जिससे उन्हें चश्मा का सहारा लेना पड़ता है।

५ **मन की चञ्चलता**—मन अत्यन्त चंचल होता है जिससे वह क्षण मात्र मे इतस्तत भ्रमित हो जाता है। अपनी चचलता के बावजद जब वह किसी एक विषय मे आसक्त होता है तो उस क्षण मे उसकी प्रवृत्ति अन्यत्र नही होती है। जैसे काम आदि से आविष्ट पुरुष समीपस्थ वस्तु को भी नही देख पाता है या कक्षा में स्थित छात्र का मन अन्यत्र आसक्त होने के कारण वह बोड पर लिखे गये अक्षरो को नही देख पाता है। इसी प्रकार जब किसी विद्यार्थी का मन कोई पुस्तक पढते समय इधर उधर चला जाता है तो उसे यह ज्ञान नही हो पाता कि उसने पुस्तक मे क्या पढा ?

६ **समानाभिहार**—समान वस्तुओं के मिलने से उनका पथक ज्ञान नही होता है। जैसे गेहू के दानो मे मिलाए गए अन्य गेहू क दाने नही पहचाने जा सकते।

७ **अभिभव**—एक वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का अभिभूत होना अभिभव कहलाता है। जैसे दिन मे सूर्य क तेज से तारो का ज्ञान नही होता है।

अतिसूक्ष्म—जैसे अतिसूक्ष्म होने क कारण सक्ष्म जीवाणओ का नेत्र से ज्ञान नही होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान मे बाधा उत्पन्न करने वाले चरकोक्त उपयुक्त कारणो का उल्लेख ईश्वर कृष्ण ने भी साख्यकारिका मे किया है। यथा—

अतिदूरात सामीप्यादिन्द्रियघाता मनोऽनवस्थानात।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात समानाभिहाराच्च॥

इन समस्त कारणो से प्रत्यक्षोपलब्धि नही होने क कारण उन विषयो के ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर अपेक्षित है। अत प्रत्यक्ष क रहते हुए भी ससार क अन्य विषयो के ज्ञान के लिए अन्य प्रमाण भी आवश्यक हैं।

आयुर्वेद मे प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता

आयुवद शास्त्र मे प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादन मात्र दाशनिक दृष्टि से नही किया गया है। आतुर परीक्षा एव रोग ज्ञान मे प्रत्यक्ष की उपयोगिता एव महत्व सुस्पष्ट है। आतुर की परीक्षा के लिए मुख्य साधन इन्द्रियां हैं। इन्द्रियो के द्वारा परीक्षा का निर्देश शास्त्रों में स्पष्टत मिलता है। यथा— **दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्।**

अर्थात् (वैद्य) दशन स्पर्शन और प्रश्न के द्वारा रोगी की परीक्षा करे।

यहा तीनों प्रकार की परीक्षा इन्द्रियो के द्वारा करने का निर्देश आचार्यों ने दिया

है। ये तीनो परीक्षाए प्रत्यक्ष के अन्तगत ही सन्निहित हैं। इसी प्रकार अन्य परीक्षाए भी इन्द्रियो के द्वारा करने का निर्देश मिलता है जिससे आयुवद मे प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता का आभास मिलता है। इस सम्बन्ध मे चरक का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्व बुभुत्सु सर्वरिन्द्रियै सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीर गतान परीक्षेत ना यत्र रसज्ञानात। — चरक सहिता विमान स्थान ४।७

अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रोग ज्ञान करने की इच्छा करने वाला वद्य रस ज्ञान को छोड कर शेष समस्त इन्द्रियो के द्वारा रोगी के शरीर मे स्थित जानने योग्य समस्त विषयो की परीक्षा करे।

इसके अनुसार रोगी क स्वर आदि की परीक्षा तथा हृदय के स्फुरण आदि का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शरीर की आकृति प्रमाण वण आदि की परीक्षा चक्षु के द्वारा शरीर के ताप नाडी स्फुरण आदि की परीक्षा स्पशनेन्द्रिय के द्वारा और गन्ध योग्य भावो की परीक्षा या ज्ञान घ्राणेन्द्रिय के द्वारा करना चाहिये। इन चारो इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तगत आता है। प्रत्यक्ष के अभाव मे शरीरगत किसी भी अवयव या भाव की परीक्षा होना सम्भव नही है। अत आतुर की परीक्षा तथा अन्य प्रायोगिक ज्ञान के लिए प्रात्यक्षिक कर्माभ्यास नितान्त अपेक्षित है।

आयुवद मे अन्यत्र रोगी की अष्टविध परीक्षा का निदश दिया गया है। यथा—

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत।
नाडीं मत्र मल जिह्वां शब्द स्पश दगाकृती॥

अर्थात मनुष्य के रोगाक्रान्त शरीर के निम्न आठ स्थानो (भावो) की परीक्षा करना चाहिये— १ नाडी २ मूत्र ३ मल (पुरीष) ४ जिह्वा ५ शब्द ६ स्पर्श ७ दृष्टि और ८ आकृति। इन समस्त भावो की परीक्षा इन्द्रियो के द्वारा ही सम्भव है। इन्द्रियो के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तगत ही आता है। अत आयुर्वेद मे प्रत्यक्ष की उपयोगिता सुस्पष्ट है।

इसी प्रकार रोगी की चिकित्सा के लिए भी प्रत्यक्ष की उपयोगिता है। आयुर्वेद के अन्य विषयो जसे अगद तन्त्र कौमार भृत्य प्रसूति तन्त्र रस शास्त्र भषज्य कल्पना शल्य शालाक्य तन्त्र आदि में भी प्रत्यक्ष के बिना काम चलने वाला नही है। अत प्रत्यक्ष को अनिवाय माना गया है। आयुवदीय औषधि निर्माण शास्त्र की समस्त प्रक्रियाए प्रत्यक्ष के अभाव मे अपूर्ण ही रह जायेंगी।

एकादश अध्याय

अनुमान निरुपण

आयुर्वेद शास्त्र मे किया गया अनुमान का विशद विवेचन एव वणन इस बात का सकेत करता है कि अन्य दर्शनो की भाति आयुर्वेद मे भी अनुमान का महत्व एवं उपयोगिता है। ज्ञान के जो दो मुख्य भेद किए गए है—प्रत्यक्ष और परोक्ष उनमे परोक्ष ज्ञान मे अनुमान का स्थान अग्रणी है। इसका कारण यह है कि जो विषय प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि मे नही आ पाते हैं उनमे से अनेक विषयो का ज्ञान अनुमान के द्वारा किया जाता है। अनुमान के विषय म प्राय सभी दशनो ने व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। अत यह कहना अप्रासगिक एव अतिशयोक्ति पूण नही होगा कि परोक्ष ज्ञान मे अनुमान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण अधिकाश प्रमेय विषयो का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। यही कारण है कि आयुवद मे भी अनुमान को प्रत्यक्ष के बाद प्रमुखता दी गई है।

अनुमान का स्वरूप एव लक्षण

अनुमान श द का निर्माण दो शब्दो से हुआ है। यथा—अनु + मान = अनुमान। अनु का अथ होता है पश्चात और मान का अर्थ होता है ज्ञान। अत अनुमान का शब्दार्थ होता है पश्चात या बाद मे होने वाला ज्ञान। अनमान शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। यथा— **अनु पश्चात मीयते ज्ञायतेऽनेनेति अनुमानम।** अर्थात् जिसके द्वारा बाद मे (प्रत्यक्ष के बाद) ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि लिङ्ग ग्रहण और व्याप्ति स्मरण के अनु-पश्चात् होने वाला मान ज्ञान अनुमान कहलाता है। जसा कि याय दर्शन मे प्रतिपादित किया गया है—

तल्लिङ्गि लिङ्ग पूवकम। —न्यायवार्तिक

अर्थात् लिङ्ग को देखकर लिंग का व्यभिचार रहित ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है। जैसे—शरीर में किसी स्थान मे प्रनष्ट शल्य का ज्ञान उस स्थान पर उत्पन्न होने वाले उसके लक्षण (लिङ्ग) पाक तथा ऊष्मा आदि से किया जाता

है। जैसे प्रनष्ट शल्य वाले सदिग्ध स्थान पर च दन या घत का लेप करने पर चन्दन का शष्क हो जाना और घृत का पिघल जाना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से निगढ वस्तु या विषय का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

लक्षण

इसके अतिरिक्त अनुमान का सव सामान्य निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

साधना साध्यविज्ञानमनमानम ।

अर्थात माधन से साध्य का ज्ञान होना जनमान कहलाता है।

यन ज्ञान अविशद होने से परोक्ष है कि तु अपन विषय मे अविसवादी है तथा सशय विपयय अनध्यवसाय आदि समारोपो का निराकरण करने के कारण प्रमाण है। साधन मे साध्य का नियत ज्ञान अविनाभाव के बल से ही होता है। सव प्रथम साधन को देख कर पूव गहीत अविनाभाव का स्मरण होता है फिर जिस साधन से साध्य की व्याप्ति ग्रहण की है उस साधन के साथ वतमान साधन का सादश्य प्र यभिज्ञान किया जाता है तब अनुमान के द्वारा सा य की सिद्धि होती है। यह मानस ज्ञान है।

अनुमान के कुछ अ य लक्षण आचार्यों न निम्न प्रकार से प्रतिपादित किए हैं—

वस्तु यत्परोक्ष तदनुप्रत्यक्षात य मीयते ज्ञायते तदनुमानम । —गगाधर

अर्थात जो वस्तु परोक्ष मे है तथा प्र यक्ष के पश्चात जिसका ज्ञान किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

व्याप्तिग्रहणादनु अन तर मीयते सम्यक निश्चीयते परीक्षार्थो येन तदनुमानम् ।

—चक्रपाणि दत्त

अर्थात व्याप्ति ग्रहण के पश्चात परीक्ष्य विषय का ज्ञान जिसके द्वारा क्रिया जाता है या अच्छी तरह निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं।

युक्त्या कायकारणभावोपपत्त्या अविज्ञातस्याप्यायस्य विज्ञानमनुमानम ।

—उपस्कार

अर्थात् काय कारण भाव की उपपत्ति रूप युक्ति से अविज्ञात अथ (अज्ञात विषय) का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है।

अनु पश्चादव्यभिचारिलिङ्गाल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम् ।

—डल्हण

अनु अर्थात् बाद मे (प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात) अव्यभिचारी (व्यभिचार रहित) लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान जिससे किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम। —वात्स्यायन

अर्थात् परिमित या सीमित लिङ्ग हेतु से विषय का जो ज्ञान बाद मे प्राप्त होता है वह अनमान कहलाता है।

लिङ्ग लिङ्गिसम्बन्धज यत्वमनमानम गगाधर

अर्थात लिङ्ग (हेतु) और लिङ्गी (साध्य) के सम्ब ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनमान कहलाता है।

इसके अतिरिक्त अनुमान मे तक एव युक्ति की भी अपेक्षा रहती है। जसाकि महर्षि चरक ने स्वय कहा है—

अनमान खल तर्को युक्त्यपेक्ष । —चरक सहिता विमान स्थान ४

अर्थात युक्ति सापेक्ष तक को अनुमान कहते है।

इसी को स्पष्ट करते हुए आचाय चक्रपाणिदत्त ने अपना मन्तव्य निम्न प्रकार से व्यक्त किया है— **तर्कोऽत्राप्रत्यक्षज्ञानम। युक्ति सम्ब धोऽविनाभाव इ यथ। तेनाविनाभावज परोक्षज्ञानमनुमानमित्यथ ।**

अर्थात यहा तक का अथ अप्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान है। युक्ति का अर्थ अविनाभाव सम्ब ध है। उससे अविनाभावज परोक्ष ज्ञान अनुमान होता है यह अथ है।

सामान्यत विज्ञात अर्थ मे कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अथ में भी उसका अवधारण करना युक्ति कहलाता है और अविज्ञात तत्व के अर्थ मे कारण और उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए जो ऊहा होती है उसे तक कहते हैं। युक्ति सापेक्ष तक अर्थात युक्ति के द्वारा कार्य— कारण भावोपपत्ति से अविज्ञात अथ मे ज्ञान करना जैसे— महानस (चौका घर) मे वह्नि और धूम को एक साथ देखकर उसमे काय-कारण भाव का ग्रहण कर किसी पर्वत पर धम को देखकर वह्नि और धूम के काय-कारण भावोपपत्ति से अदृष्ट वह्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

अनुमान के एक अन्य लक्षण मे अनुमिति के साधकतम करण को अनमान कहा गया है। यथा—

अनुमितिकरणमनुमानम् । —तर्क सग्रह

अर्थात् अनमति का करण (साधकतम) अनुमान कहलाता है।

अनमिति— परामर्शजन्यज्ञानमनुमिति । अर्थात परामर्शजन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं ।

परामर्श— 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान परामर्श । अर्थात् व्याप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं ।

व्याप्ति— यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति । अर्थात जहा जहां धुआँ होता है वहा वहा अग्नि होती है । इस प्रकार के साहचर्य (एक साथ रहने के) नियम को व्याप्ति कहते हैं ।

पक्षधर्मता— व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्व पक्षधर्मता । अर्थात व्याप्य धम आदि हेतु के पर्वत आदि पक्ष (साध्य स्थल) मे होने को पक्षधमता कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि पर्वतोऽय वह्निमान धमात यह अनमान तभी सम्भव है जब जहा जहा धम होता है वहा वहाँ अग्नि अवश्य रहती है इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पक्ष (पवत) मे व्याप्य (धम) की उपस्थिति दिखलाई पडे ।

चरकोक्त अनुमान का लक्षण एव भेद

प्रत्यक्षपूर्व त्रिविध त्रिकाल चानमीयते ।
वह्निर्निगढो धमेन मथुन गर्भदर्शनात ॥
एव व्यवस्यन्त्यतीत बीजात फलमनागतम ।
दृष्टवा बीजात फल जातमिहैव सदृश बुधा ॥

— चरक सहिता सूत्र स्थान ११/२१ २२

अर्थ—प्रत्यक्ष ज्ञान पूवक तीन प्रकार का तथा तीनो काल का अनमान किया जाता है । छिपी हुई (वतमान) अग्नि का अनुमान धम से और अतीत काल के मथुन का अनमान गर्भ को देखने से होता है । अनागत (भविष्यकालीन) फल का अनुमान बीज से किया जाता है । बीज को देखकर इस बीज के समान फल हुआ था यह अनुमान बीज के विषय म भी विद्वान करते है ।

यहा यह स्पष्ट किया गया है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है । अर्थात जिसका कभी प्रत्यक्ष हुआ हो किन्तु वर्तमान काल मे प्रत्यक्षत उसकी उपलब्धि नही होती हो उस वस्तु का ज्ञान अनमान के द्वारा होता है । इस प्रकार अनुमेय विषय या वस्तु का पूव मे प्रत्यक्ष किया हुआ होना आवश्यक है ।

उपयुक्त निर्वचन से अनुमान का सामान्य अर्थ यह ध्वनित होता है कि व्याप्ति के ज्ञान के अनन्तर परोक्ष विषय का जो सम्यक्तया निश्चयात्मक ज्ञान किया जाता है वह अनुमान कहलाता है । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि लिङ्ग परामर्श का

नाम ही अनुमान है। क्योंकि लिङ्ग परामर्श के द्वारा ही परोक्ष विषय का ज्ञान किया जाता है। व्याप्ति के बल से विषय या वस्तु का जो ज्ञापक होता है वही लिङ्ग कहलाता है। जैसे धुआँ अग्नि का लिङ्ग है। किसी स्थान पर यदि अग्नि दिखलाई नही पडती है उसका ज्ञापक धुआ दिखलाई पडता है तो सहज ही यह अनुमान किया जायगा कि यहा पर अग्नि विद्यमान है। क्योंकि धुआँ अग्नि के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अग्नि के साथ धुआँ साहचर्य नियम मे रहता है। यह साहचर्य नियम ही व्याप्ति है।

यह स्पष्ट है कि व्याप्ति के बिना अनुमान होना सम्भव नही है और व्याप्ति का ग्रहण या ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। इसीलिए महर्षि चरक ने अनुमान का जो लक्षण प्रतिपादित किया है उसमे **प्रत्यक्ष पूर्वक** कहा गया है। अर्थात जिस विषय का अनुमान किया जा रहा है या किया जाना है पूर्व मे उसका प्रत्यक्ष अनुभव होना आवश्यक है। महर्षि चरक ने तीन प्रकार का अनुमान बतलाते हुए उसके तीन उदाहरण बतलाए है। यह तीन प्रकार का अनुमान और उसके उदाहरण न्याय दर्शनोक्त त्रिविध अनुमान से समानता रखता है। यथा— **अथ तत्पूर्वक त्रिविध मनुमान पूर्ववच्छेषवत सामान्यतो दृष्ट च।** अर्थात तत्पूर्वक अनुमान पूर्ववत शेषवत और सामान्यतो दृष्ट भेद से तीन प्रकार का होता है। जहा कारण से कार्य का अनुमान होता है वह पूर्ववत कहलाता है। यही चरकोक्त **वह्निर्निगूढो धूमेन** है। जहा कार्य से कारण का अनुमान होता है वह शेषवत कहलाता है। यही चरकोक्त **मैथुन गर्भदर्शनात** है। जहाँ कार्य कारण सम्बन्ध से भिन्न लिङ्ग हो वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे सूर्य से उसकी गति का अनुमान। न्यायोक्त इस त्रिविध अनुमान का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

महर्षि चरक के अनुसार अनुमान गम्य भाव तीनो कालो (वर्तमान भूत भविष्य) मे भिन्न भिन्न रूप से होते हैं। प्रत्यक्ष से मात्र वर्तमान काल के भावो का ही ग्रहण होता है जबकि अनुमान से तीनो काल के भावो का ग्रहण होता है। जैसे निगूढ या परोक्ष वह्नि का धूम से (वर्तमान काल-सामान्यतो दृष्ट) अनुमान होता है। गर्भ को देखकर भूतकाल मे किए गए मैथुन का अनुमान किया जाता है (भूतकाल शेषवत)। बीज से अनागत (भविष्य कालीन) फल का अनुमान होता है (शेषवत)। यहाँ बीज से तत्सदृश फल को उत्पन्न हुआ देखकर (कार्य-कारण रूप व्याप्ति का ग्रहण करने के अनन्तर) ही बीज से फल का निश्चय (सहकारि कारण क्षेत्र जल आदि होने पर) किया जाता है। इस प्रकार यह त्रिविध अनुमान होता है।

अनुमान के अन्य भेद एवं पंचावयव

अन्यत्र यह अनुमान सामान्यत दो प्रकार का भी बतलाया गया है। यथा—
१ स्वार्थानुमान और २ परार्थानुमान।

१ **स्वार्थानुमान**—अपनी अनुमिति का करण (साधकतम कारण) स्वार्थानुमान कहलाता है। इसमे अनुमान करने वाला व्यक्ति स्वय कार्य कारण भाव को देखकर स्वय के ज्ञान के लिए अनुमान करता है। जैसे कोई व्यक्ति महानस (रसोईघर) मे धुए और अग्नि को साथ साथ देखकर यह निश्चय करता है कि जहा जहा धुआ होता है वहा वहा अग्नि होती है—इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान का निश्चय करने के अनन्तर किसी पर्वत के समीप धुआ उठता हुआ देखकर पूर्व दृष्ट व्याप्ति ज्ञान का स्मरण कर यह निश्चयात्मक ज्ञान करता है कि यहा पर भी अग्नि है। इसी का नाम लिङ्ग परामर्श है। इस लिङ्ग परामर्श से ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि पर्वत पर आग है। इसे ही स्वार्थानुमान कहते है। यह केवल स्वय को समझने के लिए होता है।

२ **परार्थानुमान**—यह अनुमान दूसरो को ज्ञान कराने मे सहायक होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरो को समझाने के लिए शास्त्रीय सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए लिङ्ग परामर्श के द्वारा साध्य की सिद्धि करता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पाँच अवयव अपेक्षित रहते हैं। उन पाँच अवयवो के बिना परार्थानुमान की सिद्धि नही होती है। पचावयव वाक्य निम्न हैं—

१ **प्रतिज्ञा**—किसी साध्य या कार्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह प्रतिज्ञा वाक्य कहलाता है। जैसे— यह पर्वत अग्नि वाला है। इस प्रतिज्ञा वाक्य मे अग्नि साध्य है। क्योकि पर्वत मे अग्नि की सिद्धि करना ही मुख्य प्रयोजन है।

२ **हेतु**— कारण को हेतु कहते है। प्रतिज्ञा वाक्य मे जो साध्य होता है उसकी सिद्धि के लिए जो कारण प्रस्तुत किया जाता है वह हेतु कहलाता है। जैसे— धुआ होने से यह कारण उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य की साध्य अग्नि की सिद्धि करने के लिए कहा गया है।

३ **उदाहरण**—साध्य की सिद्धि के लिए कारण युक्त अन्य स्थान का सादृश्य भाव से युक्त जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है वही उदाहरण कहलाता है। जैसे— रसोईघर मे। उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य मे कहे गए साध्य अग्नि की सिद्धि के लिए यहा रसोईघर का उदाहरण दिया गया है। क्योकि रसोईघर मे धुए के साथ अग्नि का होना निश्चित रूप से उपलब्ध होता है।

४ उपनय—उदाहरण के आधार पर पक्ष मे भी उसी प्रकार का निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित होना उपनय कहलाता है। जैसे— उसी प्रकार यहाँ भी।

५ निगमन—निष्कर्ष को ही निगमन कहते हैं। जैसे— इसलिए यहाँ भी अग्नि है।

इस प्रकार उपर्युक्त पाचो अवयवो के द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है। इन पाँच अवयव वाक्यो के द्वारा जो अनुमान कराया जाता है वह परार्थानुमान होता है।

वात्सायन ने भी परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पाँच अवयवो का उल्लेख किया है। किन्त उनके पचावयव पूर्वोक्त पांच अवयवो से भिन्न हैं। यथा—१ जिज्ञासा २-सशय शक्य प्राप्ति ४ प्रयोजन और ५-सशय व्युदास। भाष्यकार के मतानुसार इनकी कोई विशेष आवश्यकता नही है। क्योकि पूर्वोक्त पाच अवयवो से भली भाति परार्थानुमान का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और उसमे किसी प्रकार की शका के लिए स्थान नही रहता। तार्किक विद्वानो के मतानुसार उपयुक्त पाच अवयवो की सख्या को घटाकर तीन अवयवो के द्वारा भी अभीष्ट सिद्धि की जा सकती है। क्योकि प्रतिज्ञा और निगमन मे कोई मौलिक अतर नही होने से निगमन की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नही रह जाती। उपनय और हेत मे भी कोई स्पष्ट अन्तर प्रतीत नही होता जबकि व्याप्ति के द्वारा लक्ष्य की सिद्धि हो जाती है। अत निगमन का अन्तर्भाव प्रतिज्ञा मे तथा उदाहरण और उपनय का अन्तर्भाव व्याप्ति मे कर प्रतिज्ञा हेतु और व्याप्ति इन तीन अवयवो को ही अनमान साधन के लिए पर्याप्त समझा जाता है। इन तीन अवयवो के द्वारा अनुमान साधन की प्रवृत्ति मुख्यत परवर्ती नैयायिको मे पाई जाती है। भारतीय दर्शन शास्त्र मे स्वमत प्रतिपादक कुछ विद्वान एव विचारक जसे वेदान्ती मीमासक बौद्ध तथा जन दाशनिक व्यवहार रूप से दो अवयवो को ही पर्याप्त समझते हैं। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु। शेष अवयवो का अन्तर्भाव इन्ही दो मे कर लिया जाता है। किसी विशेष स्पष्टीकरण के लिए वे व्याप्ति का आश्रय ले लेते हैं।

लिङ्ग परामर्श—उपयुक्त द्विविध स्वार्थ अनुमिति और परार्थ अनुमिति दोनो मे ही लिङ्ग परामश कारण है। बिना लिङ्ग परामश के अनुमान नही हो सकता है। जैसे जहा जहां धुआ होता है वहा-वहा अग्नि अवश्य होती है। इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पवत पर धुआ रूप पक्षधमता का ज्ञान अपेक्षित है। अत व्याप्ति ज्ञान विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान अर्थात पर्वत पर धुआ है और वह धुआ अग्नि का व्याप्य है—ऐसा ज्ञान होना चाहिये। इस ज्ञान को ही परामर्श कहते हैं। इसमे धुआं लिङ्ग अथवा साधन होता है और अग्नि लिङ्गी अथवा साध्य है। अत इसे लिङ्ग परामश भी कहा जाता

है। यही लिङ्ग परामर्श अनुमिति का करण होने से अनुमान कहलाता है। यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है– अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी।

हेतु तथा साध्य का साहचर्य **अन्वय** कहलाता है और इसके विपरीत अर्थात साध्याभाव तथा हेत्वभाव का साहचर्य **व्यतिरेक** कहलाता है। अन्वय सपक्ष मे रहता है और व्यतिरेक विपक्ष मे। जहाँ हमे साध्य के होने का निश्चित ज्ञान है उसे सपक्ष कहते है। जसे महानस (रसोईघर)। यहा महानस मे धुआँ रूप हेतु तथा अग्नि रूप साध्य इन दोनो का साहचर्य रूप अन्वय व्याप्ति का ज्ञान होता है। इसके विपरीत जहा हमे साध्य के अभाव का निश्चित ज्ञान है उसे विपक्ष कहते है। जसे जलाशय। यहा जलाशय मे साध्य अग्नि का अभाव अर्थात अग्नि का नही होना तथा हेतु रूप धुए का अभाव अर्थात धुए का नही होना— इन दोनो का साहचर्य रूप व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान होता है।

अन्वय व्यतिरेकी– अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी उपयुक्त अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनो के दृष्टान्त जिसमे हो ऐसे लिङ्ग का अन्वय व्यतिरेकी कहते है। जसे— पर्वतोऽयं वह्निमान धूमात इस उदाहरण मे दिया हुआ धुआ रूप हेतु (लिंग) अन्वय व्यतिरेकी है। क्योकि जहा जहा धुआ होता है वहा वहा अग्नि होती है। जसे रसोईघर मे। यहा रसोईघर मे हेतु धुआ और साध्य अग्नि है इन दोनो का साहचर्य मिलता है। यह अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त है। इसके विपरीत जहा जहा अग्नि का अभाव हो वहा धुए का भी अभाव हो। जसे जलाशय। यहा जलाशय मे साध्य अग्नि का अभाव तथा हेतु धुए का अभाव इन दोनो का साहचर्य मिलता है। इससे यह हुआ व्यतिरेक का दृष्टान्त। अत उपयुक्त प्रतिज्ञा वाक्य मे कहा गया धुआँ रूप लिङ्ग (हेतु) अन्वय व्यतिरेकी हुआ।

केवलान्वयी– अन्वयमात्रव्याप्तिक केवलान्वयी तक सग्रह। उपयुक्त अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति इन दोनो मे से केवल अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त जिसमे उपलब्ध होता हो और व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त उपलब्ध न हो ऐसे लिङ्ग को केवलान्वयी कहते है। जसे **घटो यमभिधेय प्रमेयत्वात**। यहा पर दिया गया प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है क्योकि जहा जहा प्रमेयत्व होता है वहा वहा अभिधेयत्व होता है। जसे पट। इस प्रकार सपक्ष मे स्थित अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है किन्तु जहा जहा साध्य अभिधेयत्व का अभाव होता है वहा-वहा हेतु प्रमेयत्व का अभाव होना चाहिये। विपक्ष मे स्थित ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त नही मिलता। क्योकि ससार के समस्त पदार्थ अभिधेय हैं। अत यहा कहा गया प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी होता है।

केवल व्यतिरेकी— 'केवलव्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकी' -तर्क संग्रह। जहां केवल व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त मिलता है और अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त नही मिलता ऐसे लिङ्ग को केवल व्यतिरेकी कहते हैं। जसे— जीवत शरीर सात्मक प्राणादिमत्वात। यहाँ पर दिया गया प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी है। क्योकि जो जो आत्मायुक्त नही होता है वह प्राणादिमान् भी नही होता। जसे—घट। इस प्रकार विपक्ष मे हेतु के अभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है किन्तु जो प्राणादिमान् होता है वह आत्मा युक्त होता है— इस अन्वयव्याप्ति का कोई दृष्टान्त नही मिलता। क्योकि प्राणादिमान् मात्र का पक्ष मे समावेश होने से कोई शेष रहता ही नही है जिसका सपक्ष स्थित रूप मे दृष्टान्त दिया जा सके। अत प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी होता है।

न्यायोक्त अनुमान के भेद

इसी प्रकरण मे पूर्व मे अनुमान के न्यायोक्त भेदो की संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। यहा उस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है।

न्यायदर्शन के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है। यथा— **अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्-पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।** — न्या द १।१।५ अर्थात् उपयुक्त दोनो (स्वार्थानुमान एव परार्थानुमान) अनुमान तीन प्रकार के होते है— पूर्ववत शेषवत एव सामान्यतो दृष्ट।

पूर्ववत — यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत अर्थात जहा कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है वह पूर्ववत् अनुमान होता है। जैसे—मेघ को देखकर वृष्टि का अनुमान अथवा बीज से फल का अनुमान करना। भविष्यकालीन अनुमान का भी यही उदाहरण है। पूर्ववत् का दूसरा अर्थ होता है पहले की तरह—अर्थात् जैसे पहले धुआ और अग्नि का साहचर्य देखा था उसके समान पुन यहा धुआ देख कर अग्नि का निश्चय करना। अथवा पूर्ववत् का अभिप्राय अन्वय व्याप्ति वाला अर्थात केवलान्वयी अनुमान।

शेषवत — यत्र कार्येन कारणमनुमीयते तत शेषवत् अर्थात् जहा कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है वहा शेषवत अनुमान होता है। जैसे गर्भ को देखकर कर मैथुन का या बीज को देखकर भूतकालीन फल का अनुमान करना। यही उदाहरण अतीतकाल के अनुमान का भी है। शेषवत् का अन्य अर्थ होता है परिशेषानुमान। जैसे शब्द गुण है तो वह किसी द्रव्य मे रहना चाहिए। किन्तु पृथ्वी जल तेज वायु काल दिशा आत्मा और मन इन आठ द्रव्यो मे से किसी मे भी नही पाया जाता है। अत

इन आठ द्रव्यो के अतिरिक्त किसी अ य द्र य मे अर्थात नवम द्रव्य आकाश मे उसे रहना चाहिए। इस प्रकार यह अनुमान शेषवत् अर्थात परिशेषानुमान होता है। शेषवत् का तात्पय व्यतिरेक व्याप्ति वाला अर्थात केवल व्यतिरेकी होता है।

सामान्यतो दष्ट— सामा यतो दष्ट कायकारणभिन्नलिङ्गकम। सामा य लिङ्ग से अर्थात काय कारण से भि न अन्य किसी लिङ्ग से जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतो दष्ट कहलाता है। जसे एक स्थान पर देखे गये किसी व्यक्ति को जब दूसरे स्थान पर देखा जाता है तब उस व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचना गतिपूर्वक ही होता है। अर्थात गति के बिना वह एक स्थान से दसरे स्थान पर नही पहुच सकता है। इसी प्रकार सूय की गति यद्यपि प्र यक्ष रूप से देखने मे नही आती है तथापि उसका पूव से पश्चिम मे पहुचना गति के बिना सम्भव नही है। अत उसकी भी कोई गति अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार जो निश्चय या अनुमान किया जाता है वह सामा यतो दष्ट अनुमान कहलाता है। अथवा सामा यतो दष्ट का अभिप्राय यह भी है कि लिङ्ग और लिङ्गी का सम्ब ध प्र यक्षत होने पर जब केवल लिङ्ग के सामा य ज्ञान से लिङ्गी का अनमान किया जाता है तो वह सामान्यतो दष्ट कहलाता है। जसे इच्छा आदि लिङ्ग के द्वारा अप्र यक्ष आ मा का अनमान करना। सामान्यतो दष्ट के एक अन्य अभिप्राय के अनसा र अ वय तथा व्यतिरेक याप्ति वाला अर्थात अन्वय व्यतिरेकी।

प्रस्तुत अनमान प्रमाण भतकाल भविष्यकाल और वतमान काल— इन तीनो कालो मे विद्यमान पदार्थों को विषय करता है। गभ दशन से मथुन का अनुमान भूतकालीन हुआ बीज दशन से अनागत फल का अनमान भविष्य कालीन हुआ और धम दशन से अग्नि का अनमान वतमान कालीन हआ।

हेतु का स्वरूप और भद

अनमान प्रमाण की सिद्धि के लिए उसके साधक जिस कारण अथवा साधन की आवश्यकता रहती है वह हेतु कहलाता है। अनमान की सिद्धि पणत हेतु पर ही निर्भर होती है। हेतु के बिना अनुमान की सिद्धि सम्भव नही है। यही कारण है कि अनुमान के साधन मे हेतु का अति विशिष्ट मह व है। अनुमान के साधन मे जो पचावयव अपेक्षित हैं उनम हेतु प्रमुख है। पचावयव के अन्तगत प्रतिज्ञा के ज्ञान के साधन के लिए हेतु की अनिवायता के कारण ही उसका मह व एव उपयोगिता है। जसे— **पवतोऽय वह्निमान् धमात** यहाँ पर धूम प्र यक्ष हेतु है। इसी प्रकार **अयमातुरो म दाग्नित्वात्** अर्थात म दाग्नि होने से यह रोगी है। यहा पर मन्दाग्नि हेतु है। महर्षि चरक ने अग्नि

(जाठराग्नि) का ज्ञान पाचन शक्ति के द्वारा और बल का ज्ञान (अनुमान) व्यायाम शक्ति के द्वारा होना बतलाया है ।

आयुर्वद शास्त्र मे ऐसे अनेक भाव हैं जिनका ज्ञान हेतु की अपेक्षा रखता है। इसीलिए महर्षि चरक ने हेतु का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है जो सार्थक एव समीचीन है—

हेतुर्नामोपलब्धिकारण त प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत्तत्वम —चरक सहिता विमान स्थान ८/३३

अर्थात उपलब्धि (ज्ञान) का कारण हेतु होता है। वह कारण प्रत्यक्ष अनुमान एतिह्य और उपमान रूप होता है। इन हेतुओ से जो प्राप्त होता है वही तत्व (यथार्थ) है।

यहां पर चरक ने हेतु चार प्रकार का बतलाया है जो आयुर्वेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष हेतु का उदाहरण धमात द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। अनुमान हेतु भी मन्दाग्नि एव व्यायाम शक्ति के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। इसी प्रकार ऐतिह्य और उपमान हेतु भी होते है। आयुर्वद मे ऐतिह्य से आप्तोपदेश वेद आदि का ग्रहण किया गया है। यथा— **एतिह्य नामाप्तोपदेशो वेदादि ।** (चरक सहिता विमान स्थान /३४) पुनर्जन्म मोक्ष आदि अदृष्ट भावो का ज्ञान आप्तोपदेश या वेदवाक्य आदि से होता है। अत पुनर्जन्म मोक्ष आदि अदष्ट भावो के ज्ञान मे ऐतिह्य कारण या हेतु है।

इसी भांति उपमान हेतु को भी ज्ञान का कारण या साधन माना गया है। दो भिन्न पदार्थो मे सादश्य के आधार पर एक (प्रसिद्ध वस्तु) से दूसरे (अप्रसिद्ध विषय) का ज्ञान कराना उपमान होता है। जैसे दण्ड से दडक रोग का धनुष से धनुस्तम्भ रोग का ज्ञान होना। इसे यो समझा जा सकता है कि आयुर्वेद के किसी विद्यार्थी को दण्डक रोग का ज्ञान नही था। उसे उसके आचार्य ने बतलाया कि— **दण्डवतस्तम्भगात्रस्य दण्डक ।** (च चि अ २) कालान्तर मे वह एक ऐसे रोगी को देखता है जिसका शरीर दण्डवत् स्तम्भ है। तत्काल वह अनुमान लगा लेता है कि रोगी दण्डक रोग से पीडित है। इसी प्रकार धनुस्तम्भ व्याधि का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार यह औपम्य हेतु होता है।

इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न दर्शनकारो ने भिन्न भिन्न रूप से हेतु स्वरूप की मीमांसा की है और उसके अलग-अलग प्रकार बतलाए हैं। नैयायिक पक्षधर्मत्व सपक्षसत्व विपक्ष व्यावृत्ति अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इस पच रूप वाला हेतु मानते हैं। हेतु का पक्ष मे रहना समस्त सपक्षो मे या किसी एक पक्ष मे रहना

किसी भी विपक्ष मे नही पाया जाना प्रत्यक्ष आदि से साध्य का बाधित नहीं होना और तुल्य बल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु का नही होना ये पांच बात प्रत्येक सद्धेतु के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका समर्थन न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने भी किया है। नयायिक अन्यत्र अन्वय व्यतिरेकी केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी उभ त्रिविध स्वरूप वाला हेतु भी मानते हैं। प्रसस्तपाद भाष्य मे हेतु के त्रैरूप्य का ही प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध भी हेतु के त्ररूप्य को स्वीकार करके अबाधित विषयत्व को पक्ष के लक्षण से ही अनुगत कर लेते हैं। अपने साध्य के साथ निश्चित त्रैरूप्य वाले हेतु मे समान बल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु की सम्भावना ही नही की जा सकती। अत उनकी दृष्टि मे असत्प्रतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है। इस प्रकार हेतु का त्ररूप्य मानने वाल तीन रूपो को हेतु का अत्यन्त आवश्यक स्वरूप मानते है और इसी त्रिरूप हेतु को साधनाङ्ग कहते है और इनकी न्यूनता को असाधनाङ्ग वचन कहकर निग्रह स्थान मे सम्मिलित करते है। इसमे पक्षधर्मत्व असिद्धत्व दोष का परिहार करने के लिए है सपक्षसत्व विरुद्धत्व का निराकरण करने के लिए तथा विपक्ष व्यावृत्ति अनकान्तिक दोष की व्यावृत्ति के लिए है।

जन दर्शन मे केवल अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु का स्वरूप माना गया है। जिसका अविनाभाव निश्चित है उसके साध्य मे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से बाधा ही नहीं आ सकती। यदि वह बाधित है तो साध्य कदापि नही हो सकता। इसी प्रकार जिस हेतु का अपने साध्य के साथ समग्र अविनाभाव है उसका तुल्य बलशाली प्रतिपक्षी प्रति हेतु सम्भव ही नही है। अत जन दर्शनकारो की दृष्टि मे अविनाभाव ही एक मात्र हेतु स्वरुप हो सकता है। अविनाभाव को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति मे ही नही बाधा गया है। किन्तु उसका व्यापक क्षेत्र निश्चित किया गया है। अविनाभाव सहभाव और क्रमभाव मूलक होता है। अविनाभाव के इसी व्यापक स्वरूप को आधार बनाकर जन दर्शन मे हेतु के निम्न भेद स्वीकार किये गए है—स्वभाव व्यापक काय कारण पूर्वचर उत्तरचर और सहचर। सामान्यत हेतु के दो भेद भी बतलाए गए है— एक उपलब्धि रूप और दूसरा अनुपलब्धि रूप।

वैशेषिक सूत्र मे एक स्थान पर काय कारण सयोगी समवायी और विरोधी इन पाँच प्रकार के लिङ्गो का निर्देश मिलता है। (देखिये ९/२/१) अन्यत्र (३ ११ २३ मे) अभूत भूत का भूत-अभूत का और भूत भूत का इस प्रकार तीन हेतुओ का वर्णन मिलता है। बौद्ध मतानुसार स्वभाव काय और अनुपलब्धि तीन प्रकार का हेतु होता है।

हेतु सामान्यत दो प्रकार का होता है— सद् हेतु और असद् हेतु । जो हेतु देश और काल के भेद बिना साध्य के साथ पाया जाता है साध्य के साथ अन्य कहीं प्रसिद्ध हो और साध्य के अभाव मे कहीं भी प्राप्त न होता हो वह सद् हेतु कहलाता है । वस्तुत इसी के द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है। इसी को यथार्थ हेतु भी कहते हैं ।

अहेतु, असदहेतु या हेत्वाभास

उपयु क्त हेतु के विपरीत जो हतु होता है वह असद् हतु या अहतु कहलाता है । यह वस्तुत हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतिभासित होता है । अत हेतु न होते हुए भी हेतवत आभास होने के कारण यह ्त्वाभास भी कहलाता है । जसा कि कहा गया है—

हेतवदाभासन्ते न त वास्तविकहेतवस्ते हेत्वाभासा । असिद्धेतव इत्यर्थ ।

महर्षि चरक ने अहेतु का वणन करते हुए उसे तीन प्रकार का बतलाया है । जसे १ प्रकरण सम २-सशय सम और ३-वण्य सम ।

इनका प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है—

प्रकरण सम— तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुयथा— अन्य शरीरादात्मा नित्य इतिपक्ष ब याद यस्म दन्य शरीरादात्मा तस्मान्नित्य शरीरमनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतु न हि य एव पक्ष स एव हेतु ।

—चरक संहिता विमान स्थान ८/६४

अर्थात् प्रकरण सम अहेतु (हेत्वाभास) वह होता हैजैसे शरीर से अ य (भिन्न) आ मा नि य है यह पक्ष होने पर कहे—चूँकि आत्मा शरीर से भि न है अत आत्मा नित्यहै । शरीर अनित्य है त आत्मा को उससे विपरीत धम या गुणवान होना चाहिये -यह हेत्वाभास है । यहाँ आ मा का नित्यता पक्ष है वह ही शरीर से भिन्नता का हेतु हो नही सकती । क्योकि जो पक्ष हो वही हेतु नहीं होता है । अपनी ही स्थापना मे अपनी ही कारणता सम्भव नही है ।

प्रकरण सम के विषय मे न्याय दशन का मत है—

'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स एव निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसम ।

अर्थात् जिससे प्रकरण का विचार हो रहा हो वह निणय के लिए निमित्त मान लिया जाय तो वह प्रकरण सम हेत्वाभास होता है । यहा पर शरीर से भिन्न आत्मा की नित्यता का प्रकरण है । इसे (शरीर से भिन्नता) ही यदि आत्मा की नित्यता की सिद्धि मे हेतु मान लिया जाय तो वह प्रकरणसम हेत्वाभास कहलावेगा ।

सशय सम— संशय समो नामाहेतुर्य एव सशयहेतुः स एव संशयच्छेद हेतुः यथा—

अयमायुर्वेदकदेशमाह किन्त्वय चिकित्सक स्यान्नवेति सशये परो ब्रूयात्—यस्मादय-मायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति न च सशयहेतु विशेषयत्येष चाहेतु न हि य एव सशयहेतु स एव सशयच्छेदहेतुर्भवति । —चरक सहिता विमान स्थान ८/६५

अर्थात् सशय सम उस हेत्वाभास को कहते है जो सशय का कारण हो वही सशय के नाश का कारण हो । जैसे—इसने आयुर्वेद के एक भाग को कहा है अत क्या यह चिकित्सक है या नही ? ऐसा सशय उत्पन्न होने पर दूसरा कहे कि चू कि इसने आयुर्वेद के एक भाग को कहा है अत यह चिकित्सक है । इसमे सशय के नाश का हेतु भिन्न नही बतलाया गया ह अत यह सशयसम अहेतु या हेत्वाभास है ।

सामान्यत जो सशय का हेतु हो वह सशय के नाश का कारण नही हो सकता है । न्याय दशन में इसे सव्यभिचार के अन्तगत माना गया है । न्यायभाष्य के प्रणता मुनि वात्सायन ने इस विषय मे कहा है— **यत्र समानो धम सशयकारण हेतुत्वेनोपादीयते स सशयसम सव्यभिचार एव ।** अर्थात् जहाँ पर समान धम सशय का कारणभत हेतुत्व रूप से ग्रहण किया जाता है वह सशयसम अहेतु है जो सव्यभिचार होता है ।

उपयु क्त वाक्य मे आयुर्वेद के एक देश के कथन को चिकित्सक और अचिकित्सक मे समान और सशय का कारण माना गया है । उसे ही हेतु रूप मे ग्रहण करना सशय सम हेत्वाभास है । क्योकि आयुर्वेद के एक देश का कहना—यह हेतु है और चिकित्सक होना या न होना इस सशय का कारण भी है अत यह अनैकान्तिक है । अनैकान्तिक होने से यह व्यभिचार युक्त है । इसीलिए न्याय दर्शन मे इस हेतु को सव्यभिचार माना गया है ।

वर्ण्य सम—वर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो हेतुवर्ण्याविशिष्ट यथा परो ब्रूयात अस्पर्शत्वाद बुद्धिरनित्या शब्दवदिति अत्र वर्ण्य शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोऽप्यहेतु । —चरक सहिता विमान स्थान ८/६६

अर्थात वर्ण्यसम अहेतु (हेत्वाभास) वह होता है जो हेतु वर्ण्य से भिन्न न हो । जैसे—कोई दूसरा कहे कि स्पर्श नही होने से बुद्धि अनित्य है शब्द की तरह । यहाँ पर शब्द वर्ण्य (वर्णन किए जाने योग्य) है बुद्धि भी वर्ण्य है । दोनो वर्ण्यों के अविशिष्ट होने से वर्ण्यसम अहेतु होता है ।

उपयु क्त कथन को निम्न प्रकार समझना चाहिए—बुद्धि अनित्य है-यह प्रतिज्ञा है । स्पर्श नही होने से—यह हेतु है । शब्द की तरह-यह दृष्टान्त है । जैसे शब्द स्पर्श रहित होने से अनित्य होता है उसी तरह बुद्धि भी स्पर्श रहित होने से अनित्य है । उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधक हेतु कहलाता है और उदाहरण उसे कहते हैं जिसमे मूर्ख और विद्वान की बुद्धि एक समान हो । ऐसी बात लोक और शास्त्र दोनो में

प्रसिद्ध होती है। यहाँ बुद्धि और शब्द दोनों वर्ण्य हैं। जिस अस्पर्शत्व होने से अनित्य स्वरूप में बुद्धि साध्य है उसी प्रकार शब्द भी। सामान्यत साध्य कभी भी दृष्टान्त नहीं होता है। उन बुद्धि और शब्द दोनो के वर्ण्य होने से तुल्य होने पर और दोनों ही स्थान पर अस्पर्शत्व के साध्य होने से अस्पर्शत्वात्' यह हेतु वर्ण्य सम है। अर्थात् जो हेतु वर्ण्य-साध्य के समान है वह वर्ण्य सम कहलाता है।

हेत्वाभास के सन्दर्भ मे महर्षि गौतम का निम्न कथन भी महत्वपूर्ण है—

साध्याविशिष्ट साध्यत्वात साध्यसम।

अर्थात साध्यत्व होने से साध्याविशिष्ट साध्यसम होता है।

जातियो मे कहा है—

साध्यदृष्टान्तयो साधर्म्याद् वर्ण्यसम।

अर्थात साध्य और दृष्टान्त मे साधर्म्य (समानता) होने से वर्ण्यसम होता है।

ऊपर जो बुद्धि की अनित्यता को साध्य मानकर शब्द का उदाहरण दिया गया है—उसमे साध्य और दृष्टान्त दोनो मे समानता है। साध्य के साधन के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु दृष्टान्त पर भी लागू होता है। अर्थात् अनित्य बुद्धि की भाँति अनित्य शब्द का भी स्पर्श नही होता है। जो हेतु (अस्पर्शत्वाद्) प्रस्तुत किया गया है वह साधर्म्य वाले साध्य और दृष्टान्त दोनो मे लागू होने से असिद्ध होता है। असिद्ध होने से वह अहेतु या हेत्वाभास कहलाता है। इस प्रकार वह वर्ण्य सम अहेतु होता है।

तार्किक लोगो ने सहस्राधिक हेत्वाभास माने हैं। गौतम ने पाच प्रकार के हेत्वाभास का वर्णन किया है। यथा १-सव्यभिचार २ विरुद्ध ३ प्रकरण सम ४-साध्य सम ५-अतीत काल। न्याय दर्शन मे जो पाच हेत्वाभास स्वीकृत किए गए हैं वे निम्न लिखित हैं— **सव्यभिचारविरुद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिता पचहेत्वाभासा।** अर्थात् सव्यभिचार विरुद्ध सत्प्रतिपक्ष असिद्ध और बाधित ये पाच हेत्वाभास होते हैं।

(१) **सव्यभिचार — 'सव्यभिचारोऽनैकान्तिक'** अर्थात् अनेकान्तिक हेतु को सव्य भिचार कहते हैं। जो हेतु सदा अपने साध्य के साथ ही न रहे वह सव्यभिचार कहलाता है। अर्थात् कभी साध्य मे और कभी असाध्य में जिसकी उपलब्धि होती है वह सव्यभिचार हेतु कहलाता है। यह सव्यभिचार हेतु तीन प्रकार का होता है—साधारण असाधारण और अनुपसंहारी।

(1) **साधारण सव्यभिचार हेतु— 'साध्याभाववद्वृत्ति साधारणोऽनैकान्तिक:'** — जो हेतु साध्य के अभाव स्थान में भी उपस्थित रहता है वह साधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जैसे—पर्वतोऽयमग्निमान् प्रमेयत्वात्' अर्थात् यह पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने से। यहाँ पर पर्वत मे अग्नि की सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया है वह

अग्नि के अभाव स्थल जलाशय मे भी विद्यमान रहता है। जबकि हेतु को केवल अपने पक्ष मे ही रहना चाहिए विपक्ष मे नही। साधारण से अभिप्राय यह है कि प्रमेयत्व हेतु केवल अग्नि का साधक नही है अपितु वह ससार के समस्त पदार्थों का साधक है। समस्त पदार्थों मे सामान्यत इस हेतु की उपलब्धि होने के कारण यह साधारण हेतु है। यह हेतु अनेक पदार्थों से सयुक्त होने के कारण अनेकान्तिक भी है। यह एक धर्मी न होकर अनेक धर्मी है। अत यह साधारण अनेकान्तिक अथवा साधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है।

(i) **असाधारण सव्यभिचार हेतु — सवसपक्षविपक्षव्यावृत्त पक्षमात्रवृत्ति रसाधारण । यथा-शब्दो नित्य शब्दत्वात ।** वह हेतु जो किसी भी सपक्ष या विपक्ष मे न रह कर केवल पक्ष मे ही उपस्थित रहता हो असाधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जसे शब्द नित्य है शब्दत्व होने से। वस्तुत शब्दत्व केवल शब्द मे ही विद्यमान रहता है। किसी नित्य या अनित्य वस्तु मे नही। अत शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) मे रहने के कारण असाधारण सव्यभिचार होता है।

(ii) **अनुपसहारी सव्यभिचार हेतु— अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसहारी । यथा — सर्वमनित्यम प्रमेयत्वात** -अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसहारी सव्यभिचार कहलाता है। जसे — सब कुछ अनित्य है प्रमेय होने से। यहा पर जो हेतु दिया गया है वह सब कुछ की अनित्यता सिद्ध करने के लिए है। किन्तु सब कुछ पक्ष होने के कारण सपक्ष के लिए अथवा विपक्ष के लिए कुछ नही बचता। इससे न सपक्ष का दृष्टान्त मिलता है और न विपक्ष का। अत यह हेतु अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित है।

(२) **विरुद्ध हेत्वाभास— साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध । यथा — शब्दो नित्य कृतकत्वात् ।** अर्थात् साध्य के अभाव से युक्त हेतु विरुद्ध कहलाता है। याने जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव रहता है वह विरुद्ध हेतु होता है। जसे शब्द नित्य है उत्पन्न होने से। यहा पर शब्द का नित्यत्व साध्य है और उसकी सिद्धि के लिए कृतकत्व (उत्पन्न होना) हेतु दिया गया है। यह हेतु साध्य के सर्वथा विपरीत है। क्योकि जो उत्पन्न होता है वह कभी नित्य नही हो सकता। अत शब्द भी उत्पन्न होने से नित्य नही कहला सकता।

(३) **सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास— साध्याभावसाधकं हेत्वन्तर यस्य स सत्प्रतिपक्ष यथा-शब्दो नित्य श्रवणत्वात शब्दत्ववत ।** — साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी जिसका विद्यमान रहता है वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है श्रवणत्व होने से शब्दत्व के समान। इस प्रतिज्ञा वचन मे शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए **श्रवणत्वात** हेतु दिया गया है। किन्तु इसके विपरीत

शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी उपस्थित है। जिससे शब्द के नित्यत्व साधन मे बाधा उपस्थित होती है। जैसे— 'शब्दोऽनित्य' कार्यत्वात् घटवत्। यहा पर कार्यत्वात् इस हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध का गई है। अत शब्द के नित्यत्व साधक के विपरीत उसका अनित्यत्व साधक हेत्वन्तर विद्यमान होने से प्रथम हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

४ **असिद्ध हेत्वाभास**—जो हेतु स्वय ही सिद्ध न हो वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है— आश्रयासिद्ध स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

[1] **आश्रयासिद्ध हेत्वाभास— यस्य हेतो आश्रय पक्ष अप्रसिद्ध स हेतु आश्रयासिद्ध** —अर्थात् इस प्रकार का हेतु जो स्वय अपने पक्ष मे रहता हुआ भी असिद्ध हो अथवा जिसका आश्रय ही स्वय असिद्ध हो अर्थात जिस आश्रय की कभी सिद्धि नही की जा सकती वह अश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे— **'गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वात सरोजारविन्दवत**। यहा पर आकाश कमल की सुगन्धि को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और उसकी सिद्धि के लिए अरविन्दत्व हेतु प्रस्तुत किया गया है। किन्त यहा पर अरविन्दत्व रूप हेतु का आश्रय आकाश कमल बतलाया गया है जो स्यय असिद्ध है। आकाश मे कभी कमल उत्पन्न नही होता। अत प्रतिज्ञा वाक्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। क्योकि आश्रय भूत आकाश मे अरविन्द (कमल) की सत्ता ही विद्यमान नही है फिर उसकी सुगन्धि कैसे सिद्ध की जा सकती है? अत इस प्रकार के साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत किया जाता है उसके द्वारा कभी भी साध्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं होने से वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

[1] **स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास यो हेत आश्रये पक्ष नावगम्यते स स्वरूपासिद्ध**। जिस साध्य का स्वरूप ही असिद्ध रहता है उसकी सिद्धि के लिए जो हेतु दिया जाता है वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। क्योकि उस हेतु के द्वारा साध्य के स्वरूप की सिद्धि किसी भी प्रकार से सम्भव नही होती। जैसे— शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात् अर्थात शब्द नित्य होता है चाक्षुष होने से। यहाँ पर शब्द का नित्यत्व चाक्षुष हेतु के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया गया है। किन्तु शब्द देखा नहीं जाता अपितु सुना जाता है। जो वस्तु देखी नहीं जा सकती उसका कोई स्वरूप भी नहीं होता। अत स्वरूप रहित वस्तु की सिद्धि के लिए चाक्षुषत्व हेतु सवथा असिद्ध होता है। इस प्रकार का हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

[iii] **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास सोपाधिको हेतु व्याप्यत्वासिद्ध ।** अर्थात् उपाधियुक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। उपाधि उसे कहते हैं जो साध्य का व्यापक हो किन्तु साधन का व्यापक न हो। साध्य के अत्यन्त अभाव स्थल मे उपाधि रूप प्रतियोगी का होना ही साध्य का व्यापक होना है। साधन के साथ उपाधि के अभाव का रहना साधन का अव्यापक होना कहलाता है। जैसे **पर्वतोऽय धूमवान वह्निमत्वात** इस उदाहरण मे धूम साध्य है और वह्नि साधन है। केवल वह्निमान् हेत धम को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है। क्योकि अयोगोलक मे वह्नि के होते हुए भी धूम नही होता। जब वह्नि के साथ आर्द्र धन का सयोग होता है तब धम होता है। किन्त वह्नि मात्र के साथ आर्द्र धन का सयोग भी सर्वत्र नही होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साध्य धूम के साथ आर्द्र धन का सयोग रहता है किन्त साधन वह्नि के साथ आर्द्र धन का सयोग सर्वत्र नही रहता। अत आर्द्र धन सयोग हुआ उपाधि और इस उपाधि युक्त होने से वह्निमत्व हेत सोपाधिक अर्थात व्याप्यत्वासिद्ध हुआ।

(५) **बाधित हेत्वाभास यस्य हेतो साध्याभाव प्रमाणान्तरेण निश्चित स हेतु बाधित । यथा-वह्नि अनुष्ण द्रव्यत्वात** —जिस हेत के साध्य का अभाव दूसरे प्रमाण के द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध हो उसे बाधित कहते हैं। जैसे—अग्नि अनुष्ण (शीतल) है द्रव्य होने से। यहा अग्नि का अनुष्णत्व साध्य है। किन्त उसका अभाव अर्थात उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध है। अत इस साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तत किया गया हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित होने से यह बाधित हेत्वाभास कहलाता है।

व्याप्ति विमर्श

अनुमान प्रकरण मे व्याप्ति का विशिष्ट महत्व है। क्योकि व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि होना सम्भव नही है। अत व्याप्ति को अनुमान का मूल आधार माना गया है। व्याप्ति शब्द का निर्माण वि + आप्ति इन दो शब्दो से हुआ है। इसके अनुसार **विशेषेण आप्ति** अर्थात् विशेष रूप से प्राप्ति या लाभ होना। प्रस्तुत प्रकरण मे आप्ति का अभिप्राय सहभाव या सह सम्बन्ध लिया गया है। इसी आधार पर तर्क सग्रह मे व्याप्ति का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति ।

अर्थात् जहा धुआं होता है वहा वहा अग्नि होती है—यह साहचर्य नियम ही व्याप्ति है। यहा यह स्पष्ट है कि व्याप्ति दो द्रव्यो के पारस्परिक जुड़े हुए (साहचर्य) सम्बन्ध को दर्शाता है। अर्थात् यह व्यापक और व्याप्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

व्यापक वह होता है जो व्याप्त करता है और व्याप्य वह होता है जिसमें व्याप्त रहता है। यहा यह भी स्मरणीय है कि व्यापक व्याप्य के बिना पाया जा सकता है किन्तु व्याप्य व्यापक के बिना नहीं रह सकता। जैसे अग्नि और धुआं। यहा अग्नि व्यापक और धुआ व्याप्य है। अग्नि धुए के बिना तो रह सकती है किन्तु धुआं अग्नि के बिना नही रह सकता।

कतिपय आचार्य अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अर्थात् एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के बिना नही होना। यदि कोई ऐसा द्रव्य है जो अपने सहभावी द्रव्य के बिना नही रह सकता है तो उन दोनो द्रव्यो के पारस्परिक सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे गुण गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रह सकता है। इसे और अधिक स्पष्ट एव व्यापक करते हुए कहा गया है—साध्य और साधन के सार्वकालिक सार्वदशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार यद्यपि सम्बन्ध द्वयनिष्ठ होता है किन्तु वस्तुत वह सम्बन्धियो की अवस्था विशेष ही है। सम्बन्धियो को छोड कर सम्बन्ध कोई पृथक वस्तु नहीं है। उसका वर्णन या व्यवहार अवश्य दो द्रव्य के बिना नही हो सकता किन्तु स्वरूप प्रत्येक पदार्थ की पर्याय से भिन्न नही पाया जाता है। इसी तरह अविनाभाव या व्याप्ति उन पदार्थों का स्वरूप ही है जिनमे यह बतलाया जाता है। साध्य और साधन भूत पदार्थों का वह धर्म व्याप्ति कहलाता है जिसके ज्ञान और स्मरण से अनुमान की भूमिका तैयार होती है। साध्य के बिना साधन का नही होना और साध्य के होने पर ही होना ये दोनो धर्म एक प्रकार से साधननिष्ट ही हैं। इसी प्रकार साधन के होने के पर साध्य का होना ही यह साध्य का धर्म है। साधन के होने पर साध्य का होना अन्वय कहलाता है और साध्य के अभाव मे साधन का नही होना व्यतिरेक कहलाता है। यद्यपि अविनाभाव का शब्दार्थ व्यतिरेक व्याप्ति तक ही सीमित लगता है परन्तु साध्य के बिना नही होने का अर्थ है साध्य के होने पर ही होना। यह अविनाभाव रूपादि गुणों की भांति इन्द्रिय ग्राह्य नही होता किन्तु साध्य और साधन भूत पदार्थों का ज्ञान करने के बाद स्मरण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि की सहायता से जो एक मानस विकल्प होता है वही इस अविनाभाव को ग्रहण करता है।

व्याप्ति का निर्दोष होना आवश्यक है। अर्थात् वह व्यभिचार एव अनेकान्तिक दोष से मुक्त होना चाहिए। साधन और साध्य रूप द्रव्य यदि एक दूसरे से पृथक्, एक दूसरे के अभाव में भी पाए जाते हैं तो वह व्यभिचार दोष कहलाता है। अत व्याप्ति को व्यभिचार दोष से मुक्त होना चाहिए। अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति में इस प्रकार के दोष की कल्पना निर्मूल हो जाती है। इसके अतिरिक्त व्याप्ति सम्बन्ध

एकान्तिक होना चाहिए अनेकान्तिक नही। जो लिङ्ग या धर्म अपने एक ही धर्मी मे (के साथ) पाया जाता है और जो एक साथ अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता है वह एकान्तिक होता है। एक साथ अन्य द्रव्यो मे पाया जाने वाला धम अनेकान्तिक होता है। जसे चैतन्य मात्र आ मा का धर्म है अत वह एकान्तिक है। इसके विपरीत रौक्ष्य काठिन्य आदि भाव एक साथ अनेक द्रव्यो मे पाए जाते हैं अत वे अनेकान्तिक हैं। अविनाभाव के द्वारा इस अनेकान्तिक दोष का भी निरसन होता है। अनुमान की सिद्धि मे एतद्विध निदु ष्ट याप्ति ही साधक एव उपयोगी होती है ?

व्याप्ति क भद—व्याप्ति दो प्रकार की होती है-अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति।

अ वय व्याप्ति— **अ वयेन समन्विता व्याप्ति अन्वय व्याप्ति।** अर्थात अ वय के साथ व्याप्ति का समन्वित होना अ वय व्याप्ति कहलाता है। अन्वय का अथ है सहभाव यथा —**तत्स व तत्स वमन्वय।** अर्थात एक होने पर दूसरे का होना। इसी प्रकार साधन के होने पर साध्य का होना। जसे धुआ (साधन) के होने पर अग्नि साध्य का होना। इस प्रकार जहा धुआ होता है वहाँ अग्नि होती है-वह अ वय व्याप्ति है।

व्यतिरेक व्याप्ति **व्यतिरेकेण समन्विता व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति।** अर्थात व्यतिरेक के साथ समन्वित व्याप्ति यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। अ वय स विपरीत भाव व्यतिरेक होता है। यथा तदभाव **तदभावो व्यतिरेक।** अर्थात उसके नही होने पर उसका नही होना। तात्पर्य यह है कि साध्य के अभाव मे साधन का नही होना। जसे साध्य (अग्नि) के अभाव मे साधन (धुआ) का नही होना। जहाँ अग्नि नही होती है वहा धुआ भी नही होता है।

दृष्टान्त

किसी विषय को समझाने के लिए त समान धर्मी अ य वस्तु या विषय को प्रस्तुत किया जाना दृष्टा त कहलाता है। इसे उदाहरण भी कहते हैं। अनुमान व प्रसग मे जो पाँच अवयव बतलाए गए हैं उनमे उदाहरण भी एक है। महर्षि चरक ने दृ टान्त का उ लेख चवालीस वाद मार्ग के अन्तगत किया है। दृष्टा त के विषय मे उनका म तव्य निम्न प्रकार है—

अथ दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्य यो वर्ण्य वर्णयति। यथा अग्निरुष्णो द्रवमुदक स्थिरा पृथिवी आदित्य प्रकाशक इति। यथा आदित्य प्रकाशकस्तथा सांख्यवचन प्रकाशकमिति। —चरक संहिता विमान स्थान ८/३०

अर्थात् जिसे मूर्ख और पण्डित दोनो की बुद्धि समान समान रूप से समझती है और जो वर्णन के योग्य विषय का वणन करता है वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसे अग्नि

उष्ण होती है पानी द्रव होता है, पृथ्वी स्थिर होती है, सूर्य (पदार्थों का) प्रकाशक होता है। जिस प्रकार सूर्य पदार्थों का प्रकाशक होता है उसी प्रकार शास्त्र वचन भी प्रकाशक (विषयों का प्रकाशन-स्पष्ट करने वाला) होता है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जहाँ मूर्ख और विद्वानो की बुद्धि में समता होती है अर्थात् जिस विषय को एक सामान्य या मूर्ख व्यक्ति जिस रूप या जिस प्रमाण में समझता है उसी प्रकार उसी रूप या प्रमाण मे उस विषय को पण्डित भी समझता है—वह दृष्टान्त है। ऐसे विषय का कथन या उल्लेख जो मूर्ख और पण्डित दोनो के लिए समान रूप से अवबोध गम्य होता है दृष्टान्त कहलाता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए तथा विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि दत्त ने दृष्टान्त का निरूपण निम्न प्रकार से किया है—

लौकिकानां पण्डितानां च योऽर्थोऽविवादसिद्ध स दृष्टान्तो भवति न पण्डितमात्रसिद्ध।

अर्थात् जो विषय लौकिक याने सामान्यजन और पण्डित दोनो के लिए विवाद से रहित या बिना किसी विवाद के सिद्ध हो वह दृष्टान्त होता है। ऐसा नहीं कि उसे केवल पण्डित ही समझे और साधारण जन की समझ मे नही आवे।

उपयुक्त का आशय यह है कि किसी गूढ़ या अगम्य विषय को समझाने के लिए किसी ऐसे विषय का कथन या प्रस्तुतिकरण जो लोक प्रसिद्ध सरल और सुबोध हो दृष्टान्त कहलाता है। अनुमान के प्रसंग मे साध्य अग्नि की सिद्धि के लिए साधर्म्य रूपेण 'रसोई घर' का और वैधर्म्य रूपेण जलाशय का उदाहरण (दृष्टान्त) दिया गया है।

न्याय दर्शन मे भी इसी प्रकार के भाव से संयुक्त दृष्टान्त का स्वरूप बतलाया गया है। यथा—

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त। —न्याय दर्शन १/२५

अर्थात् जिस विषय मे जन सामान्य और प्रमाण आदि के द्वारा अर्थ की परीक्षा करने वाले परीक्षक—विद्वज्जन दोनो की बुद्धि की समानता होती है वह दृष्टान्त होता है। याने जिस विषय को साधारण व्यक्ति और विद्वान् दोनों समझ सकें वह दृष्टान्त होता है।

तर्क का स्वरूप एवं महत्व

दर्शन शास्त्र के अनुचिन्तनीय विषयों पर विचार करने तथा प्रमेय विषयों को सिद्ध करने की एक ऐसी प्रक्रिया जो विचार मन्थन एवं कुशाग्र बुद्धि प्रसूत हो को तर्क कहा जाता है। अन्य विषयों की भांति तर्क एक ऐसा भाव विशेष है जो परोक्ष ज्ञान का

साधक है। अन्य दर्शनो की अपेक्षा न्याय दर्शन में तर्क को अधिक महत्व दिया गया है। न्याय दर्शन तर्क को एक कसौटी की भांति मानता है जिस पर प्रमेय को कसा जा सकता है। तर्क के विषय मे विद्वानो मे मतक्य नही होने से तर्क सम्बन्धी विवक्षा में पर्याप्त भिन्नता लक्षित होती है। फिर भी सक्षेप मे यह माना सकता है कि तर्क एक प्रकार का ऐसा अनुमान है जो अन्य सबसे भिन्न है क्योकि यह किसी प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित नही है। यह हमे परोक्ष रूप से ठीक ज्ञान की ओर ले जाता है। वात्सायन के अनुसार यह हमे निश्चयात्मक ज्ञान नही करा सकता यद्यपि यह हमे इतना बतला देता है कि एक प्रस्तुत पक्ष का विपरीत असम्भव है। उद्योतकर का तर्क है कि आत्मा के विषय मे तर्क हमे ऐसा कहने के योग्य नही बनाता कि आत्मा अनादि है अपितु केवल इतना कहने के योग्य बनाता है कि इसे ऐसा होना चाहिये। वस्तुत तर्क अपने आप मे प्रामाणिक ज्ञान का साधन नही है यद्यपि प्रकल्पनाओ के प्रस्तुत करने मे यह मूल्यवान सिद्ध होता है। इसी सन्दर्भ मे तर्क का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है —

'प्रमानग्राहकस्तर्क । — सर्वसिद्धान्तसार सग्रह ६/२५

अर्थात् तर्क प्रमा (ज्ञान) का अनुग्राहक मात्र होता है।

अन्य आचार्य व्याप्ति के ज्ञान को तर्क मानते हैं। उनके अनुसार अविनाभाव अर्थात् साध्य के अभाव मे साधन का नही होना और साधन के होने पर साध्य का होना इस नियम को सर्वोपसहार रूप से ग्रहण करना तर्क है। इसे ऊह' भी कहते हैं। यथा—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह । —परीक्षामुख ३/११

अर्थात् उपलम्भ-अनुपलम्भ निमित्तक सर्वोपसहार करने वाला व्याप्ति ज्ञान ऊह (तर्क) कहलाता है। यहां उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द से साध्य और साधन का वृहत्तर सद्भाव निश्चय और अभाव निश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्ष से हो या प्रत्यक्षेतर अन्य प्रमाण से। आचार्य अकलक देव ने प्रमाण सग्रह मे प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले सम्भावना प्रत्यय को तर्क कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द से उन्हें भी उक्त अभिप्राय इष्ट है। यथा —

सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भत। —प्रमाण सग्रह श्लोक १२

मीमासक तर्क को एक विचारात्मक व्यापार मानते हैं और उसके लिए जैमिनी सूत्र तथा शबर भाष्य आदि मे 'ऊह' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु उसे परिगणित प्रमाण सख्या मे सम्मिलित नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके मत में तर्क (ऊह) स्वय प्रमाण नहीं होकर किसी प्रमाण का मात्र सहायक हो सकता है। जैन दर्शन में अवग्रह के पश्चात् होने वाले संशय का निराकरण करके उसके एक पक्ष की प्रबल सम्भावना कराने वाला ज्ञान व्यापार 'ईहा' कहा गया है। इस ईहा में अवाय' जैसा पूर्ण

निश्चय तो नहीं है किन्तु निश्चयोन्मुखता अवश्य है। इस ईहा के पर्याय रूप में ऊह और तर्क दोनों शब्दो का प्रयोग तत्वार्थभाष्य में देखा जाता है जो कि करीब-करीब नैय्यायिकों की विचार परम्परा के समीप है। तत्वार्थाधिगम भाष्य में 'ईहा' के निम्न पर्याय दिए गए हैं—

ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा इत्यनर्थान्तरम्' —तत्वार्था भा १/१५

न्याय दर्शन में तर्क को यद्यपि १६ पदार्थों में परिगणित किया गया है किन्तु उसे प्रमाण नहीं माना गया है। वह तत्वज्ञान के लिए उपयोगी है और प्रमाणो का अनुग्राहक है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

'तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्वज्ञानाय कल्पते।

—न्याय भाष्य १/१/१

जयन्त भट्ट ने तर्क के विषय में अधिक स्पष्टता से लिखते हुए कहा है—

'एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन सम्भावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितर पक्षशैथिल्यापादने तद ग्राहकप्रमाणमनुगृह्णन् सुखं प्रवर्तयन् तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।

—न्याय मंजरी पृ ५८६

अर्थात् सामान्य रूप से ज्ञात पदार्थ में उत्पन्न परस्पर विरोधी दो पक्षो मे एक पक्ष को शिथिल बना कर दूसरे पक्ष की अनुकुल कारणों के बल पर दृढ़ सम्भावना करना तर्क का कार्य है। यह एक पक्ष की भवितव्यता को सकारण दिखा कर उस पक्ष का निश्चय करने वाले प्रमाण का अनुग्राहक होता है।

इस प्रकार तर्क प्रमाण न होते हुए भी तत्व ज्ञान कराने वाला प्रमाण का अनुग्राहक होता है।

द्वादश अध्याय

आप्तोपदेश प्रमाण निरूपण

आयुर्वेद मे महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध प्रमाणो मे आप्तोपदेश प्रमाण भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितने महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं। आप्तोपदेश का महत्व एव उपादेयता इसी से स्पष्ट है कि चरक ने चतुर्विध प्रमाणो मे सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही कथन एव प्रतिपादन किया है। जिन पदार्थों अथवा विषयो का ज्ञान प्रत्यक्ष एव अनुमान के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नही है उनके ज्ञान के लिए आप्तोपदेश प्रमाण ही सर्वाधिक उपयोगी एव आश्रय योग्य है। अत यह प्रमाण सभी प्रमाणो मे महत्वपूर्ण है।

आयुर्वेद में आप्तोपदेश का प्राथम्य—आयुर्वेद मे जहां कही भी पदार्थों के ज्ञान के लिए पदार्थों की परीक्षा के लिए अथवा रोग विशेष के ज्ञान के लिए प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हुई वहा प्रमाणोल्लेख करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही उल्लेख किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की अपेक्षा आप्तोपदेश अधिक महत्वपूर्ण एव उपयोगी है। क्योकि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा केवल उन तथ्यो का ज्ञान उपार्जित करने का प्रयत्न किया जाता है जिनका उद्घाटन प्रथमत आप्तोपदेश के द्वारा कर दिया गया है। इसीलिए महर्षि चरक ने प्रमाण गणना क्रम मे प्रथमत आप्तोपदेश का कथन किया है। यह तथ्य निम्न दो उद्धरणो से स्पष्ट है—

१ त्रिविध खलु रोगविशेषविज्ञान भवति तद्यथा-आप्तोपदेश प्रत्यक्षमनुमान चेति। —चरक सहिता विमान स्थान ४।३

२ द्विविधमेव खलु सर्व सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेश प्रत्यक्षम् अनुमान युक्तिश्चेति। —चरक सहिता विमान स्थान ११।१७

उपर्युक्त प्रमाण गणना क्रम मे आप्तोपदेश प्रमाण का कथन प्रथम ही करने से आयुर्वेद शास्त्र में उनका प्राथम्य स्वत ही स्पष्टत सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने स्वयं ही आप्तपदेश के ज्ञान की प्राथमिकता को महत्वपूर्ण निरुपित करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश के ज्ञानार्जन का निर्देश दिया है। यथा—

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञान तत प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परी-

दीयते । किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत् तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात् ।

—चरक संहिता, विमान स्थान ४।५

अर्थात् इन तीन परीक्षाओं मे सर्व प्रथम आप्तोपदेश से ही ज्ञान होता है। उसके बाद प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान होता है। यदि पहिले किसी पदार्थ का उपदेश नहीं किया जाये तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा किसकी परीक्षा की जायगी ? इसलिए ज्ञान सम्पन्न (उपदेश प्राप्त) वैद्य के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार की परीक्षाए हैं। अथवा आप्तोपदेश सहित तीन परीक्षाएं।

इससे यह स्पष्ट है कि आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों में प्रथम आप्तोपदेश ही महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद में तो आप्तोपदेश की प्राथमिकता और भी अधिक महत्वपूर्ण एव उपयोगी है। क्योंकि आयुर्वेद का अध्ययन करने का इच्छुक छात्र जब आयुर्वेद जगत् मे प्रवेश करता है तो उसे सर्वप्रथम उपदेश के द्वारा ही आयुर्वेद के सिद्धान्तो को समझाया जाता है। तत्पश्चात् आयुर्वेदाध्ययन में रत हो जाने पर गुरू ही उसे सर्व प्रथम रोगो के निदान-लक्षण आदि का उपदेश करते हैं। उसके बाद ही विद्यार्थी प्रत्यक्ष और अनुमान से उन्हें स्वय जानने का प्रयत्न करता है। प्रथमत यदि आप्तोपदेश न हो तो जैसे जिसने दूसरो (आप्त) के द्वारा रत्नो की परीक्षा सीखी ही नहीं है, उसके समक्ष विभिन्न रत्न रख दिए जाने पर वह उनमें भिन्नत्व को देखता हुआ भी उन्हे पहचानने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसी भांति जिसने गुरु मुख से निदानादि को नहीं जाना है वह रोगो के कारण लक्षण आदि को देखता हुआ भी रोग आदि का निर्णय नहीं कर सकता। अत प्रमाणों में आप्तोपदेश सर्व प्रथम एवं सर्वोपरि है।

आप्तोपदेश का लक्षण एवं आप्त का स्वरूप

आप्तोपदेश का सामान्य अर्थ होता है आप्त पुरुषों का उपदेश अथवा आप्त-वचन। जो उपदेश हमारे ऋषि महर्षियो ने जन कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर प्राणियों के ज्ञान संवर्धनार्थ दिए हैं वे उपदेश-वाक्य हमारे पूर्वाचार्यों के द्वारा विभिन्न शास्त्रों में लिपिबद्ध करके संकलित किए गए हैं। अत वेद वाक्य पुराण उपनिषद स्मृतिग्रन्थ धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र आयुर्वेद शास्त्र आदि में आप्त पुरुष महर्षियो का जो उपदेश उपलब्ध होता है वही आप्तोपदेश कहलाता है। महर्षि चरक आप्तोपदेश के विषय में लिखते हैं—

"आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्यु-पतापदर्शिनश्च । तेषामेवं गुणयोगाद्यद्वचनं तत्प्रमाणम् । अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्त-दुष्टवचनमिति ।"

—चरक संहिता, विमान स्थान ४।४

अर्थात् आप्त के वचनों को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्त पुरुष तर्क से रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले स्मरण शक्ति सम्पन्न तथा कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति और उपताप अर्थात् राग और द्वेष से रहित होते हैं इस प्रकार के व्यक्तियो को आप्त माना जाता है। इसके विपरीत मत्त मतवाले (मद्य आदि पीने से पागल) या मूर्ख वक्ता का वचन चाहे वह दृष्ट हो अथवा अदृष्ट अर्थात् ऐहिक (इस लोक सम्बन्धी) और आमुष्मिक (परलोक सम्बन्धी) विषयो के वचनो को उन्मत्त (उन्माद रोगों से आक्रान्त-अप्रमाण) माना जाता है।

आप्त पुरुष के विषय मे महर्षि चरक ने बडी विशदता से लिखते हुए आप्त पुरुष का अत्यन्त समीचीन लक्षण प्रतिपादित किया है। यथा—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

—चरक संहिता सूत्र स्थान ११/१८ १९

अर्थ—अपनी तपस्या एव ज्ञान के बल से जो रज और तम इन दोनो दोषो से मुक्त हो गए हैं जिन को सदा भूत भविष्य-वर्तमान इन तीनो कालो का ज्ञान निर्बाध रूप से होता रहता है और जिनकी ज्ञान शक्ति कभी नही रुकती ऐसे व्यक्तियो को आप्त शिष्ट और विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आप्त पुरुषो के वचन या उपदेश सदेह रहित (सत्य) होते हैं। वे आप्त पुरुष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य बोलते हैं। रज और तम से शून्य होने के कारण वे असत्य बोलेंगे ही क्यो?

इस प्रकार आप्त का लक्षण और उनके उपदेशो को सत्य बता कर अप्तोपदेश प्रमाण का स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही आप्त के दूसरे नाम शिष्ट तथा विबुद्ध भी बतलाए गए हैं। अप्तोपदेश से सभी स्मृति शास्त्र धर्मशास्त्र पुराणग्रन्थ एव वेद वाक्यो का ग्रहण होता है। इनके उपदेष्टा या रचयिता कभी भी असत्य भाषण नहीं करते थे। क्योकि उन्हे न किसी से राग था न द्वेष। जब आप्त पुरुषो का सत्य बोलना सिद्ध हो जाता है तब आप्त वचन प्रमाण माना ही जाता है।

आप्त पुरुष के विषय में वात्स्यायन ने निम्न व्याख्या प्रस्तुत की है— (१) आप्ता खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा" तथा 'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्तते इत्याप्तः। अर्थात् आप्त पुरुष विषयों का साक्षात्कार करने वाले एवं यथादृष्ट विषय को बतलाने की इच्छा से उपदेश देने वाले होते हैं। तथा "विषयों के साक्षात्कार करने का नाम आप्ति है और उस आप्ति के द्वारा जो

कर्म करने में प्रवृत्त होता है उसे 'आप्त' कहते हैं। (२) शिष्टाः—'तपोज्ञानबलेन कार्या-कार्ये हिताहिते नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशेन शिष्टोऽर्थान् अनुशासति यथार्थं शासन-कर्तारः शिष्टाः तथा प्रवर्तन्ते ये ते शिष्टाः। अर्थात् अपनी तपस्या, ज्ञान और शक्ति के बल से कार्य-अकार्य हित-अहित नित्य अनित्य इनमें क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश के द्वारा जो अर्थों (विषयों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शिष्ट कहते हैं। (३) विबुद्धाः—'विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुद्धाः। —अर्थात् बुद्धि के द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष ज्ञान कर जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे विबुद्ध कहते हैं।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त प्रकार से 'आप्त' की जो विवेचना की है उसे उनके परवर्ती आचार्यों ने और अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

अवितर्केण वितर्कं ऊहापोहात्मकं वितर्कं विना सर्वदाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां सर्वेषामेव भावानां तत्त्वेन स्मृत्या विभाग सदसद् रूपत्वं वदन्ति ये ते अवितर्कस्मृतिविभागविद आप्ताः। प्रीत्युपतापाभ्यां निर्मुक्ता निष्प्रीत्युपतापाः। ये बुद्धे शीलवन्तस्तेऽत्याप्ताः।

—गंगाधर

अर्थात वितर्क ऊहापोहात्मक होता है जो वितर्क से रहित होकर सदैव अविच्छिन्न ज्ञान से तीनों कालों (वर्तमान-भूत भविष्य) में समस्त भावों के विभाग के पाने सद्रूपत्व एवं असद् रूपत्व को तत्व एवं स्मृति से कहते (जानते) हैं वे आप्त होते हैं। जो प्रीति और उपताप (राग-द्वेष) से रहित होते हैं तथा विश्व को देखने के लिए शीलवान् होते हैं वे आप्त कहलाते हैं।

आप्ता हि अवितर्क यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभाग विप्रत्यय-वादानुवाद-वचन रूप विदन्ति ये ते तथोक्ताः। न स्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तद् तथा बुद्धभूतानि शीलमेषां ते आप्ताः।

—चरकोपस्कार

अर्थात् आप्त वितर्क से रहित होते हैं तथा स्मृतियों-शास्त्रों के विप्रत्यय—वादानुवाद-वचन रूप विभाग को जैसा है उसी रूप में जानते हैं। जिनको प्रीति और उपताप (राग-द्वेष) नहीं है तथा जगत् के प्राणियों को देखने के लिए जिनका शील है वे आप्त होते हैं।

अन्य शास्त्रों में भी आप्त-वाक्य प्रमाण माना गया है। अतः वहाँ पर आप्त का जो लक्षण कहा गया है और उसकी जो व्याख्या की गई है वह महर्षि चरक की उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न नहीं है। यथा

'आप्तस्तु यथार्थवक्ता।' —तर्क संग्रह

अर्थात् आप्त पुरुष यथार्थ वक्ता होते हैं।

"[illegible]।" —आचार्य [illegible]

अर्थात् विभिन्न तत्वो के अर्थ को जानने वाले आप्त होते हैं।

'यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवति। —चक्रपाणि

अर्थात् वस्तुओं के यथार्थ (सही) स्वरूप को देखने वाला और निर्दोष (रज तम दोष से रहित) आप्त होता है।

आप्ति रजस्तमोरूपदोषक्षय तद् युक्ता आप्त ।

अर्थात् रज और तमो रूप दोष का क्षय होना आप्ति कहलाता है, उस आप्ति से युक्त जो होता है वह आप्त होता है।

स्वकर्मण्यभियुक्तो य रागद्वेषविवर्जित ।
निर्वैर पूजित सद्भिराप्तो ज्ञेय स तादृश ॥

अर्थात् जो अपने कर्म मे लगे हुए हैं राग और द्वेष से रहित हैं जो वैर (शत्रुता) भाव से रहित हैं और सत्पुरुषो के द्वारा जो सदैव पूजित होते हैं ऐसे पुरुष को आप्त समझना चाहिये।

आप्तश्रुति आप्तवचन तु। —साख्य कारिका

आप्ता चासौ श्रुति आप्तश्रुति वेदतन्मूलकस्मृतीतिहासपुराणादिज्ञानम। यद्वा श्रूयते या सा श्रुति श्रवणविषयीभूत शब्द आप्ता यथार्था श्रुति आप्तश्रुति आप्तवचनम ॥ (कृष्णमणि कृत सस्कृत टीका)

अर्थात आप्त की श्रुति (शब्द) को आप्त वचन कहते हैं। आप्त और श्रुति मिलकर आप्त श्रुति कहलाती है। वेद तन्मूलक स्मृति इतिहास पुराण आदि मे निहित ज्ञान ही आप्त श्रुति होती है। अथवा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय भूत शब्द जो सुना जाता है उसे श्रुति कहते हैं। आप्त की जो यथार्थ श्रुति (शब्द) है वह आप्त श्रुति होती है उसे ही आप्त वचन कहते हैं।

आप्तस्तु यथार्थवक्ता। यो यत्राविसवादक स तत्राप्त । इदं च व्यवहारापेक्षया आप्तलक्षणम आगमभाषया तु आप्त प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशको निरुप्यते। परमहित तु निश्रेयस तदुपदेश एव अर्हत प्राधान्येन प्रवृत्त। तस्यैव केवलज्ञानप्रमितसकलार्थस्य सति परमहितोपदेशकत्वादाप्तत्वम। —जैन दर्शन सार

अर्थात् आप्त यथार्थ विषय का बोलने वाला होता है। जो जिस विषय मे अविसवादक है वह उस विषय मे आप्त है। आप्त का यह लक्षण व्यवहार की अपेक्षा से है। आगमिक भाषा मे तो प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर अर्थात सर्वज्ञ हो जाने पर जो परम हित (आत्म कल्याण) का उपदेष्टा होता है वह आप्त कहलाता है। परम हित मोक्ष को कहते हैं और उसके उपदेश में प्रधानत अर्हत्

की ही प्रवृत्ति होती है। उस अर्हन्त के ही केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष होने पर परम हितोपदेशक होने से आप्तत्व (आप्तपना) है।

इस प्रकार दर्शन शास्त्र में विभिन्न आचार्यों के द्वारा आप्त का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह समान अभिप्राय का द्योतक है। ऐसे आप्त के द्वारा कहे गए वाक्य यथार्थ पर आधारित होने के कारण प्रमाण माने गए हैं। अत आप्तवाक्य या आप्तोपदेश को प्रमाण माना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आप्त पुरुषों के वचन संशय विपर्यय एवं अयुक्ति पूर्ण तर्क आदि मिथ्या ज्ञान से रहित होते हैं। वे ससार से विरक्त रहते हैं और ससार से उन्हें कोई मोह ममता राग-द्वेष आदि भाव या क्रोध-मान-माया लोभ आदि कषाय नहीं होने से वे कभी असत्य वचन नही बोलते। उनका उपदेश जन सामान्य के लिए हितकारी होता है। उनके वचन कल्याणकारी एव सत्य होने के कारण प्रामाणिक अर्थात् प्रमाण स्वरूप माने जाते हैं। आप्तपुरुष अपनी योग साधना तपस्या एव सात्विक विशुद्ध आचरण के द्वारा एक विशेष प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान अपने आपमे परिपूर्ण, दोषों से रहित अव्याहत बाधा रहित एव आत्मा को आलोकित करने वाला होता है। उस अखण्ड एवं अव्याहत ज्ञान के द्वारा वे ससार मे तीनों काल मे होने वाली समस्त बातों का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से कर लेते हैं। इसी ज्ञान के द्वारा वे संसार के गूढतम रहस्यो का भी पता लगा लेते हैं। उनका यह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान कहलाता है। ऐसे विलक्षण ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषों के वचनो या उपदेशो को जिस रूप मे सकलित किया गया है वे वेदवाक्य उपनिषद पुराण धर्मशास्त्र स्मृति ग्रन्थ संहिता ग्रन्थ कहलाते हैं। जिन ग्रन्थो मे आप्त पुरुषो के वचनो को अथवा उपदेशों को संकलित करके लिपिबद्ध किया गया है उन्हीं ग्रन्थो को आज आप्तोपदेश या आप्त वाक्य कहा जाता है। आध्यात्मिक समस्याओ के समाधान के लिए प्रमाण के रूप मे इन्हीं ग्रन्थो एव शास्त्रो के वचनो को उद्धृत किया जाता है। क्योंकि ये ही प्रामाणिक माने जाते हैं।

आगम प्रमाण

अनेक दार्शनिको ने आप्तोपदेशात्मक होने के कारण आगम को प्रमाण माना है। आप्त पुरुषों के द्वारा जो उपदेश दिया गया है तथा उनके द्वारा अपने ज्ञान बल के आधार पर ससार के विविध विषयों का प्रतिपादन करते हुए तथ्यों की यथार्थ विवेचना स्वरूप जो कथन किया गया है उसे विभिन्न ग्रन्थो या शास्त्रों मे निबद्ध किया गया है। आप्त पुरुषो के उन वचनों का निरूपण होने के कारण उन शास्त्रों को आगम कहा जाता है और आप्तोपदेश की भांति उसे भी प्रमाण माना जाता है।

आगम के विषय में विभिन्न आचार्यों शास्त्रकारों ने लगभग एक जैसा मत व्यक्त किया है। उनके मत निम्न प्रकार हैं—

"आगमयति बोधयति सूक्ष्मविप्रकृष्टानर्थानित्यागम । —चक्रपाणिदत्त

जो सूक्ष्म और विप्रकृष्ट विषयो का ज्ञान कराता है वह आगम कहलाता है।

अनेन आप्तवचन निर्दोष वाक्य लक्ष्यते।
निर्दोषता च वदस्यापौरुषेयत्वाच्च ॥ —चक्रपाणिदत्त

इससे आप्त-वचन निर्दोष वाक्य प्रतीत होते हैं और वेद की निर्दोषता अपौरुषेयत्व के कारण है।

आप्तवचन वदादिकमिह वक्ष्यते। —गगाधर

यहाँ आप्त वचन से वेद आदि कहे जाते हैं।

आगमो वद आप्तानां शास्त्र वा। —ड ह्‌ण

आप्त पुरुषो का ज्ञान शास्त्र मे निबद्ध है वही आगम है।

सिद्ध सिद्ध प्रमाणैस्तु हित चात्र परत्र च।
आगम शास्त्रमाप्तानाम ॥ —डल्हण

जो सिद्ध प्रमाणो से सिद्ध (प्रमाणित) है तथा इहलोक एव परलोक दोनो मे हितकर है ऐसा आप्तो का शास्त्र (जिसमे आप्त पुरुषो के वचन निबद्ध हैं ऐसा शास्त्र) आगम कहलाता है।

'आप्तवाक्यादि निब धनमथज्ञानमागम ।

आप्त के शब्द को सुनकर या हस्त सकेत आदि को देखकर या ग्रंथ की लिपि आदि पढ़ने से जो पदार्थों का ज्ञान होता है वह आगम कहलाता है।

इस प्रकार आगम के उपर्युक्त लक्षणो से स्पष्ट है कि उनमे उल्लिखित या प्रतिपादित बात सत्य होती है। अस त्य एव अनगल प्रलाप पूण बातो से वे शून्य या रहित होते हैं। अत वे मननीय होते हैं। उनमें आप्तजनो के वचन सकलित होने के कारण वे यथाथ का प्रतिपादन करते हैं। अत जिस प्रकार आप्तजन पूज्य होते हैं उसी प्रकार उनके वचनो का सकलन करने वाले आगम भी पूज्यनीय एवं श्रद्धास्पद होते हैं। यही कारण है कि कतिपय दर्शनो द्वारा आप्तवत् आगम को भी प्रमाण माना गया है।

शास्त्र का लक्षण

विभिन्न विषयों का अध्ययन जिन ग्रंथों के आधार पर किया जाता है वह शास्त्र कहलाता है। अध्ययन के योग्य अनेक विषय होते हैं। उन विषयो का क्रमबद्ध ज्ञान जिन ग्रंथों मे निबद्ध किया गया है तथा विस्तार पूर्वक उन विषयो का

विवेचन एवं प्रतिपादन जिन ग्रंथों में किया गया है, जिन्हें गुरुजन पठनीय एवं शिष्यों को अध्यापन योग्य समझते हैं उन्हें शास्त्र कहा जाता है। शास्त्रों का अध्ययन करने से अध्येता विषय में ज्ञान की अभिवृद्धि होती है और उसे उस विषय में निपुणता प्राप्त होती है। शास्त्र ज्ञान के भण्डार एवं ज्ञान के अजस्र स्रोत होते हैं। उनका जितना अधिक मंथन किया जाय उतनी ही अधिक ज्ञान राशि मंथन कर्ता को प्राप्त होती है।

प्राचीन काल में विभिन्न विषयों को अधिकृत कर अनेक शास्त्रो की रचना की गई थी। सुविधा की दृष्टि से उन्हें १८ भागो मे विभाजित किया गया था। यथा—१ शिक्षा २ कल्प ३ व्याकरण ४ निरुक्त ५ ज्योतिष ६ छन्द ७ ऋग्वेद ८ यजुर्वेद ९ सामवेद १ अथर्ववेद ११ मीमांसा १२ न्याय १३ धर्मशास्त्र १४ पुराण १५ आयुर्वेद १६ धनुर्वेद १७ गन्धर्ववेद और १८ अर्थशास्त्र।

वतमान मे यद्यपि इनमे से अनेक विषयो की उपेक्षा हो रही है और अनेक विषयों की शिक्षा का विस्तार हुआ है। क्या उन्हें भी शास्त्र की कोटि में लाया या रखा जा सकता है? यह विवाद का विषय हो सकता है। किन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन काल मे जिन विषयो को अधिकृत कर अगाध ज्ञान राशि का सचय एवं प्रतिपादन किया गया है वह उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। जिन शास्त्रो में विविध विषयो के ज्ञान का सचय किया गया है ऐसे शास्त्र की प्रामाणिकता एव उपयोगिता दर्शाने की दृष्टि से उनकी परीक्षा की जानी चाहिये। अत शास्त्र का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि चरक ने शास्त्र का निम्न लक्षण बतलाया है—

'तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविध शिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतित-शब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं संगतार्थमसंकुलप्रक-रणमाशु प्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधम-मल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् —चरक संहिता विमान स्थान ८/३

अर्थात् जो शास्त्र सुविस्तृत हो यशस्वी एव धीर पुरुषो के द्वारा सेवित हो याने जिसे यशस्वी और धीर पुरुष पढ़ते हों। जो अर्थ की बहुलता से युक्त हो जो अल्पकाल में ही विषय का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला हो जो आप्तजनों के द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाने वाला हो, तीनों ही प्रकार के शिष्यों (प्रतिभाशाली या कुशाग्र बुद्धि, मध्यम या सामान्य बुद्धि तथा हीन या मन्द बुद्धि वाले) के लिए हितकारी हो, पुनरुक्ति दोष से रहित हो, जो आर्ष (ऋषि) प्रणीत हो तथा जिसमें सम्यक्तया प्रणीत सूत्र एवं भाष्य का संग्रह क्रमानुसार किया गया हो, जो सुदृढ़ आधार युक्त हो, जो

अशिष्ट अश्लील-अनर्गल शब्दो से रहित कष्टकारी (जिनका उच्चारण करने में कठिनाई होती है ऐसे) शब्दो से रहित हो (अर्थात् सुबोध एवं सुवाच्य शब्दो से युक्त हो), जिसमे बहुत कुछ प्रतिपादित किया गया हो क्रमागत अर्थ से युक्त हो अर्थ तत्व का निश्चय कराने मे जो प्रधान हो (अर्थात जिसके अध्ययन से अथ (विषय) के तत्व का निश्चयात्मक ज्ञान होता हो) जो सङ्गत अर्थ से युक्त हो प्रकरण की सकुलता (गड़बड़ी या अव्यवस्थितता) नही हो जो शीघ्र समझ मे आ जाय और जो लक्षण युक्त व उदाहरण युक्त हो—ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार का निमल शास्त्र उसी प्रकार समस्त विषयो का प्रकाशन करता है जिस प्रकार निमल सूय अधकार का नाश कर समस्त पदार्थों को प्रकाशमान करता है।

इस प्रकार यह शास्त्र का लक्षण बतलाया गया है। इस प्रकार का शास्त्र ही ग्राह्य एव पठनीय होता है। ऐसा शास्त्र अज्ञान का नाश करता है और बुद्धि को परिमार्जित कर उसे ज्ञान सम्पन्न बनाता है।

एतिह्य प्रमाण

पौराणिक लोग स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार यह प्रमाण किसी अन्य प्रमाण मे समाविष्ट नही किया जा सकता। किन्तु प्राय सभी दशनकारो ने एतिह्य प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से न मानकर आप्तोपदेश मे ही इसका समावेश का कर लिया है। क्योकि आप्तोपदेश के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है उसी का प्रतिपादन एतिह्य प्रमाण द्वारा किया जाता है। एतिह्य शब्द का शाब्दिक अर्थ भी आप्तोपदेश से मिलता हुआ है। एतिह्य शब्द का विश्लेषण करने पर इसमें तीन शब्दो का सामूहिक रूप दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश शब्द का विश्लेषण करने पर उसमे दो शब्दो का सामूहिक रूप परिलक्षित होता है। जैसे एतिह्य शब्द की निष्पति के लिए इति+ह+ऊचु अर्थात् ऐसा निश्चय पूवक कहा गया है।

इसी प्रकार आप्तोपदेश मे आप्त+उपदेश' अर्थात् आप्त पुरुषो के जन कल्याणकारी सत्य वचन। इस प्रकार एतिह्य और आप्तोपदेश समानार्थवाची शब्द हैं। पौराणिक लोगो के अनुसार एतिह्य के अन्तर्गत दो प्रकार के वचन होते हैं—

१—एक तो वे वचन जो प्राचीन ऋषि महर्षियो ने स्वानुभूत सत्य ज्ञान के आधार जन सामान्य को उपदेश रूप में प्रदान किए। महर्षियों के दिव्यानुभूत स्वरूप उस उपदेशात्मक ज्ञान को लिपिबद्ध कर लेने के कारण वह ज्ञान आज हमारे समक्ष शास्त्र या ग्रथो के रूप मे विद्यमान है। लिखित रूप मे होने के कारण इसे प्रमाण माना जाता है। कुछ दर्शन ऐतिह्य को इसी आधार पर आप्तवचन या आप्तोपदेश

कहते हैं। क्योंकि केवल उन्हीं महापुरुषों या सत् पुरुषों के वाक्यों को प्रमाण माना जा सकता है जो विभिन्न विकार (क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय) एवं राग-द्वेष आदि भावों से रहित होकर जन कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से आप्तोपदेश और एतिह्य में कोई अन्तर नहीं है।

२—एतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत दूसरे प्रकार के वे वचन आते हैं जो वंश परम्परा वशानुक्रम अथवा रूढ़ि परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार एतिह्य स्वयं एक पराम्परा है। हमारी बहुत सी धारणाए आज अतीत कालीन परम्परा एव अन्ध विश्वासो पर आधारित हैं। पौराणिक लोग परम्परा पर आधारित एतिह्य को ज्ञान का कारण मानते हुए उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु इन परम्पराओं अन्ध विश्वासों रूढ़िगत धारणाओ एव अप्रामाणिक वचनो पर आधारित इस प्रकार के एतिह्य को प्रमाण नही माना जा सकता। क्योंकि ऐसे वचनों की प्रामाणिकता सदिग्ध होने के कारण वे रूढ़ि परम्परागत वचन ग्राह्य नही होते हैं।

वस्तुत एतिह्य के अन्तर्गत वश परम्परा वशानुक्रम रूढ़ि परम्परा अथवा भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं पर आधारित एव अतीत काल से चली आ रही बातों का समावेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनकी सत्यता एवं प्रामाणिकता सदिग्ध होने के कारण वे वचन मिथ्या भी हो सकते हैं। अत एतिह्य प्रमाण के द्वारा आप्त पुरुषों के वचनो का ग्रहण करना ही अधिक समीचीन है। आयुर्वेद में एतिह्य से आप्तोपदेश वेद आदि का ग्रहण किया गया है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

'एतिह्य नामाप्तोपदेशो वेदादि। —चरक संहिता, विमानस्थान ८/३४

नैयायिकों के मतानुसार एतिह्य को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित नहीं है। क्योंकि इसमें रूढ़ि परम्परा एव भ्रान्ति पूर्ण धारणा पर आधारित शब्दो का समावेश रहता है। अत एतिह्य एक प्रकार का शब्द है और इस प्रकार का शब्द प्रमाण नहीं है। इस दृष्टि से एतिह्य भी प्रमाण नही है।

निघण्टु

निघण्टु शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा है। वर्तमान में यद्यपि निघण्ट शब्द वनौषधियों के पर्याय एवं गुण कर्म बतलाने वाले शास्त्र के अर्थ में रूढ़ हो गया है, किन्तु वैदिक काल में और तत्पश्चात् भी वेद मन्त्रों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उन शब्दो के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तदर्थ वाची अन्य शब्दों का संग्रह जिस शास्त्र में किया गया है वह निघण्टु कहलाता है। जिस प्रकार वर्तमान में विभिन्न प्रकार के शब्द कोश प्रचलित हैं उसी

प्रकार प्रचीन काल में वैदिक शब्दो के पर्यायवाची शब्दों को संग्रहीत करने वाले उन शब्दों की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने वाले एव उन शब्दों के विविध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निघण्टु संज्ञा से व्यवहृत किया जाता था। इसके अतिरिक्त चू कि वेद मन्त्रो मे प्रयुक्त शब्द दुरूह होते हैं अत उन शब्दो का अर्थज्ञान कराने की दृष्टि से महर्षि यास्क के द्वारा मन्त्रों की व्याख्या समझाने के लिए निरुक्त की रचना की गई। उस निरुक्त मे निघण्ट शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—

ॐ समाम्नाय समाम्नात। स व्याख्यातव्य। तमिमं समाम्नाय निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टव कस्मात ? निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यव।

अर्थात वैदिक शब्दो के समुदाय को समाम्नाय याने समाम्नात कहते हैं। जिनका सम्यकतया मर्यादा पूर्वक ज्ञानार्जन किया जाता है उस समाम्नाय की व्याख्या की जानी चाहिये। इसी समाम्नाय को निघण्ट कहते हैं। इन्हे निघण्ट क्यो कहते हैं ? क्योंकि वे निगम होते है अर्थात् निश्चय पूवक शब्दों के गूढ़ अर्थों का ज्ञान कराने वाले होते हैं। वे छन्दो से ग्रहण किये गए शब्द समुदाय निश्चय पूवक अर्थावबोध कराने वाले होने से निगन्तु हैं और निगमन याने निष्कर्षात्मिक अर्थ का ज्ञान कराने से निघण्ट कहलाते हैं ऐसा औपमन्यव कहते हैं।

महर्षि यास्ककृत निघण्ट शब्द की उपयुक्त व्याख्या अत्यन्त समीचीन मानी जाती है। तदनुसार निघण्ट में वैदिक शब्दो का उनके पर्याय व्याख्या एवं अर्थ सहित संकलन कर उनका विवेचन किया जाता था। निघण्ट शब्द की उपयुक्त व्याख्या को निम्न प्रकार से और अधिक स्पष्ट किया गया है—

अत इत्येवमथ निगमयितृत्वान्निगन्तव ऐते सम्पन्ना सन्तोऽपि परोक्षवृत्तिना शब्देन गकार स्थाने घकार मत्वा तकार स्थाने टकार कृत्वा वर्ण व्यापत्याविलक्षणम।

अर्थात् इस प्रकार से अर्थ का ज्ञान कराने वाला होने से ये निगन्तु सम्पन्न होते हुए भी परोक्ष वृत्ति वाले शब्द से गकार के स्थान पर घकार को मानकर और तकार के स्थान पर टकार को करके (निगन्तु-निघण्टु) शब्द का निर्माण होता है।

इसी प्रकार एक अन्य व्याख्या के अनुसार निघण्टु गूढार्थ का बोध कराने वाले होते हैं। यथा—

"तमिमं समाम्नाय निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टवेनार्थिके वा गूढार्थाः एव परिज्ञाता सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति ज्ञापयन्ति ततो निघम संज्ञा निघण्टव एव इमे भवन्ति।"

अर्थात् इस समाम्नाय (वैदिक शब्दो के समुदाय) को निघण्टु कहा जाता है। इसके द्वारा निश्चय पूर्वक अत्यधिक गूढार्थ का भी परिज्ञान होता है अत जो मंत्रों के अर्थों को बतलाते हैं वे निगम संज्ञा वाले निघण्टु ही होते हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य (वेदों) में उल्लिखित मंत्रो के अर्थ को स्पष्ट करने वाले साहित्य या ग्रंथ को निघण्ट संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि निघण्ट एक प्रकार के शब्द कोष हैं जो शब्दो के अर्थ की विवेचना करते हैं और पर्यायों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। इन्हीं की विशद व्याख्या निरुक्त है जो छह वेदाङ्गो मे अन्यतम है।

उपर्युक्त प्रकार से पर्यायो के माध्यम से द्रव्यो के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी देने की परम्परा आगे भी चलती रही। शनै शनै निघण्ट शब्द आथर्वण सम्प्रदाय के औषधियो के गुण धर्म सम्बन्धी विवरण को बतलाने वाला माना जाने लगा और इस (द्रव्य गुण) शास्त्र का नाम निघण्ट पड गया तथा कालान्तर मे इसी अर्थ में रूढ हो गया। अत परवर्ती आचार्यों ने औषधियो के पर्याय एव गुण धर्म की विवेचना करने वाले जिन ग्रथो की रचना की उनका नामकरण करते समय निघण्ट शब्द को जोड़ दिया। जैसे राजनिघण्ट धन्वन्तरि निघण्टु, मदनपाल निघण्टु आदि। इस प्रकार वर्तमान मे आयुर्वे मे निघण्टु शब्द से औषधि गुण धर्म का विवेचन करने वाला शास्त्र जिसे आज कल द्रव्यगुण विज्ञान कहा जाता है का बोध होता है।

शब्द प्रमाण

कुछ दार्शनिक विद्वान् आप्तोपदेश अथवा एतिह्य के स्थान पर शब्द को प्रमाण मानते हैं। शास्त्र-पुराण आदि के यथार्थ वचनो का समावेश न तो प्रत्यक्ष में किया जा सकता है न अनुमान मे और न ही किसी अन्य प्रमाण में। अत शब्द एक पृथक् प्रमाण है और स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अस्तित्व है। इस तथ्य के आधार पर न्याय दर्शन मे शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। किन्तु सभी प्रकार के शब्द यथार्थ ज्ञान कराने मे कारण नहीं होते। अत सभी प्रकार के शब्दो को प्रमाण नहीं माना जा सकता। न्याय सूत्र के अनुसार वे शब्द ही ग्राह्य एव प्रमाण हैं जो आप्त पुरुषों के वाक्य या आप्तोपदेश रूप में होते हैं। यथा 'आप्तोपदेश शब्द:'-न्याय सूत्र। इस दृष्टि से अन्य आचार्यों के द्वारा स्वीकृत आप्तोपदेश प्रमाण एवं न्याय दर्शनोक्त शब्द प्रमाण में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। न्याय शास्त्र के अनुसार सत्य वचन का प्रतिपादन करने वाले आप्त पुरुषों ने अपने प्रत्यक्ष के आधार पर जो यथार्थ ज्ञान उपलब्ध किया उसे उन्होंने जन सामान्य के कल्याण के लिए उपदेश रूप में प्रसारित किया।

अत उन्हीं के वाक्य या शब्द प्रमाणान्तगत समाविष्ट हैं। क्योंकि 'आप्तस्तु खलु यथार्थ-वक्ता' अर्थात् यथार्थ बोलने वाला ही आप्त होता है और उसी का वचन प्रामाणिक होता है। इसका विशेष विवेचन आप्तोपदेश के प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है।

शब्द के भेद—शब्द सामान्यत तीन प्रकार के होते हैं। यथा-लौकिक शब्द वैदिक शब्द और साधारण शब्द। इनमे लौकिक शब्द वे होते हैं जो लौकिक पुरुषो के द्वारा उच्चारित किए जाते हैं। यथार्थ वक्ता पुरुषो के वचन ही लौकिक शब्द कहे जाते हैं। अत आप्त पुरुष महापुरुषो एव सत पुरुष के वाक्य ही लौकिक शब्द मे समाविष्ट हैं। दूसरे प्रकार के वैदिक शब्द वे होते हैं जिनका उल्लेख केवल वेदो में किया गया है। अत वेद वाक्य ही वदिक शब्द कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के शब्द वे होते हैं जो साधारण व्यक्तियो के द्वारा अपने दैनिक व्यवहार मे प्रयोग किए जाते हैं। जन सामान्य इन शब्दो का व्यवहार करने का अधिकारी है। इन तीन प्रकार के शब्दो मे न्याय दशन प्रारम्भिक दो शब्दो को ही प्रमाण मानता है। आप्त वाक्य एव वेद वाक्य इन दोनो प्रकार के शब्दो मे यथार्थ प्रतिपादन होने से ये प्रमाण हैं।

शब्द को प्रमाण मानने वाले दशनो में यद्यपि न्याय दर्शन प्रमुख है। इसके अतिरिक्त साख्य दशन योग दशन मीमासा दशन एव वेदान्त दशन इन सभी ने इसका समथन किया है किन्तु वे इस विषय में न्याय दर्शन से कुछ मत भिन्नता रखते हैं। अर्थात् उपयुक्त चार दर्शन केवल वैदिक शब्द को ही प्रमाण मानते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार वेद अनादि और अपौरुषय हैं। उनकी रचना किसी पुरुष विशेष के द्वारा नही की गई अपितु वे ईश्वरकृत एव स्वय प्रकाशित ज्ञान रूप हैं।

तक सग्रह के अनुसार शब्द

आप्तवाक्य शब्द। आप्तस्तु यथाथवक्ता। वाक्य पदसमूह यथा गामानयेति। शक्त पदम। अस्मात पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वर सकेत शक्ति। —तर्क सग्रह

अर्थात् आप्त पुरुषो के द्वारा कहे गए वाक्य को शब्द कहते हैं। यथार्थ बोलने वाले को आप्त कहते हैं। पदो का समूह वाक्य होता है। पद शक्ति से सम्पन्न या समथ होते हैं। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए—यह शक्ति होती है जो ईश्वर के संकेत (इच्छा) पर निभर है। अथवा ईश्वर सकेत रूप जो शक्ति होती है वही पद के अर्थ का बोध (ज्ञान) कराती है।

आचार्य चक्रपाणि दत्त आप्तोपदेश के रूप में व्यक्त शब्द को दो प्रकार का मानते हैं। यथा—**आप्तोपदेश शब्दस्तु द्विविध—परमाप्तमहर्षिप्रणीतस्तथा लौकिकाप्तप्रणीतश्च ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽभिमत लौकिकाप्तप्रणीतश्च शब्दो-पेतरूप सत्यप्रकार—विहितो ज्ञेय।**

अर्थात् आप्तोपदेश शब्द दो प्रकार का होता है-परमाप्त ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणीत और लौकिक आप्त के द्वारा प्रणीत। ऐतिह्य शब्द से परम आप्त के द्वारा प्रणीत समझना चाहिए और लौकिक आप्त के द्वारा प्रणीत को शब्द के एक देश रूप सत्य का प्रकार समझना चाहिए।

१ परमाप्तब्रह्मादि प्रणीत—ब्रह्मा आदि परम आप्त होते हैं। वे अलौकिक होते हैं। उनके द्वारा कहे गए वाक्य सत्य रूप होते हैं। अत उनके द्वारा प्रणीत या उनके वाक्य जिसमे सकलित हैं ऐसे वेद आदि।

२ लौकिकाप्त प्रणीत—लौकिक आप्त वे होते हैं जो महर्षि चरकोक्त रजस्तमोभ्या निर्मुक्ता इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित हैं। इनमें महर्षि आदि आते हैं। चरक संहिता सुश्रुत संहिता आदि लौकिकाप्त के द्वारा प्रणीत समझना चाहिए।

इस प्रकार आप्तोपदेश दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है।

चरकोक्त शब्द का लक्षण एव भेद

महर्षि चरक ने शब्द का लक्षण एवं भेद निम्न प्रकार से बतलाए हैं—

'शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय स चतुर्विध—दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थ—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषा प्रकुप्यन्ति षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति अदृष्टार्थ पुन अस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति सत्यो नाम यथार्थभूत—सन्त्यायुर्वेदोपदेशा सन्त्युपाया साध्याना सन्त्यारम्भफलानीति सत्यविपर्ययाच्चानृत।
—चरक संहिता विमान स्थान ८/४२

अर्थात् वर्ण के समाम्नाय को शब्द कहते हैं। (चक्रपाणि के अनुसार वर्ण का मेलक वर्ण समाम्नाय कहलाता है। तदनुसार जो वर्ण का मेलक होता है वह शब्द कहलाता है।) वह शब्द चार प्रकार का होता है—१ दृष्टार्थ २ अदृष्टार्थ ३ सत्य ४ अनृत (झूठ)।

दृष्टार्थ—जैसे तीन हेतुओ (असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग प्रज्ञापराध और परिणाम) से दोषो का प्रकोप होता है। प्रकुपित हुए वे दोष छह उपक्रमों (बृंहण लघन स्नेहन रूक्षण स्वेदन स्तम्भन) से शान्त होते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों के होने पर ही शब्द आदि विषयो का ग्रहण (या ज्ञान) होता है। इन वाक्यो से शब्दों के माध्यम से जो विषय बतलाए गए हैं उनका ज्ञान या अनुभव प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः इसे दृष्टार्थ कहते हैं।

अदृष्टार्थ—पुनर्जन्म है, मोक्ष है, इन वाक्यों का अर्थ प्रत्यक्ष (दृष्ट) नहीं है, अत यह अदृष्टार्थ होता है।

सत्य—जो यथार्थ भूत होता है वह सत्य कहलाता है। जैसे आयुर्वेद के उपदेश हैं साध्य रोगों की सिद्धि के उपाय हैं कर्मों के फल हैं इत्यादि वाक्य यथार्थ का प्रतिपादन करने से सत्य रूप हैं।

अनृत—सत्य से विपरीत अनृत (झूठ) कहलाता है।

शब्दार्थ बोधक वृत्तियाँ

हमारे द्वारा जो शब्द उच्चारित किए जाते हैं उनका अर्थ बोध जिसके द्वारा होता है वह शब्दार्थ बोधक वृत्ति कहलाती है। प्रसगानुसार कही कही शब्द के उसी अर्थ का बोध होता है जो यथार्थ है और कही उससे भिन्न अर्थ का बोध होता है—यह शब्दार्थ वृत्ति पर निर्भर है। शास्त्र मे शब्दार्थ को अभिव्यक्त करने वाली वृत्तियाँ चार बतलाई गई हैं। यथा—अभिधा लक्षणा व्यञ्जना और तात्पर्याख्या। इन चारो वृत्तियो को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

१ **अभिधा**—अभि पूर्वक धा धातु से अभिधा शब्द निष्पन्न होता है इसकी निरुक्ति के अनुसार **अभिधीयते यया सा अभिधा**। अर्थात् जिसक द्वारा सीधे रूप मे कहा जाय वह अभिधा होती है। इसका भावार्थ यह है कि पद मे निहित अर्थ को सीधा प्रकट करने वाली वृत्ति अभिधा कहलाती है। जैसे श्याम विद्यालय मे पढ़ता है। इस वाक्य से जो सीधा सादा अर्थ ध्वनित होता है वह अभिधा मूलक है। इस वाक्य से प्रकट होने वाले अर्थ मे तोड-मरोड की गु जाइश नहीं है। किसी भी शब्द या वाक्य से प्रकट होने वाला मुख्यार्थ जिस शक्ति से ध्वनित होता है वह अभिधा कहलाती है। काव्य प्रकाश में अभिधा का लक्षण करते हुए बतलाया गया है—

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। —काव्य प्रकाश २।८

अर्थात् किसी भी पद (शब्द या वाक्य) का मुख्य अर्थ जो उसके मुख्य व्यापार (गुण जाति द्रव्य या किसी क्रिया वाचक हो) को ध्वनित करता है अभिधा कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिस शक्ति के द्वारा पद (शब्द या वाक्य) का मुख्य अर्थ व्यक्त होता है उसे अभिधा कहते हैं। इसे ही वाच्यार्थ भी कहा जाता है।

अभिधा से जिन शब्दो का अर्थ ध्वनित या व्यक्त होता है वे सार्थक शब्द होते हैं जो निम्न तीन प्रकार के होते हैं। यथा—रूढ यौगिक और योगरूढ़। जिस शब्द की प्रकृति व्युत्पत्ति के अधीन नही रहती है अथवा जो शब्द व्याकरण सम्मत धातु प्रत्यय आदि अवयव पर निर्भर नही रहता है वह रूढ़ कहलाता है। जैसे चश्मा। यह एक सार्थक शब्द है किन्तु यदि इसके तीनो अक्षरो-'च' 'श' और 'मा' को इस प्रकार अलग-अलग करके

किया जाय तो इन पृथक्-पृथक् अक्षरों का कोई अर्थ नहीं निकलता है। अतः रूढ़ शब्द विभाजित हो जाने पर अर्थ हीन हो जाता है। जो शब्द दो या अधिक शब्दों के योग से बनता है और प्रत्येक शब्द (पद) अपना अर्थ कायम रखता है तथा जिस शब्द की प्रवृत्ति व्युत्पत्ति के अनुसार होती है वह यौगिक कहलाता है। ऐसे शब्दो के खंड अपना मूल अर्थ नहीं छोड़ते हैं। जैसे विद्यालय देवालय राजकुमार आदि। इनमे विद्या+आलय=विद्या का स्थान देव+आलय=देव का स्थान राज+कुमार=राजा का पुत्र-इस प्रकार इन शब्दो मे दोनो पद सार्थक होते हैं। तीसरे प्रकार के योग रूढ़ शब्द वे होते हैं जो अपना अर्थ कुछ तो अवयवों पर और कुछ समुदाय पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार के योग रूढ़ शब्द अपना सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। जैसे 'तोयद'। इसमे तोय और द ये दो शब्द होते हैं। तोय याने जल और द याने देने वाला अर्थात् मेघ। ये दोनो शब्द अपने मूल अर्थ जल' और देने वाला छोडकर एक विशेष अर्थ मेघ' के वाचक हैं। इसी प्रकार शशांक (खरगोश है अंकित जिसमे) अर्थात चन्द्रमा। सहस्र रश्मि —सूर्य (हजारो किरणो वाला)।

२ लक्षणा—जिस शब्द का जो मुख्य अर्थ होता है उस मुख्यार्थ का बोध न होकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति लक्षणा कहलाती है। लक्षणा के विषय मे कहा गया है—

> मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

—काव्य प्रकाश २।९

अर्थात् मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस क्रिया के द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा कहलाती है।

कई बार ऐसा होता है कि जब कोई शब्द या वाक्य कहा जाता है तो उसका वास्तविक अर्थ ग्रहण न करके अन्य अर्थ का ग्रहण होता है। जैसे गंगायां घोष'। इसका मुख्य अर्थ है गंगा में कुटी'। किन्तु यहा मुख्य अर्थ बाधित होकर गंगा के समीपवर्ती तट का बोध होता है अर्थात् गंगा तट पर स्थित कुटी। इसी प्रकार एक मालिक ने अपने नौकर को आज्ञा दी—जा घोड़े को पानी दिखा ला। यहाँ इसका मुख्यार्थ घोडे को पानी दिखाना है, किन्तु यह अर्थ ग्रहण न होकर घोड़े को पानी पिलाना है। इस प्रकार जो अन्य अर्थ ग्रहण किया गया वही लक्षणा वृत्ति है।

३ व्यञ्जना—शब्द की जिस वृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है वह व्यञ्जना कहलाती है। यह वृत्ति शब्द या वाक्य के मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को तिरोहित करती हुए व्यङ्ग्य रूपात्मक अन्य ही अर्थ को प्रकट करती है। जैसे किसी व्यक्ति को किसी कार्य में सफलता नहीं मिलने पर उसने कहा कि यह कार्य ठीक नहीं था इसलिए मैं

तो वह कार्य करना ही नहीं चाहता था। तब दूसरे ने उत्तर दिया-हाँ 'अंगूर खट्टे हैं'। यहां अगूर खट्टे हैं का व्यगार्थ ही यही निकलता है कि उस कार्य मे सफलता नहीं मिलने के कारण उस कार्य को ठीक नही बतलाया। जिस प्रकार लोमड़ी को अगूर नहीं मिल पाने के कारण उसने कहा था-अगूर खट्टे हैं। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को कहा जाय कि तू तो गधा है तो निश्चय ही यहां गधा का मुख्यार्थ ग्रहण न कर व्यंगार्थ मूर्ख ग्रहण किया जायगा।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—शाब्दी और आर्थी। जहा व्यञ्जना किसी शब्द विशेष के प्रयोग पर निभर करती है वहां शाब्दी व्यंजना होती है और अर्थ विशेष पर निर्भर करने वाली व्यञ्जना आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।

तात्पर्याख्या वृत्ति—कुछ शब्द अनेक अर्थ वाले होते है। अनेकार्थ वाची ऐसे शब्दो का प्रयोग किए जाने पर उसका अभिप्रतार्थ न तो अभिधावृत्ति से न लक्षणा वृत्ति से और न व्यञ्जना वृत्ति से ग्रहण कर जिस वृत्ति से ग्रहण किया जाता है वह तात्पर्याख्या वृत्ति कहलाती है। जसे आयुर्वद मे एक सन्धान शब्द है जो भषज्य कल्पना प्रकरण मे एक कल्पना विशेष है (आसव या अरिष्ट निर्माण मे सधान क्रिया होती है) और शल्यतन्त्र के प्रकरण मे भग्न अस्थि का सधान किया जाता है। यहां औषधि (आसव अरिष्ट) निर्माण मे भी सन्धान शब्द का प्रयोग किया गया है और भग्न अस्थि को जोडने मे भी सन्धान शब्द का प्रयोग किया गया है। दोनो प्रकरण मे सन्धान शब्द भिन्नार्थ का द्योतक है। अत प्रकरण के अनुसार अर्थ ग्रहण करना तात्पर्याख्या वृत्ति के द्वारा होता है। इसी प्रकार 'सैन्धव' शब्द नमक और घोडा अर्थ वाची है तथा जीवन शब्द मानुष जीवन एव जल के अर्थ का बोधक है। किन्तु शब्द का प्रसगानुकूल अर्थ ग्रहण करना तात्पर्याख्या वृत्ति के अधीन है।

वाक्य स्वरूप एव वाक्यार्थ ज्ञान मे हेतु

सामान्य व्यवहार मे अथवा शास्त्र निर्माण मे जिन वाक्यो का प्रयोग किया जाता है वे वाक्य विभिन्न शब्दो पदो के योग से बनते हैं। उन शब्दो या पदो का निर्माण वर्ण या अक्षर समूह से होता है। तर्क सग्रह में भी पदो के समूह को वाक्य कहा गया है। यथा— वाक्य पदसमूह यथा गामानयेति। यहा यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक पद समूह या शब्द समूह वाक्य नही होता है। वाक्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पदो या शब्दो का विन्यास व्यवस्थित रूप से हो जिसके परिणाम स्वरूप उसका कुछ अर्थ निकलता हो। अत सार्थक शब्दों से निष्पन्न सार्थक वाक्य ही वाक्य की श्रेणी में आते हैं। निरर्थक पद समूह को वाक्य नही माना जाता है। उन वाक्यों

के अर्थ ज्ञान के लिए इन बातों का होना आवश्यक है—आकांक्षा योग्यता और सन्निधि ।

आकांक्षा— पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा ।"—तर्क संग्रह । अर्थात् एक पद का अन्य पद के बिना प्रयुक्त किए जाने पर अन्वय का अनुभावकत्व होना आकांक्षा होती है । जब किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तो उसमे एकाधिक पद होते हैं और एक पद अन्य पदो के सहारे ही पूरा अर्थ प्रकट करने मे समर्थ होता है । अत वाक्यार्थ के बोध के लिए एक पद को अन्य पदों की सहायता लेना आवश्यक होता है । इस प्रकार की आवश्यकता या अपेक्षा ही 'आकांक्षा' कहलाती है । जसे—आयुर्वेद एक जीवन विज्ञान है । इस वाक्य में यदि 'आयुर्वेद' इस एक पद या 'जीवन या विज्ञान' या है' इस एक-एक पद को लिया जाय तो अभीष्ट अर्थ प्रकट नही होगा । अत अभीष्ट अर्थ ज्ञान के लिए अन्य पदो की भी अपेक्षा रहती है—यही आकांक्षा है ।

योग्यता—'अर्थाबाधो योग्यता (तर्क संग्रह) अर्थ मे बाधा का अभाव होना योग्यता है । वाक्य की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें विद्यमान सभी पद साथ मिलकर अर्थ विशेष को उत्पन्न करें । याने वाक्य में ऐसे पद नहीं होने चाहिए जो अर्थोत्पत्ति या अर्थ ज्ञान मे बाधा उत्पन्न कर—इसे योग्यता कहते हैं ।

जसे 'वह्निना सिञ्चति' । अर्थात् अग्नि से सींचता है । इस वाक्य मे ऐसे पद विद्यमान हैं जो परस्पर विरुद्ध हैं और विरुद्ध अर्थ को प्रकट करते हैं । क्योंकि सींचने की क्रिया जल से होती है न कि अग्नि से । यहाँ प्रस्तुत वाक्य के अर्थ में बाधा उत्पन्न होती है—अत यह योग्यता नही है । जहाँ अर्थ मे बाधा उत्पन्न न हो वहां योग्यता होती है । जसे—जलेन सिञ्चति ।

सन्निधि— 'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः । (तर्क संग्रह) अर्थात् वाक्य मे प्रयुक्त पदो के उच्चारण मे विलम्ब नहीं करना सन्निधि कहलाता है । जैसे देवदत्त प्रातःकाल भ्रमण करता है'—इस वाक्य में प्रयुक्त पदो के उच्चारण मे यदि विलम्ब किया जाय याने एक-एक पद कुछ देर तक रुक-रुक कर बोला जाय तो इससे वाक्यार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाती है । अत' वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को धारा प्रवाह क्रम में बोलना सन्निधि कहलाता है ।

इस प्रकार शब्द समूह में ज्ञान की अक्षय निधि संचित है जिसका समुचित उपयोग करने के लिए शास्त्रावगाहन आवश्यक है । आयुर्वेद में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर आप्तोपदेश में ही उसका समावेश कर लिया गया है । आप्तोपदेश की अथवा

णिकता होने पर तदन्तर्गत सन्निविष्ट शब्द की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। आयुर्वेद जैसे गम्भीर शास्त्र मे प्रतिपादित विषयो के लिए आप्तोपदेश का होना नितान्त आवश्यक है। आप्तोपदेश ही विभिन्न विषयो मे समुचित मार्ग दर्शन करता है। इसके द्वारा ही रोग की उत्पत्ति करने के कारण पूर्वरूप रोग की दारुणता साध्या साध्यता यथावश्यक चिकित्सा तदथ समुचित औषधि प्रयोग की मात्रा अनुपान आदि तथा पथ्यापथ्यक का ज्ञान होता है। अत आयुवद मे आप्तोपदेश को प्रमाण रूप मे स्वीकार करना सवथा समीचीन है।

शक्तिग्रह एव शक्तिग्राहक

प्रत्येक पद का अपना निश्चित अथ होता है। वह अपने उसी अथ को प्रकट करता है। यद्यपि प्रत्येक पद के द्वारा प्रकट किए जाने वाले अथ को व्यक्त करने में पद मे विन्यस्त शब्द सयोग ही विशेष महत्वपूर्ण होता है तथापि उस शब्द सयोग के द्वारा या उस शब्द सयोग के परिणाम स्वरूप पद मे एक शक्ति विशेष का प्रादुर्भाव होता है जिसके बल पर पद उस विशिष्टाथ को ध्वनित करने मे समथ होता है। इसके अतिरिक्त पद मे किया जाने वाला शब्द विन्यास भी कतिपय साधनो की अपेक्षा रखता है जिनके या जिसके अभाव में शब्द भी अपने ध्वनिताथ को प्रकट करने मे ससथ नही हो पाता है। इस प्रकार पद मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो के परिणाम स्वरुप समुत्पन्न शक्ति और शब्दो के ध्वनिताथ को प्रकट करने हेतु अपेक्षित साधन ही सयुक्त रूप से पद के विशिष्टाथ का बोध कराने मे सक्षम है। उन साधनो को शक्तिग्रह कहा जाता है। वे शक्तिग्रह पद और (पदगत शब्दो) को अभिसस्कारित कर उन्हे इस योग्य बनाते हैं कि वे अपने अभीष्टार्थ को अभिव्यक्त कर सकें। वे शक्तिग्रह आठ होते हैं। जैसाकि निम्न श्लोक मे प्रतिपादित है—

> शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषात विवतेवदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ॥

अर्थात् वृद्ध (ज्ञान वृद्ध) जन व्याकरण उपमान कोष आप्तवाक्य व्यवहार, वाक्यशेष विवृति (विवरण) और सिद्धपद का सान्निध्य (इस आठ प्रकार) से शक्ति ग्रह को कहते हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

१ व्याकरण—इसके द्वारा शब्द की धातु प्रकृति प्रत्यय आदि का बोध होता है और तदनुसार ही शब्द सस्कारित होकर अपने शुद्ध रूप में आता है जिससे उसके अभीष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त पद की विभक्ति सन्धि समास आदि का यथोचित विन्यास भी व्याकरण के द्वारा ही होता है जो उसके समग्र अथ की अभि

व्यक्ति में मूल कारण है। यदि पद और उनसे निर्मित वाक्य का यथोचित परिसंस्कार व्याकरण के द्वारा नहीं किया जाय तो पद और वाक्य अपने अभीष्टार्थ को प्रकट नहीं कर पायेंगे। इसीलिए शक्ति ग्रह के रूप में व्याकरण को स्वीकृत किया गया है।

२ उपमान—इसके द्वारा सादृश्य ज्ञान होता है। इसका विस्तृत विवेचन उपमान प्रमाण के प्रकरण में किया गया है। यहा संक्षेप मे इतना समझ लेना आवश्यक है कि एक वस्तु के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान कहलाता है। जैसे धनुष के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश व्याधि धनुस्तम्भ एवं दण्ड के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश व्याधि दण्डक का ज्ञान करना। अर्थात् जिस व्याधि में शरीर धनुष की भांति स्तम्भित हो जाता है वह धनुस्तम्भ एव जिस व्याधि में शरीर दण्ड की भांति अकड़ जाता है वह दण्डक व्याधि होती है। इस प्रकार उपमान शक्ति ग्रह के द्वारा समान या सदृश भाव वाले विषय का ज्ञान होता है।

३ कोष—जिस शास्त्र या ग्रन्थ मे शब्दों के पर्याय एवं अनेकार्थ संकलित रहते हैं उसे कोष कहते हैं। यहां कोष को भी शक्तिग्रह के रूप में माना गया है। इसका कारण यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पद (शब्द) के समुचित अर्थ का ज्ञान मात्र कोष में ही संचित है। कोष के अभाव मे पद के सही अर्थ का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। जैसे किसी वाक्य या औषध योग मे अमृता शब्द का प्रयोग किया गया। अमृता का सामान्य अर्थ होता है—नही मरने वाली। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नहीं मरने वाली वस्तु का प्रयोग किया जाय। कोष मे अमृता पर्याय गुडूची का है। अतः अमृता शब्द से यहां गुडूची ग्राह्य है। इसी प्रकार कोष के आधार पर ही औषध शास्त्र के प्रसग में निशा से हरिद्रा और कणा से पिप्पली का ग्रहण होता है। अतः शक्तिग्रह के रूप में कोष भी महत्वपूर्ण है।

४ आप्तवाक्य—आप्त पुरुष के वचन को ही आप्तवाक्य कहते हैं। यद्यपि आप्तोपदेश के प्रकरण में आप्त की पर्याप्त समीक्षा एव विवेचना की गई है। किन्तु यहां शक्तिग्रह के रूप मे आप्तवाक्य का अभिप्राय है विज्ञजनों के वचन। जैसे गणित के छात्र को गणित का ज्ञान नहीं है विज्ञान के छात्र को विज्ञान का ज्ञान नहीं होता है। जब संबंधित विषय का अध्यापक प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करते हुए उसे समझाता है तो छात्र को उस विषय से सम्बन्धित शब्दो का स्पष्टार्थ एवं उससे विषय का ज्ञान सरलता से होता है। अतः उस छात्र के लिए उसका अध्यापक ही 'आप्त' है और उस आप्त के द्वारा कहे गए वाक्य 'आप्त वाक्य' कहलाते हैं। इसी प्रकार अनभिज्ञ बालक को उसके माता पिता के द्वारा जो शब्द बोध एवं विषय बोध कराया जाता है वह भी आप्तवाक्य के अन्तर्गत आता है। जैसे यह चन्द्रमा है, यह गाय है, यह घोड़ा है इत्यादि। इस प्रकार शक्तिग्रह के रूप में 'आप्त वाक्य' के द्वारा भी पद एवं वाक्य का अभीष्ट एवं सही अर्थ ध्वनित और उसका यथार्थ बोध होता है।

५ व्यवहार—किसी विषय को व्यवहारिक प्रयोग के द्वारा समझाने का प्रयत्न करना व्यवहार शक्तिग्रह होता है। हम अपने दैनिक जीवन मे जो क्रियाए करते हैं उनके द्वारा अज्ञ व्यक्ति को जो ज्ञान होता है वह व्यवहार शक्तिग्रह कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति को लकडी का काम करता हुआ देख कर उसे बढ़ई समझना लोहे का काम करता देख कर उसे लुहार समझना या जूता मरम्मत काम करता हुआ देखकर उसे चमार समझना व्यवहार शक्ति ग्रह के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार विज्ञान सम्बन्धी कार्य को प्रयोगशाला मे करता हुआ देखकर उसे वैज्ञानिक एव चिकित्सा के कार्य को करता हुआ देखकर उस चिकित्सा करने वाले को चिकित्सक समझा जाता है।

६ वाक्यशेष—ऐसे वाक्य का कथन करना जिसमे कोई पद नही कहा गया हो वाक्यशेष कहलाता है। इस वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अपूर्ण वाक्य का पूर्ण एव स्पष्ट अर्थ जाना जाता है। शास्त्र मे वाक्यशेष का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

येन पादेनानुक्तेन वाक्य समाप्यते स वाक्यशेष' यथा शिर पाणिपादपार्श्व पृष्ठोदरसामित्युक्ते पुरुषग्रहण बिनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति।

-सुश्रुत सहिता उत्तरतन्त्र ६५/१९

अर्थात जिस अनुक्त पाद से वाक्य की समाप्ति होती है वह वाक्यशेष कहलाता है। जैसे शिर हाथ पर पार्श्व पीठ उदर छाती इतना कहने पर पुरुष के यह पद कहे बिना भी ये अवयव पुरुष के होते हैं ऐसा जान लिया जाता है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी— वाक्यशेषो नाम यल्लाघवायाचार्येण वाक्येषु पदमकृत गोप्यमानतया पूर्यते।

अर्थात जहा पर लाघव के लिए आचार्य के द्वारा वाक्य में पद का विन्यास नहीं किया गया है और गुप्त रूप से पाद पूर्ति की गई है वह वाक्यशेष कहलाता है।

एक अन्य लक्षण के अनुसार— वाक्यशेषो नाम यस्मिन् वाक्ये एकदेश शिष्यते व्याख्याकाले त्वनुच्यमानोऽप्यापतति।

अर्थात् वाक्यशेष वह होता है जिस वाक्य मे वाक्य का एक देश (कोई पद) शेष बचा हुआ हो और उस वाक्य की व्याख्या करते समय वह अनुक्त भाग भी कहा जाता है।

वाक्य शेष के उपर्युक्त इन तीनो लक्षणो मे एक समान भाव ही व्यक्त किया गया है। इसके उदाहरण निम्न प्रकार से समझना चाहिये—

चरक सहिता सूत्रस्थान अ १६ मे एक वाक्य प्रवृत्तिर्हेतु भावानां कहा गया है। जिसका सामान्य अर्थ है—भावो की उत्पत्ति मे कारण। इसमे 'अस्ति' या 'भवति' वाक्यशेष है। यदि यहां अस्ति या भवति पद लगाया जाता तो पाद पूर्ति हो जाती। किन्तु यहां वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अभीष्ट अर्थ ग्रहण कर लिया जाता

है। इसी प्रकार किसी स्थान पर आंगल या आनूप रस का विधान किया गया। यहाँ अनुक्त पद 'मांस' वाक्यशेष है। अर्थात् आंगल मांस रस' या 'आनूप मांस रस' यह कथन किया जाना चाहिये था। यहाँ पर वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अनुक्त मांस पद का बोध कर लिया जाता है।

७ विवृति (विवरण)—जिस पद का अर्थ अति सामान्य है, उस अर्थ के आधार पर अन्य पद का सकेत जिस शक्तिग्रह से होता है उसे विवृति या विवरण कहते हैं। जैसे किसी ने पचति (पकाता है) शब्द का प्रयोग किया। इस पद का पूर्ण अर्थ है-'पाकं करोति' अर्थात् पाक करता है। यहाँ पर पचति' पद का प्रयोग पाक करने के अर्थ में होने से यह विवरण शक्तिग्रह कहलाता है।

८ सिद्धपद का सान्निध्य—किसी वाक्य में मुख्य पद नहीं होने पर भी उसकी पूणता हो वाक्याथ भी स्पष्ट हो किन्तु मुख्य पद का नहीं होना खटकने वाला न हो तो वह सिद्धपद का सन्निध्य शक्तिग्रह होता है। इसमे प्रसिद्ध पद के पास में होने से शक्ति ग्रह होता है। जैसे निम्न वाक्य का प्रयोग किया गया—"सहकारे मधूनि पिबति। अर्थात् आम के वृक्ष पर मधु (शहद) पीता है। इस वाक्य में यह स्पष्ट नहीं है कि आम के वृक्ष पर मधु का पान कौन करता है? किन्तु वहां 'मधु' सिद्ध पद है जिससे यह आभास सहज ही मिल जाता है कि मधु का पान मधुकर (भोरा) ही करता है। क्योंकि आम की मजरियो में रसपान करने वाला मात्र भ्रमर ही होता है। अत वाक्य में मधु एक ऐसा सिद्ध पद है जो वाक्य मे प्रयुक्त नहीं हुए मधुकर' का संकेत करता है। अत यह सिद्ध पद है।

इस प्रकार इन अष्टविध शक्ति ग्रह के द्वारा वाक्य के स्पष्ट अर्थ का प्रकाशन होता है जिससे शास्त्र में प्रतिपादित समस्त विषयो का ज्ञान होता जो संदेह एवं भ्रम दोषों से रहित होता है।

—x—

त्रयोदश अध्याय

अन्य प्रमाण निरूपण

युक्ति प्रमाण

आयुर्वेद शास्त्र मे चतुर्थ प्रमाण युक्ति को माना गया है। प्रमाणो की गणना मे युक्ति प्रमाण को यद्यपि उतना महत्त्व नही दिया गया है जितना कि प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणो को दिया गया है। आयुर्वेद मे इन तीन प्रमाणो के साथ जब अन्य प्रमाणो की आवश्यकता का अनुभव किया गया तब उस आवश्यकता के अनुसार युक्ति प्रमाण को भी कार्य साधन के लिए अगीकार कर लिया गया है। पहले तो महर्षि चरक ने पदार्थों की चतुर्विध परीक्षा का निर्देश देते हुए स्पष्टत वहा युक्ति को चतुर्थ प्रमाण मान कर उसका उल्लेख कर दिया। किन्तु बाद मे आगे चल कर उन्होने विमान स्थान मे अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्ष यह अनुमान का लक्षण निरूपित करते हुए युक्ति को अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र स्वीकार किया है। इस आधार पर कतिपय आचार्यों का यह मत है कि युक्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाणान्तर नही है। अपितु यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता मात्र करती है। अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र होने से युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान मे ही हो जाता है। अत उसके स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे मानने का कोई औचित्य नहीं है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है। किन्तु वस्तुत ऐसी बात नही है। युक्ति भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। यह अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र नहीं है, अपितु अनुमान के लिए उसकी अनिवार्यता बतलाने की दृष्टि से अनुमान को युक्ति की अपेक्षा (आवश्यकता) रखने वाला तर्क बतलाया गया है जिससे युक्ति का महत्व और अधिक बढ गया है। अत उसके अवबोध के लिए उसका लक्षण एव उदाहरण बतलाते हुए सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

युक्ति का स्वरूप एव लक्षण

युक्ति शब्द का निर्माण युज् धातु में क्तिन् प्रत्यय लग कर हुआ है जिसका अभिप्राय योजना या विधि पूर्वक कार्य करना होता है। अर्थात् किसी भी कार्य को ठीक

ढंग से, विधि पूर्वक या योजना के अनुसार करना युक्ति कहलाता है। जैसा कि चरक संहिता में कहा गया—'युक्तिस्तु योजना' और 'योजना या तु युज्यते।

इसके अतिरिक्त युक्ति के निम्न लक्षण द्वय द्वारा और अधिक स्पष्टता से उसके अर्थ का बोध हो जाता है—

'विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारण युक्ति —गंगाधर।

अर्थात् विज्ञात (जाने हुए) अर्थ मे कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में उसी प्रकार कारण और उपपत्ति को समझना या लागू करना युक्ति कहलाती है। जब हम किसी जाने हुए विषय मे विविध कारणो की योजना को देखकर अनजान विषय मे भी उसी कारण और उपपत्ति की योजना करते हैं तो वह युक्ति कहलाता है।

महर्षि चरक ने युक्ति की समीचीन व्याख्या करते हुए उसका जो स्वरूप एवं लक्षण बतलाया है उससे आयुर्वेद में उसकी उपयोगिता का आभास सहज ही हो जाता है। उन्होने युक्ति का निम्न लक्षण किया है—

बुद्धि पश्यति या भावान बहुकारणयोगजान।
युक्तिस्त्रिकाला ज्ञेया त्रिवर्ग साध्यते यया॥
—चरक संहिता सूत्रस्थान ११/२५

अर्थात् जो बुद्धि बहुत कारणो के योग से उत्पन्न भावो की सङ्गति (उपपत्ति) से ज्ञेय विषयो को देखती है वह बुद्धि (ज्ञान) युक्ति कहलाती है। अभिप्राय यह है कि जिन विषयो के तत्व का ज्ञान नही है उन विषयो का तत्व ज्ञान करने के लिए जो बुद्धि ज्ञात कारणो की उपपत्ति (संगति-योजना) के द्वारा जानती है वह युक्ति कहलाती है। अत॰ अनेक कारणो के योग से उत्पन्न अविज्ञात भावो को विज्ञात भावों के कार्य कारण भाव के अनुसार तथ्य को देखने वाली बुद्धि को युक्ति कहते हैं। इस युक्ति का उपयोग भूत भविष्य-वर्तमान तीनो ही कालो ही मे होता है जिससे [धर्म अर्थ और काम इन तीन वर्गों की सिद्धि होती है॥

इसकी व्याख्या आचार्य चक्रपाणि दत्त ने निम्न प्रकार से की है—

बहूपपत्ति-योग-ज्ञायमानानर्थान् या बुद्धि पश्यति ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता।

अर्थात् अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थों को जो बुद्धि देखती है उस ऊह लक्षणात्मक बुद्धि को ही युक्ति कहते है।

इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी युक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है—

"तद्भावभावित्वेन वा तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्ति।"
—शान्त रक्षित-कमलशील

अर्थात् जहां तद् भाव से भावित होकर तत्कार्यता की प्रतीति होती है वह युक्ति कहलाती है।

यहाँ सद्भाव का अर्थ है— 'तयो कारणकार्ययो' पूर्वस्य परस्मिन् हेतुः सापेक्ष भाव' उत्पत्ति । अर्थात् कारण और कार्य दोनो में पूर्व अर्थात कारण का परवर्ती अर्थात् काय मे हेतु सापेक्ष भाव होकर उत्पन्न होना । इस प्रकार के सद्भाव से भावित याने बारम्बार विज्ञातार्थ होकर किसी अविज्ञात स्थान पर तत्कार्यता याने उसी प्रकार कारण से काय की उत्पत्ति का होना युक्ति कहलाता है ।

युक्ति के विषय मे आचार्य चक्रपाणि दत्त ने अन्यत्र अपना जो मन्तव्य व्यक्त किया है वह भी माननीय है । यथा—

या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्ति निरुच्यते । अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत ।

अर्थात जो कल्पना यौगिकी होती है वह युक्ति कहलाती है । अयौगिकी तो कल्पना होते हुए भी युक्ति नही कहलाती है । पुत्र भी अपुत्र भी भाति होता है ।

कल्पना सामान्यत दो प्रकार से उत्पन्न होती है — साधार और निराधार । जैसे अनेक स्थलो पर कार्य को सामने उत्पन्न हुआ देख कर कारण और कार्य ज्ञान के योग सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है । उस योग अर्थात् कारण और कार्य जन्य अनुभव से उसी प्रकार के अन्य स्थल पर कारण-कार्य की जो कल्पना की जाती है वह यौगिकी कल्पना कहलाती है । इसी को साधार कल्पना भी कहते हैं । क्योकि इस कल्पना का आधार पूर्ववर्ती पक्षो मे किया गया अनुभव होता है । आचाय चक्रपाणि के अनुसार यही यौगिकी या साधार कल्पना युक्ति होती है । इससे भिन्न जो निराधार (आधार रहित) कल्पना होती है वह अयौगिकी कल्पना कहलाती है और आचाय चक्रपाणि की दृष्टि मे वह युक्ति नही है । जैसे किसी व्यक्ति ने ऊट को नहीं देखा था । एक दिन प्रात किसी गांव के बाहर जब ग्रामीणों ने ऊँट के पांव के बड़े-बड़े निशान देखे तो वे सोच में पड गए कि इतना बडा पैर तो किसी जानवर का नही होता है । फिर ये किसके निशान हैं । तब दूसरे व्यक्ति ने कहा कि अपने पाव मे चक्की का पाट बाध कर कही हिरण न कूदा हो । इस प्रकार की कल्पना निराधार अयौगिकी होती है । अत इसे युक्ति नहीं माना जा सकता । इस प्रकार की अयौगिकी कल्पना के सन्दर्भ मे चक्रपाणि द्वारा दिया गया उदाहरण सटीक है । जैसे 'पुत्रोऽप्यपुत्रवत' अर्थात् जिस प्रकार पुत्र भी सम्बन्ध नही रखने के कारण अपुत्र हो जाता है उसी प्रकार कल्पना भी सम्बन्ध नहीं रखने पर अकल्पना हो जाती है । ऐसी स्थिति मे उसे युक्ति नही माना जाता है ।

महर्षि चरक ने युक्ति का जो लक्षण प्रतिपादित किया है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है उसे निम्न उदाहरणों के द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हुए आयुर्वेद मे उसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है । युक्ति को चरकोक्त निम्न उदाहरणों से समझा जा सकता है—

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसंभवः ।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ॥
मध्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद् व्याधिनिबर्हिणी ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/२३-२४

अर्थ—जिस प्रकार जल कर्षण बीज और और ऋतु के संयोग से जौ गेहू आदि धान्यों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार छः धातुओ (पांच महाभूत और आत्मा) के सयोग से गर्भों की उत्पत्ति हुआ करती है—यह युक्ति प्रमाण है। (क) मध्य (मथने योग्य नीचे रखी हुई लकडी) (ख) मन्थन (मन्थन क्रिया अथवा मन्थक' पाठ होने पर मन्थन करने वाला पुरुष) (ग) मन्थान (मन्थन करने योग्य लकडी को जिस दूसरी लकडी से मथा जाता है) इन तीनो के सयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चिकित्सा के युक्तियुक्त चार पादो (भिषग् द्रव्य उपस्थाता और रोगी) के रहने पर रोगो का शमन होता है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सफलता योजना अथवा युक्ति पर निर्भर है। यदि युक्ति पूर्वक जल कर्षण बीज और ऋतु इनका सयोग न हो तो अनाज की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् ऋतु का उचित संयोग होने पर उचित रूप से खेत की जुताई करने पर विधिपूर्वक उसकी बोआई करने से और आवश्यकतानुसार उचित समय पर जल के द्वारा उसकी सिंचाई करने से अनाज उत्पन्न होता है। इन चारो मे से किसी एक साधन का समुचित सयोग नही होने पर अनाज के उत्पन्न होने मे बाधा हो सकती है। इसी प्रकार छह धातओ (पृथ्वी जल तेज वायु आकाश और आत्मा) का उचित प्रकार से सयोग होने पर ही गर्भ की उत्पत्ति सम्भव है। इन धातओ का सयोग यदि विधि पूर्वक न हो तो गर्भ की उत्पत्ति सम्भव नही है। यहाँ जल कर्षण बीज और ऋतु इनमे विज्ञात कार्य कारण भाव का ज्ञान कर अविज्ञात षड् धातु के सयोग से गर्भ की उत्पत्ति की कल्पना तथ्य रूप मे की गई है। जल कर्षण आदि का ज्ञान सामान्यतः सभी व्यक्तियो को होता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से विज्ञात है। गर्भ की उत्पत्ति अदृश्य है। अतः विज्ञात धान्य की उत्पत्ति से अविज्ञात गर्भ की उत्पत्ति का प्रामाणिक ज्ञान युक्ति प्रमाण से किया जाता है। दूसरा दृष्टान्त भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करता है। प्राचीन काल में अग्नि की उत्पत्ति अरणि-मन्थन से की जाती थी। आजकल भी यज्ञो में कर्मकाण्डी लोग अरणि-मन्थन से आग उत्पन्न करते हैं। मध्य मन्थन और मन्थान इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं विज्ञात है। इससे अविज्ञात चिकित्सा के चतुष्पाद की सिद्धि स्वरूप रोग-विनाश होने की तथ्य रूप कल्पना की जाती है।

इसमे अग्नि उत्पन्न करने वाले तीनो साधनो मे से अथवा चिकित्सा के चतुष्पाद में से किसी एक का अभाव होने पर अथवा इनका उचित सयोजन नहीं होने पर कार्य की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। अत अभीष्ट प्राप्ति के लिए उपयु क्त साधनो की युक्ति युक्त संयोजना अपेक्षित रहती है।

इसी भाँति प्रत्येक काय के लिए युक्ति की अपेक्षा रहती है। यदि उस कार्य के साधनों का सयोग या उपयोग विधि पूर्वक नहीं किया गया तो वह कार्य सफल नहीं हो सकता। इस आधार पर आयुर्वेद में चतुर्थ प्रमाण के रूप मे युक्ति को स्वीकार किया गया है।

युक्ति प्रामाण्य विचार

किसी भी वैदिक या अवैदिक दशन ने प्रमाणो के परिगणन मे युक्ति का समावेश नही किया है। किन्तु आयुवद मे इसे प्रमाण के रूप मे स्वीकार कर उसकी उपयोगिता को मान्य किया गया है। महर्षि चरक ने इस बात की कोई चिन्ता नही की कि जब साख्य वैशेषिक आदि किसी अन्य दशन ने युक्ति को प्रमाण नही माना है तो आयुर्वेद में भी इसे अस्वीकार नही किया जाय। उन्होने आयुर्वेद मे इसकी उपयोगिता एव अनिवार्यता को देखते हुए अन्य दशनो का अनुसरण न कर स्वविवक पूर्वक युक्ति को प्रमाण रूप मे स्वीकार करना ही अभीष्ट समझा। उन्होंने सम्भावत स्पष्टत अनुभव किया कि जब तक षड्धातु सयोग की योजना नहीं होगी तब तक गभ की सम्भवना (उत्पत्ति) कैसे हो सकती है? इसी प्रकार युक्ति युक्त चतुष्पाद (भिषग् द्रव्य उपस्थाता और रोगी) के बिना रोग का नाश कसे होगा? औषध द्रव्यो की सम्यक योजना के अभाव से औषधि योगो का निर्माण भी कसे सम्भव होगा? और आहार द्रव्यो के संयोजन के बिना रोगी की पथ्य व्यवस्था की कल्पना कैसे की जा सकती है? अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद मे तो पदे पदे युक्ति की उपयोगिता एव आवश्यकता है। सम्भवत इसीलिए महर्षि चरक ने चतुर्विध परीक्षा के अन्तगत युक्ति का भी परिगणन किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरक के परवर्ती आचार्य चक्रपाणि दत्त को युक्ति का प्रामाण्य अभीष्ट नहीं लगा। इसीलिए उन्होंने चरक की भाति उसका प्रमाणत्व अगीकार न कर उसे 'प्रमाण सहायीभूता' कहकर प्रमाण की सहायिका के रूप में उसे माना है। एक स्थान पर तो इससे भी आगे बढ़कर उसे अप्रमाण कहने मे भी उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई। जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है— 'सा च परमार्थतः अप्रमाणभूताऽपि'। अर्थात् वह परमार्थ रूपेण अप्रमाण होते हुए भी। यद्यपि यह कथन किसी अन्य प्रसंग मे है, तथापि युक्ति के प्रति उनकी भावना एवं विचार अंकित तो स्पष्ट है। चरक संहिता मे अन्यत्र भी युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण रूप मानने मे आचार्य चक्रपाणि

तर्क का बहुमति भाव नहीं है। जहाँ कहीं यदि उन्होंने कुछ कहा भी है तो सम्भवतः उनकी विवशता रही है। क्योंकि मूल ग्रन्थ में कहीं भी उन्होंने युक्ति का समर्थन नहीं किया है। जैसाकि चरकोक्त परादि गुण वर्णन के प्रसंग में उनके द्वारा व्यक्त मत से इसका आभास मिलता है। चरक ने परादि चतुर्विंशति गुणों के अन्तर्गत युक्ति का भी निर्देश किया है। इस प्रसंग में उन्हें भी इसका पृथक् महत्व स्वीकार करना पड़ा।

युक्ति को प्रमाणत्वेन स्वीकार करने की दृष्टि से ही महर्षि चरक ने पुनर्जन्म की सिद्धि युक्ति प्रमाण द्वारा करने का प्रयास किया है। यह ज्ञातव्य है कि पुनर्जन्म की सिद्धि जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से की गई है उसी प्रकार युक्ति प्रमाण से भी की गई है। इस सन्दर्भ मे निम्न वचन दृष्टव्य है—

युक्तिश्चैषा षड्धातुसमुदायाद्गर्भजन्म। कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया। कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् कर्मसदृशं फलम् नान्यस्मात् बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति।
—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/३२

अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूत और आत्मा इन षड् धातुओं के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है—यही युक्ति है। कर्ता और करण के संयोग से क्रिया होती है—यह भी युक्ति है। यदि कर्ता और करण (साधकतम कारण) इनमें से कोई एक न हो तो क्रिया नहीं हो सकती। यदि कर्ता हो और करण न हो तो क्रिया नहीं होगी और यदि कर्ता न हो किन्तु करण हो तो भी क्रिया नहीं होती। जब तक कर्ता और करण इन दोनों का संयोग नहीं होगा तब तक क्रिया असम्भव है। मनुष्य को अपने किए हुए कर्म का फल भोगना पड़ता है नहीं किए हुए कर्म का नहीं। बीज के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है कर्म के समान ही फल होता है एक के बीज से अन्य फल की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि बबूल का बीज बोया जाय तो उससे आम या किसी अन्य फल का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। बबूल के बीज से बबूल ही उत्पन्न होता है।

कतिपय विद्वानों का यह मत है कि महर्षि चरक ने अनुमान का यह लक्षण — अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः प्रतिपादित करते हुए अनुमान में ही युक्ति का अन्तर्भाव कर लिया है अतः प्रमाणत्वेन युक्ति को पृथक मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जब चरक ने स्पष्ट रूप से चतुर्विध परीक्षा (प्रमाण) के अन्तर्गत युक्ति का उल्लेख किया है तो अनुमान मे उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनुमान के उपर्युक्त लक्षण मे युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क को अनुमान बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अनुमान में युक्ति की भी अपेक्षा रहती है। इससे अनुमान में युक्ति का महत्व एवं उपयोगिता

अधिक सार्थक रूपेण प्रतिपादित की गई है न कि उसका अन्तर्भाव किया गया है। जैसे अनुमान के ही प्रसग मे 'प्रत्यक्षपूर्व त्रिविध त्रिकाल चानुमीयते।' ऐसा कहा गया है जिससे यह तात्पर्य तो नहीं निकाला जा सकता कि अनुमान मे प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव कर लिया गया है। इसी प्रकार अनुमान मे युक्ति की उपयोगिता प्रतिपादित की गई है न कि उनका अन्तर्भाव किया गया है। अत युक्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है जो आतुर परीक्षा के लिए उपयोगी एव महत्वपूण है।

युक्ति प्रमाण का वैशिष्टय

युक्ति प्रमाण का वैशिष्टय निम्न तथ्यो के आधार पर प्रतिपादित किया जा सकता है—

(१) युक्ति प्रमाण का वैशिष्टय इसी से स्पष्ट है कि महर्षि चरक ने आतुर परीक्षा के लिए युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे निरूपित किया है।

(२) यद्यपि युक्ति को योजना मानकर उसके स्वरूप का प्रतिपदान करने का प्रयास किया गया है किन्तु इसकी गम्भीरता का आभास इससे ही मिल जाता है कि योजना करना भी एक दुरूह कार्य है। इसीलिए आचार्य प्रवर ने कहा है—**योजकस्तत्र दुर्लभः**। अत युक्ति या योजना को इतना सरल एव सहज नही मान लेना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि युक्ति का ज्ञाता होना उतना सरल नही है जितना समझा जाता है। ग्रंथो का अध्ययन करके विद्वान् होना एक भिन्न बात है और युक्तिज्ञ युक्ति का ज्ञाता होना-योजना करने की क्षमता वाला होना एक भिन्न बात है। इसीलिए युक्तिज्ञ व्यक्ति का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—**तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा।**

(३) युक्ति के प्रसग मे एक यह महत्वपूण तथ्य है कि त्रिवर्ग धर्म अर्थ काम की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणो को उपयोगी न मानकर युक्ति को ही उपयोगी माना गया है। व्यवहारिक रूप से भी यदि देखा जाय तो युक्ति के अभाव मे न तो धर्म का साधन होना सम्भव है न अर्थ प्राप्ति होना सम्भव है और न काम का होना सम्भव है।

(४) प्रत्येक प्रमाण तात्कालिक या उसी समय होता है। अनुमान कहीं प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और कहीं युक्ति की अपेक्षा रखता है जबकि युक्ति तीनो काल मे होती है और वह प्रमाणान्तर की अपेक्षा नही रखती है।

(५) जो विषय या कार्य युक्ति साध्य होता है उसे प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा सिद्ध या सम्पन्न नही किया जा सकता है।

(६) आयुर्वेद में युक्ति की विशेष उपयोगिता है। आतुर परीक्षा हेतु रोग के हेतु, पूर्व रूप लक्षण एव सम्प्राप्ति विमर्श में युक्तिज्ञ वैद्य ही सफल हो सकता है। रोग

निश्चय हो जाने पर उसकी औषध योजना भी युक्ति पर ही आधारित है। अन्यथा रोगोपशमन होना सम्भव नहीं है। उपाय-अनुपाय का ज्ञान भी युक्ति की अपेक्षा रखता है। औषध निर्माण (भैषज्य कल्पना) में द्रव्यों की योजना (द्रव्यों का मान-परिमाण आदि का समुचित ज्ञान) युक्ति पर ही आधारित है।

इस प्रकार आयुर्वेद मे युक्ति का वैशिष्ट्य एवं महत्व है। इसीलिए इसे प्रमाणत्वेन प्रतिष्ठापित एवं निरूपित किया गया है।

उपमान (औपम्य) प्रमाण निरूपण

उपमिति का करण उपमान कहलाता है। किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति कहलाता है। इस उपमिति का करण (साधकतम कारण) ही उपमान कहलाता है। उपमान शब्द की निष्पत्ति 'उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्' इस विग्रह के अनुसार होती है जिसका अर्थ होता है— उपमा सादृश्य अथवा समानता के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे उपमिति कहते हैं। न्याय दर्शन में उपमिति का लक्षण निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः' अर्थात् किसी नाम के उस नाम वाली वस्तु से सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं और उपमिति का जो करण होता है वह उपमान होता है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है— उपमितिकरणमुपमानम्। —तर्क संग्रह

उसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुष के वाक्य के अर्थ का स्मरण भी इसमे कारण होता है। जैसे कोई व्यक्ति 'गवय' के विषय मे नही जानता है। उसने किसी वनवासी व्यक्ति से सुना कि जो गाय के सदृश होता है वह 'गवय' कहलाता है। जब वह वन में गया और उसने वहाँ गाय के सदृश एक प्राणी को देखा। तब उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के सदृश गवय होता है। इसी आधार पर उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के समान होने के कारण यह गवय है। यही सादृश्य ज्ञान कहलाता है। इस सादृश्य ज्ञान के आधार पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर करता है। यही सादृश्य ज्ञान उपमिति शब्द से अभिप्रेत होता है। इसका करण या साधकतम कारण ही 'उपमान' कहलाता है।

उपमान प्रमाण के अन्य शास्त्रोक्त लक्षण भी उपर्युक्त भावार्थ का ही प्रकाशन करते हैं। यथा— 'प्रसिद्धस्य सादृश्यादप्रसिद्धस्य प्रकाशनम् औपम्यमुपमानम्' अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकाशित करना औपम्य या उपमान कहलाता है।

'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।' — न्याय दर्शन १।१।६

अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य (अप्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य) की सिद्धि करना उपमान कहलाता है।

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानमिति ख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥ —षड्दर्शन संग्रह

अर्थ—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का साधन करना उपमान कहलाता है। जैसे गो के साधम्य से अप्रसिद्ध गवय का साधन करना।

आयुर्वेद सम्मत लक्षण

प्रसिद्धसाधर्म्यात सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थस्य साधनमुपमानम । यथा-माषवत् मषक तिलमात्रस्तिलकालक इत्यादि । —डल्हण

अर्थात् किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधम्य से सूक्ष्म (दिखाई नहीं देने वाले) व्यवहित (तिरोहित हुए) विप्रकृष्ट (अत्यन्त दूरस्थ) वस्तु या विषय का साधन करना उपमान कहलाता है। जसे माष (उडद) के समान होने से मषक रोग और तिल के समाव होने से तिलकालक रोग होता है।

'सादृश्यमधिकृत्यान्येन प्रसिद्ध मान्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम । —चरकोपस्कार

अर्थात् सादृश्य के आधार पर किसी प्रसिद्ध वस्तु से अन्य अप्रसिद्ध वस्तु का प्रकाशन (ज्ञान प्राप्त) करना उपमान कहलाता है।

'अथौपम्यम-औपम्य नाम तद् यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम । यथा दण्डेन दण्डकस्य धनुषा धनुस्तम्भस्य इष्वासेनारोग्यस्येति ।

—चरक सहिता विमान स्थान/

अर्थात् उपमान या औपम्य उस प्रमाण को कहते हैं जिसमे किसी ज्ञात सदृश वस्तु के ज्ञान से अज्ञात सदृश वस्तु का परिचय या ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे दण्ड को देख कर दण्डक नामक व्याधि का और धनुष को देख कर धनुस्तम्भ नामक व्याधि का प्रकाशन करना तथा धनुष के कुशल चालक धनुधर को देखकर आरोग्यदाता वैद्य का प्रकाशन करना इत्यादि।

उपयुक्त उदाहरण में प्रसिद्ध दण्ड को देखकर दण्ड के सादृश्य से दण्डक रोग का प्रकाशन करना तथा धनुष के सादश्य से अप्रसिद्ध धनुस्तम्भ का प्रकाशन करना उपमान प्रमाण के द्वारा ज्ञातव्य है। जैसे किसी छात्र को अध्ययन काल मे गुरु ने बतलाया कि दण्डक रोग मे शरीर दण्ड के समान अकड जाता है यह रोग उस विद्यार्थी के अध्ययन काल में कभी देखने मे नही आया हो किंतु कार्यकाल म या व्यवहार में जब वह किसी व्यक्ति के शरीर को दण्ड के समाम स्तब्ध हुआ देखता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह और ऐसा दण्डक रोग होता है। इसी प्रकार धनुष के सादृश्य से धनुस्तम्भ नामक व्याधि का माष के सादृश्य से मस्से का तिल के सादृश्य से तिल का विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ अभ्यस्त धनुर्धारी अपने लक्ष्य का वेध करने मे कभी असफल नहीं होता उसी प्रकार

किया कुशल वैद्य अपने कार्य में अर्थात् आरोग्य लाभ कराने में असफल नहीं होता है। यह ज्ञान अर्थात् इष्वासु के कार्यसिद्धि के सादृश्य से आरोग्य दाता वैद्य का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण द्वारा सम्भव है।

नैय्यायिको द्वारा स्वीकृत यह तीसरा प्रमाण है। इसके समर्थन में वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि यहां केवल गाय का प्रत्यक्ष होता है न कि गवय का। प्रथम गाय होने हुए तत्सादृश्य के आधार पर गवय का ज्ञान होता है। यदि गाय का प्रत्यक्ष न हो तो गवय का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इस ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो होता है किन्तु यदि सादृश्य का स्मरण न हो तो सादृश्य ज्ञान के अभाव में गवय का ज्ञान नहीं हो पायेगा। अत यहां सादृश्य का स्मरण ही विशेष महत्वपूर्ण है वही उपमान का कारण है। यद्यपि उपमान के पूर्वार्द्ध में प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है। किन्तु उसके उत्तरार्द्ध में जो ज्ञान अपेक्षित है वह प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नही होने से स्वतन्त्र रूपेण उपमान प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

(२) अनुमान मे इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूवक होता है। इससे अतिरिक्त अनुमान की सिद्धि के लिए व्याप्ति का ज्ञान सवथा अपेक्षित होता है। व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि होना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत उपमान के लिए व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि गो एव गवय का साहचर्य सम्बन्ध इसमे नहीं होता है। अत अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(३) शब्दादि अन्य प्रमाण भी इतने समर्थ नही हैं कि वे सादृश्य ज्ञान करा सकें। जिस प्रकार और जिस रूप मे उपमान के द्वारा ज्ञान होता है उस प्रकार का उस रूप में ज्ञान किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं किया जा सकने के कारण किसी अन्य प्रमाण मे उसका अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नही है। अत उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

अनेक आचार्यों एव दर्शनों ने इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक सांख्य योग बौद्ध तथा जैन दर्शन के विद्वान् इस प्रमाण को स्वतन्त्र रूपेण पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। श्री दिङ्नागाचार्य ने उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही इसका अन्तर्भाव कर लिया है। वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण मे ही इसे समाविष्ट कर लिया है। कुछ आचार्यों ने उपमान को शब्द प्रमाण से भिन्न न मानकर उसी के अन्तर्गत इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन के विद्वान् उपमान का अस्तित्व शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तगत स्वीकार करते है। इस प्रकार अनेक

दर्शनों में उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र न मानकर विभिन्न प्रमाणों मे इसकी सत्ता स्वीकार की है। केवल न्याय दर्शन ही उपमान प्रमाण के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार प्रत्यक्ष अनुमान अथवा शब्द मे उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव किया जाना किसी प्रकार भी सम्भव नही है। क्योंकि यह इन तीनो प्रमाणो से भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। इन तीनो मे से कोई भी प्रमाण उपमान के द्वारा साधित अभीष्ट की प्राप्ति करने मे समर्थ नही है। सिद्धान्तमुक्तावलि मे उन सभी मतो का खण्डन किया गया है जो उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर किसी अन्य प्रमाण मे उसका अन्तर्भाव करते हैं। न्याय दर्शन ने प्रत्यक्ष एव अनुमान के पश्चात् इसे तीसरा प्रमाण स्वीकार किया है।

आयुर्वेद में उपमान प्रमाण की उपयोगिता

आयुर्वेद में यद्यपि मुख्यत प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणो का ही उल्लेख मिलता है किन्तु कही कही युक्ति और कहीं-कहीं उपमान का परिगणन भी किया गया है। इससे यह तो स्पष्ट है कि उपमान का प्रमाणत्व महर्षि चरक को भी अभीष्ट था और महर्षि सुश्रुत को भी। किन्तु उपयुक्त त्रिविध प्रमाण की भांति उसका उतना वैशिष्ट्य नहीं है। आयुवद मे उपमान की उपयोगिता ऐसे रोगो का ज्ञान कराने में है जो किसी वस्तु या विषय से सादृश्य रखते हैं। इसीलिए चिकित्सा मे भी उपमान की उपयोगिता असदिग्ध रूप से स्वीकार की जा सकती है। क्योकि आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक महत्वपूण सिद्धान्त यह है कि समान गुण धर्म वाले द्रव्यो का सेवन करने से शरीर में समान भावो की अभिवृद्धि होती है। जसे शरीर मे मास धातु का क्षय होने पर तत्समान गुण धर्मी पशुओ का मांस सेवन करने से उसकी पूर्ति हो जाती है। रक्त का क्षय होने पर पालक आदि द्रव्यो का सेवन करने से रक्त कणो की वृद्धि होती है। क्योकि पालक मे विद्यमान घटक द्रव्य रक्त के घटक द्रव्यो के ही समान होते हैं। समान गुण धर्म होने से पालक के घटक द्रव्य रक्तगत रक्तकणो की वृद्धि करते हैं। एतावता चिकित्सा के द्वारा क्षीण धातुओ की वृद्धि होकर क्षीणता जनित रोग का नाश होता है। अत चिकित्सा की दृष्टि से आयुवद मे उपमान की उपयोगिता मानी गई है।

अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण

आयुर्वेद मे इसे अर्थप्राप्ति प्रमाण कहा गया है। महर्षि चरक ने इसका निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

अर्थप्राप्तिर्नाम-यत्रैकेनार्थेनोक्तेनाऽपरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थसिद्धि। यथा-नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति।

—चरक संहिता विमानस्थान ८/४८

अर्थात् अर्थप्राप्ति प्रमाण उसे कहते हैं जहां एक अर्थ के कहने से अनुक्त (अनकहे) अन्य अर्थ की सिद्धि होती है। जैसे यह व्याधि संतर्पण साध्य नहीं है, ऐसा कहने से उसके दूसरे अर्थ का बोध होता है कि यह व्याधि अपतर्पण साध्य है। इसी प्रकार 'इस रोगी को दिन मे नही खाना चाहिए' ऐसा कहने से 'रात्रि में खाना चाहिए' इस अपर अर्थ की सिद्धि होती है।

वेदान्ती और मीमांसक लोग पांचवे प्रमाण के रूप मे इसे स्वीकार करते हैं। वेदान्त और मीमासा दर्शन में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। दोनो दर्शनो के मतानुसार स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति का ग्रहण यथार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है। इस प्रमाण के द्वारा हमे एक अज्ञात तथ्य के ज्ञान की उपलब्धि होती है। क्योंकि किसी कही गई बात के द्वारा उससे सम्बन्धित अनकही बात का ज्ञान कराना ही अर्थापत्ति प्रमाण का उद्देश्य है। जैसे-देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता फिर भी वह मोटा है। यहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है कि देवदत्त यद्यपि दिन मे खाना नहीं खाता है किन्तु वह रात्रि मे खाता है। क्योंकि खाना खाना अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के द्वारा कहा गया कि बन्द कर दो। यहा पर जिस व्यक्ति को बन्द करने का निर्देश दिया गया है उसे यद्यपि यह नही कहा गया कि क्या बन्द कर दो। किन्तु फिर भी वह अनकहे दरवाजे के विषय मे संकेत को समझकर दरवाजा बन्द कर देता है। उक्त व्यक्ति के लिए यहाँ पर दरवाजे का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सम्भव मानते हैं। एक अन्य उदाहरण के अनुसार प्रातःकाल सोकर उठने पर देखा कि सारी जमीन गीली है। इस भीगी हुई जमीन को देखकर यह ज्ञान सहज ही हो गया कि रात्रि मे वर्षा हुई होगी। इस ज्ञान मे अर्थापत्ति प्रमाण ही कारण है। किसी व्यक्ति के घर जाकर पूछने पर पता चला कि वह घर मे नही है। इससे सहज ही यह सोच लिया या समझ लिया जाता है कि वह कहीं बाहर गया होगा। इस प्रकार की अनेक घटनाएं प्रतिदिन हमारे दैनिक जीवन मे घटित हुआ करती हैं जो अर्थापत्ति प्रमाण पर आधारित रहती हैं या जिनके विषय मे अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान होता है।

न्याय दर्शन के अनुयायी लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। क्योंकि इसमें किसी प्रत्यक्ष किये हुए अर्थ का अनुमान उसके नित्य सम्बन्ध के द्वारा करते हैं। अतः वे इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव नहीं करते।

अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण

वर्तमान समय में अभीष्ट स्थान पर अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि नहीं होना अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का निश्चित स्थान पर नहीं होना

अभाव कहलाता है। कुमारिल भट्ट के मतानुयायी मीमांसक लोग तथा वेदान्ती इसे छठे प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते हैं। इस प्रमाण के द्वारा हमें वस्तु के अभावात्मक विषय का ज्ञान होता है। जैसे यहा पर दावात नहीं है—ऐसा कहने पर हमे दावात का अभावात्मक ज्ञान हुआ। यद्यपि दावात का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है और प्रयत्न करने पर वह यहा लाई भी जा सकती है। किन्तु वर्तमान में यहा स्थित नहीं होने के कारण उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। अथवा यहा पर उसका अभाव है। अत दावात की अनुपलब्धि अथवा अभाव का ज्ञान हमे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण के द्वारा होता है।

मीमासक और वेदान्ती लोग इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर स्वतन्त्र रूप से इसे छठा प्रमाण मानते हैं। किन्तु नैयायिक लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष मे इसका अन्तर्भाव करते हैं। नयायिको के मतानुसार जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय के द्वारा उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। अत प्रस्तुत अनुपलब्धि ज्ञान अभावात्मक होने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण यह प्रत्यक्ष मे ही समाविष्ट है। क्योकि इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष से व्यतिरिक्त नही होता है। अत अनुपलब्धि या अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नही है।

अभाव पदार्थ का विस्तृत विवेचन पदार्थ प्रकरण के अन्तर्गत पृष्ठ १४८ पर किया जा चुका है। प्रमाणत्वेन इसकी कोई उपयोगिता नही होने से आयुर्वेद मे इसे स्वतन्त्र प्रमाण नही माना गया है।

सम्भव प्रमाण

जिसके द्वारा किसी वस्तु का कथन करने पर उसके एक देश का ज्ञान न होकर उससे सम्बन्धित समस्त अवयवो का ज्ञान होता है वह सम्भव प्रमाण कहलाता है। जैसे चाक कहने पर उसमें लगे हुए लोहे के फल तथा लकड़ी के पट आदि का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार 'पेन' शब्द का व्यवहार करने पर उसके साथ पेन से सम्बन्धित निब जीभ ट्यूब आदि सभी अवयवो का भी ज्ञान हो जाता है। इस तरह एक शब्द के द्वारा उससे अभिप्रेत द्रव्य के समस्त अवयवो का ज्ञान कराने वाला सम्भव नामक प्रमाण होता है। इस सम्भव प्रमाण को पौराणिक लोग स्वतन्त्र रूप से सातवें प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु अन्य विद्वान् एव दर्शनकार इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष मे इसका समावेश करते हैं।

आयुर्वेद मे सम्भव प्रमाण की कोई उपयोगिता नहीं होने से प्रमाणत्वेन इसे परीक्षा का साधन नहीं बतलाया गया है। अत आयुर्वेद मे यह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है।

चेष्टा का प्रमाण

चेष्टा प्रमाण वह होता है जिनमें मुख की आकृति शरीर की चेष्टाएँ अथवा मुख पर प्रकट होने वाले भावों से यथार्थ बात का ज्ञान किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के क्रुद्ध या प्रसन्न होने का भाव उसक मुख पर प्रकट हो जाता है और उससे उसके क्रोधी या प्रसन्न होने के भाव का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार किसी के द्वारा कोई अरुचिकर अथवा कड़वी वस्तु खा लेने पर उसकी विकृत हुई मुखाकृति के द्वारा उस वस्तु के ति उसकी अरुचि का ज्ञान होता है। गूंगा व्यक्ति अपने शरीर (विशेषत हाथ और मुख) की विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा अपने मनोभावो को प्रकट करता है और उसकी चेष्टाओं के द्वारा अन्य व्यक्ति उसके अभीष्ट मनोभावो को समझ लेते हैं। इस प्रकार मुखाकृति शरीर की चेष्टाएँ आदि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह चेष्टा प्रमाण कहलाता है।

तांत्रिक लोग इस प्रमाण के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इसे स्वतन्त्र नौवा प्रमाण मानते हैं। किन्तु सभी दर्शनो ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान के अन्तर्गत इसका समावेश कर लिया है। आयुर्वेद मे भी इसे प्रमाणत्वेन स्वीकार नहीं किया गया है।

परिशेष प्रमाण

परिशेष प्रमाण वह कहलाता है जिसमें विभिन्न प्रकार के पदार्थों मे से अथवा किसी समूह विशेष क अन्दर से किसी एक वस्तु को छांटकर निकाल लिया जाता है। जैसे किसी भीड मे से अपने परिचित व्यक्ति को खोज निकालाना अथवा गेहू के दानो मे से मिट्टी के कणो को बीन कर निकालना इत्यादि।

इसे दसवे प्रमाण के रूप मे कुछ लोग स्वीकार करते हैं। दार्शनिक विद्वज्जन इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। आयुर्वेद मे भी इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है।

इतिहास प्रमाण

इतिहास एक ऐसा विषय है जो अतीत काल मे घटित विभिन्न घटनाओं की जानकारी प्रस्तुत करता है। इसमे महापुरुषों ऋषियों राजाओ एव कीर्तिशेष विद्वान् आचार्यों व मनीषियों के जीवन से सम्बन्धित विशिष्टताओं प्रमुख घटनाओ तथा विषय विशेष के लिए उनके योगदान एवं अवदान का विवरण सकलित रहता है। भारतीय वाङ्मय के ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिनमे उपयु क्त विषय का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ग्रंथों में श्रीमद् वाल्मीकि रामायण श्रीमद् भागवत महाभारत आदि पुराण आदि मुख्य

हैं। इतिहास ग्रथो को अतीत कालीन घटनाओ की प्रामाणिक जानकारी का स्रोत माना जाता है। इससे देश की तत्कालीन भौगोलिक आर्थिक सामाजिक धार्मिक एव राज नैतिक स्थिति का आभास मिलता है। यदि तथ्यो को तोड मरोड कर स्वेच्छा पूर्वक प्रस्तुत नहीं किया जाय घटनाक्रमो का उल्लेख प्रमाणो एव यथार्थ बातो के आधार पर किया जाय तो इतिहास को प्रमाण मानने मे आपत्ति नही होना चाहिये। किन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न है। अत विद्वानो के द्वारा इसे प्रमाण की कोटि में नही रखा गया है।

कुछ विद्वान् इसे शब्द प्रमाण का ही अग मान कर इसे भी प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इतिहास म जो कुछ भी प्रतिपादित किया जाता है वह सवथा सत्य पर आधारित होता है। क्योंकि इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनु सार इति + ह + आस इन तीन वर्णों से इतिहास शब्द की रचना हुई है। जिसके अनुसार इति = ऐसा ह निश्चय पूर्वक आस – कहा गया है अर्थात् ऐसा निश्चय पूवक कहा गया है। अत यह प्रमाण है। अथवा इतिह का अर्थ है पारम्परिक उपदेश। जिसम पारम्परिक उपदशो को कहा गया हो-सकलित किया गया हो वह इतिहास कहलाता है। ऐसे प्राचीन ग्रथो म अतीत कालीन घटनाओ पर कथाओ के माध्यम से धर्म-अर्थ काम मोक्ष का उपदेश दिया गया है। अत महापुरुषो के जीवनवृत्त से सम्बन्धित घटनाओ का विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रथ भी इतिहास की परिधि म आ जाते हैं। वतमान म इतिहास की परिभाषा म पर्याप्त अन्तर लक्षित हो रहा है। आज इतिहास में उपदशात्मक या धम अर्थ-काम मोक्ष मूलक बातो के लिए कोई स्थान नही है। घट नाओ पर आधारित विवरण एव उनके आधार पर किया गया काल निर्धारण ही आज इतिहास का मुख्य प्रतिपाद्य है।

चतुर्दश अध्याय

तद्विद्य सम्भाषा

सम्भाषा का सामान्य अर्थ है पारस्परिक वार्तालाप और तद्विद्य का अर्थ है उस विषय या अपने विषय के ज्ञाता। अतः इसका सामान्य अर्थ यह हुआ कि अपने विषय का पाण्डित्य पूण ज्ञान रखने वाले एक ही अधीत विद्या (शास्त्र) वाले विज्ञ जनो का ऐसा पारस्परिक आलाप या वार्तालाप जो उस विषय के सम्बन्ध में ज्ञान वृद्धि एव शका समाधान के लिए किया जाता है। प्राचीन काल मे भिन्न भिन्न विषयो के लिए सम्भाषा परिषद् हुआ करती थी जिसमे विद्वज्जन निर्धारित विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए पारस्परिक मत्रणा किया करते थे। वह मन्त्रणा दो विद्वानों में भी हुआ करती थी और दो से अधिक विद्वानो मे भी। वतमान में सेमीनार, कान्फ्रेस आदि के रूप मे विभिन्न विषयो पर विचार गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं जो सम्भाषा परिषद् का ही प्रतिरूप या विकसित रूप है। इसमे अन्तर यह है कि वतमान सेमीनार काफ्रेस आदि मे वक्ताओ और श्रोताओ का समुदाय एकत्र होता है। प्राचीन काल में होने वाली तद्विद्य सम्भाषा के सम्बन्ध मे महर्षि चरक ने अपेक्षित प्रकाश डाला है। वैद्य को अपने ज्ञान की वृद्धि करने हेतु अन्य वैद्य के साथ सम्भाषा करना चाहिए— इसका स्पष्ट निदश करते हुए वे लिखते हैं— भिषक भिषजा सह सम्भाषेत।" अर्थात् चिकित्सक (वैद्य) को अन्य चिकित्सक (वैद्य) के साथ सम्भाषा (वार्तालाप) करना चाहिए।

तद्विद्य सम्भाषा से लाभ

तद्विद्य सम्भाषा की क्या उपयोगिता है और उससे वैद्य को क्या लाभ होता है? इस पर भी महर्षि प्रवर ने अपेक्षित प्रकाश डाला है। यथा—

तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति वचनशक्तिमपि चाधत्ते यशश्चाभिदीपयति पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणात् श्रुतसंशयमपकर्षति श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति अश्रुतमपि च कंचिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति, यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत्परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्, तस्मात्तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। —चरक संहिता, विमानस्थान ८।१५

अर्थात् तद्विद्य सम्भाषा ज्ञान का योग और हर्ष को करने वाली होती है यह पाण्डित्य या चातुरी को उत्पन्न करती है वाक शक्ति (बोलने का सामर्थ्य) को धारण कराती है, कीर्ति को उज्वल करती है पूर्व मे पठित या सुने हुए विषय मे सन्देह हो जाने पर पुन सुनने से सशय का निराकरण करती है और जिसे पठित शास्त्र मे सन्देह नहीं है उसे दृढ निश्चय (ज्ञान) उत्पन्न कराती है। ऐसी अनेक बातें जो पहले नहीं सुनी गई थी या पहले जिनका ज्ञान नही हुआ था तद्विद्य सम्भाषा मे सुनी जाती हैं और आचार्य अपनी सेवा करने वाले शिष्य को प्रसन्न होकर उसे जिन गूढ रहस्य वाले विषयो का क्रमश उपदेश करता है उन्हे परस्पर वार्ता करते हुए एक ही बार में कह देता है। इसीलिए कुशल पुरुष तद्विद्य सम्भाषा की प्रशसा करते हैं।

इस प्रकार जिस किसी भी विषय पर तद्विद्य सम्भाषा के माध्यम से विज्ञजनो द्वारा पारस्परिक मत्रणा एव विचार विमर्श किया जाता है वह पारस्परिक ज्ञानाभिवृद्धि के लिए तो होता ही है अनेक बार उससे विवादास्पद विषय मे किसी निष्कर्ष पर पहुचने या सिद्धान्त स्थिर करने मे भी सहायता मिलती है। प्राचीन काल मे आयुर्वेद जैसे शास्त्र के लिए आयोजित तद्विद्य सम्भाषा के द्वारा वैद्यो के ज्ञान का परिमार्जन तो होता ही था अनेक रोगो के विषय मे निर्णय करने एव उनकी चिकित्सा हेतु समुचित औषध व्यवस्था करने मे भी वैद्यो को यथोचित अवसर एव सुविधा प्राप्त होती थी। तद्विद्य सम्भाषा वैद्यो के पारस्परिक विचारो के आदान प्रदान का एक उपयुक्त माध्यम थी और इसके द्वारा वैद्यो को प्रसगानुकूल नवीन तथ्यो की जानकारी प्राप्त होती थी जिसका उपयोग वे रोगी को रोग मुक्त करने हेतु उनके हिताय किया करते थे। इसके अतिरिक्त वही सम्भाषा जब विवाद का रूप धारण कर लेती थी तो विद्वानो में अपने ज्ञान के आधार पर भीषण वाद विवाद होता था और एक पक्ष दूसरे पक्ष को अपने ज्ञान बल से हराने का प्रयत्न करता था।

तद्विद्य सम्भाषा के भेद

उपयुक्त तद्विद्य सम्भाषा दो प्रकार की बतलाई गई है—सधाय सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा। इसमें सधाय सम्भाषा को अनुलोम सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा को प्रतिलोम सम्भाषा भी कहा जाता है। संधाय सम्भाषा सामान्यत वह होती है जिसमें दोनों पक्षों में संधि एवं प्रेम पूर्वक पारस्परिक विश्वास के साथ सौहार्द युक्त वार्तालाप हो। इस प्रकार की सम्भाषा मे विभिन्न विषयो एवं तत्वो के विषय में यथोचित निर्णय किया जाता है। इसके विपरीत विगृह्य सम्भाषा में सभी प्रकार के उचित और अनुचित उपायों के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी या विपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता है। विगृह्य का तात्पर्य होता है विपरीत ग्रहण अर्थात् विपक्षी जो कुछ भी कहे

उसके विपरीत उत्तर देकर उसे पराजित करने का प्रयत्न करना। इस सम्भाषा में दोनों पक्ष एक दूसरे को पराभूत करने का प्रयत्न करते हैं।

महर्षि चरक ने उभय सम्भाषा विधियों का सविस्तार वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

सन्धाय सम्भाषा विधि—तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपनेना-नुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विस्रब्धः कथयेत् प्रच्छेदपि च विस्रब्धः, पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात न च निग्रहभयादुद्विजेत निगृह्य चैनं न हृष्येत न च परेषु विकत्थेत् न च मोहादेकान्तग्राही स्यात् न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक चानुनयेनानुनयेत तत्र चावहित स्यात। इत्यनुलोम सम्भाषाविधि।

—चरक संहिता विमान स्थान /१७

अर्थात् ज्ञान विज्ञान वचन (प्रश्न) प्रतिवचन (उत्तर) की शक्ति से सम्पन्न क्रोधरहित जिसकी विद्या अनुपस्कृत हो याने उपस्कृत (दूषित) नहीं हो अनिन्दित विनय सम्पन्न दूसरों को अपनी अनुनय-विनय की नीति से अपने अनुकूल कर लेने की कला को जानने वाले कष्ट को सहन करने वाले और प्रिय-मधुर सम्भाषण करने वाले व्यक्तियों के साथ सन्धाय सम्भाषा की जाती है। उपर्युक्त इन गुणों से सम्पन्न विद्वान के साथ वार्तालाप करते हुए जो कुछ भी कहे विश्वास पूर्वक निडर होकर कहे पूछना भी हो तो विश्वास पूर्वक निःसंकोच होकर पूछे। निःसंकोच एवं ऋजु भाव पूर्वक पूछने वाले व्यक्ति को स्पष्ट एवं विशद अर्थ युक्त उत्तर देवे निग्रह के (यह मुझे पराजित कर देगा इस) भय से स्वयं को मुक्त करे अर्थात् भयभीत नहीं होवे अपने विपक्षी (विद्वान्) को पराजित करके अत्यधिक हर्षित नहीं होवे और न ही दूसरों में इसकी चर्चा करे मोह (अज्ञान) के वशीभूत होकर एकान्तग्राही (अपनी बात के प्रति दुराग्रही) नहीं होवे अज्ञात विषय का कथन या वर्णन नहीं करे उचित रूप से अनुनय के द्वारा स्वपक्ष (अपनी बात) स्वीकार करावे और अपने उस विनय गुण की सुरक्षा में सावधान रहे। इस प्रकार यह अनुलोम सम्भाषा विधि है।

इस उपर्युक्त संधाय (अनुलोम) सम्भाषा विधि में जो बातें बतलाई गई हैं वह एक प्रकार से तद्विद्य सम्भाषा में भाग लेने वाले विद्वानों के लिए आचार संहिता है। ताकि उसमें भाग लेने वाले विद्वान अपने नैतिक दायित्व का निर्वाह करें और तत्व ग्रहण हेतु शुद्ध मन से तत्व चर्चा करते हुए सम्भाषा में प्रवृत्त हों। उपर्युक्त आचरणीय गुणों को धारण कर उनका निर्वाह करने वाले विद्वज्जन निश्चय ही किसी विवाद में नहीं पड़ते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुंचने और अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफल होते हैं। वे स्वस्थ परम्परा का निर्वाह करते हुए ऐसे सम्भाषणों की प्रतिष्ठापना करते

हैं जो दूसरो के लिए अनुकरणीय होते हैं। इस दृष्टि से सन्धाय सम्भाषा निश्चय ही ज्ञानवर्धक एव दुर्बोध विषयो को स्पष्ट करने मे सहायक होती है।

विगृह्य सम्भाषा विधि—अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्यसम्भाषायां जल्पेच्छ्रेयसा योगमात्मन पश्यन्। प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तर परावरान्तर परिषद्विशेषांश्च सम्यक् परीक्षेत। सम्यक् परीक्षा हि बुद्धिमतां कार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ शंसति तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशला। परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमान् जल्पकगुणान् श्रेयस्करान दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक्। तद्यथा श्रुत विज्ञान धारण प्रतिभानं वचन शक्ति रित्येतान गुणवान श्रेयस्करानाहु इमान पुनर्दोषवत तद्यथा—कोपनत्वमवैशारद्य भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति। एतान गुणान् गुरुलाघवत परस्य चैवात्मनश्च तुलयेत।
—चरक संहिता विमान स्थान ८/१८

अर्थात् ज्ञानवती या मूढ सुहृत्परिषद् मे अपने से हीन या सम पुरुष से विगृह्य सम्भाषा करना चाहिये। अथवा अवधान श्रवण ज्ञान विज्ञान धारणा शक्ति तथा वचन शक्ति से युक्त उदासीन परिषद् (ज्ञानवती उदासीन परिषद्) मे जल्प करते हुए सावधान होकर पर पुरुष प्रतिवादी के श्रेष्ठ गुणो एव दोषो के बल को जाचना चाहिए। जाँच कर जहाँ उसे अपने से श्रेष्ठ समझ उसे बीच मे नही लाते हुए या टालते हुए उस विषय मे जल्प ही नही करे और जहा उसे हीन समझ वहा ही उसे शीघ्र पकड ले। हीन पुरुषो को शीघ्र निग्रह करने (पकडने) मे ये उपाय काम मे आते हैं— यदि वह शास्त्र हीन (शास्त्र नही पढा हुआ) है तो शास्त्र के बड-बडे सूत्रो का पाठ करके उसे नीचा दिखाए। विज्ञान हीन याने शास्त्र के विशदार्थ ज्ञान से हीन हो तो दुर्बोध शब्द युक्त वाक्यो के प्रयोग से प्रतिपक्षी को नीचा दिखाए। यदि प्रतिवादी वाक्य को धारण न कर सकता हो तो वक्र एव लम्बे-लम्बे सूत्रो से मिश्रित बड़े-बड वाक्य बोलकर उसे पराभूत करे। यदि प्रतिवादी प्रतिभा मे हीन हो तो अनेकार्थवाची एक ही प्रकार के वचनो के द्वारा नीचा दिखाए। यदि प्रतिवादी मे वचन शक्ति (बोलने की क्षमता) मे हीनता हो तो व्यग्यार्थक वाक्यो का प्रयोग कर उसे पराभूत करे। यदि अविशारद (निपणता हीन) हो तो उसे लज्जित करके क्रुद्ध हो जाने वाले को उत्तजक या क्रोधोत्पादक शब्दो के द्वारा भीरू पुरुष को भय दिखाकर असावधान को नियमन के द्वारा— इस प्रकार इन उपायों से अपने से हीन पुरुष को पराभूत करे।

विगृह्य सम्भाषा में अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है। क्योंकि इसमें वादी और प्रतिवादी दोनो ही अपने पराभव की स्थिति में उत्तेजित होकर कार्याकार्य का विवेक खो सकते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति का निवारण युक्ति पूर्वक करना चाहिये। महर्षि चरक ने भी यही भाव व्यक्त करते हुए सावधान रहने का निर्देश किया है—

विगृह्य कथयेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत् ।
विगृह्य भाषा तीव्र हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत् ॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते ।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥

—चरक संहिता विमान स्थान ८/२२ २३

अर्थात् विगृह्य सम्भाषा युक्ति पूर्वक करना चाहिये । जो युक्तियों से सिद्ध हो उसका विरोध नही करे । तीव्र विगृह्य सम्भाषा अनेक लोगो को द्रोह या कोप उत्पन्न कर देती है और क्रुद्ध हुए व्यक्ति के लिए अकार्य और अवाच्य कुछ नहीं रहता है । अत पण्डित जन सज्जनो की सभा में कलह को पसन्द नहीं करते हैं ।

वाद जल्प और वितण्डा

उपर्यु क्त प्रकार की सम्भाषा में विमर्श योग्य जो विषय प्रस्तुत होता है या किया जाता है तथा उस पर दोनो पक्षो के द्वारा जो प्रमाण तर्क आदि प्रस्तुत किए जाते हैं और उन प्रमाण आदि के आधार पर जो स्वपक्ष प्रतिपादन एव पर पक्ष का खण्डन या निराकरण किया जाता है वह वाद कहलाता है । महर्षि चरक ने वाद के विषय म कहा है—

'तत्र वादो नाम-यत परः परेण सह शास्त्रपूर्वक विगृह्य कथयति ।

—चरक संहिता विमान स्थान ८/२८

अर्थात् शास्त्र पूर्वक परस्पर जो विगृह्य सम्भाषा होती है उसे वाद कहते हैं । अक्षपाद गौतम ने न्याय दर्शन म वाद का निम्न लक्षण कहा है—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्षप्रतिपक्ष परिग्रहो वाद ।

अर्थात् प्रमाण एव तर्क के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि एव परपक्ष का निराकरण करते हुए इस प्रकार का कथन जो सिद्धान्त के विरुद्ध नही हो तथा प्रतिज्ञा हेतु उदा हरण उपनय और निगमन इन पांच अवयवों से युक्त पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना वाद कह ा है । जैसे किसी ने कहा— अग्नि उष्ण है यह प्रतिज्ञा वचन है । क्यों ? जलाने से यह हेतु है । किस तरह ? 'आतप (धूप) की तरह'—यह उदाहरण या दृष्टान्त है । किस प्रकार ? जैसे आतप (धूप) गरम होती है और वह जलाती है उसी प्रकार अग्नि जलाती है—यह उपनय है । 'अतएव अग्नि उष्ण है'—यह निगमन है । यह पक्ष ग्रहण सिद्धान्तो के विरुद्ध नहीं है और पांच अवयवो से युक्त है ।

तत्पश्चात् प्रतिवादी भी स्वपक्ष (जो प्रतिपक्ष कहलाता है) ग्रहण करता है और पंचावयवो से युक्त निम्न प्रकार से स्वपक्ष (प्रतिपक्ष) प्रस्तुत करता है । प्रतिज्ञा

अग्नि उष्ण नहीं है। क्यों? हेतु-रूपमात्र का लक्षण होने से। उदाहरण—जैसे वायु। उपनय—जैसे वायु का स्पर्श मात्र लक्षण है और वह अनुष्ण होता है उसी प्रकार अग्नि का रूपमात्र लक्षण है। निगमन—अतः अग्नि अनुष्ण है। यहाँ पर शब्द प्रमाण एवं तर्क के आधार पर प्रतिवादी सर्व सिद्धान्त सिद्ध अग्नि के रूप मात्र लक्षण को स्वीकार करते हुए अनुमान और तर्क के द्वारा अग्नि की अनुष्णता की स्थापना करता है। यह भी सिद्धान्त से अविरुद्ध एवं पञ्चावयव से युक्त है, अतः यह प्रतिपक्ष है।

इस प्रकार पक्ष एवं प्रतिपक्ष का ग्रहण वाद कहलाता है।

जल्प और वितण्डा

महर्षि चरक ने वाद दो प्रकार का बतलाया है। यथा—

स वादो द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः जल्पविपर्ययो वितण्डा। जल्पः यथा एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति नास्तीत्यपरस्य तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः एष जल्पः जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव। —चरक संहिता विमान स्थान ८/२८

अर्थात संक्षेपतः वह वाद दो प्रकार का होता है—जल्प और वितण्डा। अपने अपने (विरुद्ध) पक्ष को लेकर वादी-प्रतिवादी का वचन जल्प कहलाता है। जल्प से विपरीत वितण्डा होती है। जैसे एक का पक्ष है—पुनर्भव होता है। दूसरे का पक्ष है (पुनर्भव) नही होता है। वे दोनो (वादी प्रतिवादी) विभिन्न हेतुओ से अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और दूसरे पक्ष का प्रतिषेध करते हैं—यह जल्प है। जल्प से विपरीत वितण्डा होती है। दूसरे (प्रतिवादी) के पक्ष में केवल दोषो का कथन करना (दोष निकालना) वितण्डा कहलाती है।

अभिप्राय यह है कि अपने पक्ष की तो स्थापना करना और परपक्ष मे केवल दोषान्वेषण करना या दोष निकालना वितण्डा होती है। न्याय दर्शन मे भी कहा है— स एव प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा अर्थात् उसी प्रतिपक्ष को स्थापना से हीन करना (हेतु-दृष्टान्त आदि से विहीन करना) वितण्डा कहलाता है।

निग्रहस्थान

पराजय को प्राप्त करना निग्रहस्थान कहलाता है। उपर्युक्त सन्धाय एवं विगृह्य सम्भाषा में जब वादी या प्रतिवादी स्वपक्ष का समर्थन या सिद्धि नही कर पाता है तो उसे पराजय स्वीकार करना पड़ती है—यही निग्रहस्थान है। जैसा कि महर्षि चरक प्रतिपादित किया है— 'निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः।

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/६५

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है—

'निग्रहस्य पराजयस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति निग्रहस्थानम् ।

अर्थात् निग्रह का तात्पर्य है पराजय । उस पराजय के स्थान की भांति स्थान याने कारण को निग्रहस्थान कहते हैं ।

न्याय दर्शन में निग्रहस्थान का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।" (न्या० १/१९)

अर्थात् विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रह स्थान कहते हैं ।

प्रतिपत्ति कहते हैं ज्ञान को । विपरीत या निन्दित प्रतिपत्ति (ज्ञान) विप्रतिपत्ति कहलाता है और दूसरे के द्वारा सिद्ध किए गए पक्ष का खण्डन नहीं करना या पक्ष के ऊपर लगाए गए दोषों का समाधान नहीं करना अप्रतिपत्ति है । ये दोनों विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति (अर्थात् नहीं समझना या समझ कर उसकी परवाह नही करना) निग्रह स्थान हैं । इन्हीं दोनो कारणो से पराजय होती है ।

आयुर्वेद में निम्न निग्रहस्थान बतलाए गए हैं—

तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वाऽननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्याननुयोग । प्रतिज्ञाहानिः अभ्यनुज्ञा कालातीतवचनम् अहेतु, न्यूनम् अधिक व्यर्थम् अनर्थक पुनरुक्त विरुद्ध हेत्वन्तरम् अर्थान्तर च ।

—चरक संहिता विमानस्थान ८/६५

अर्थात वह निग्रहस्थान ज्ञानवती परिषद् (सभा) में तीन बार कहे गए वाक्य का ज्ञान नहीं होना अथवा अननुयोज्य (वाक्य) का अनुयोग करना या अनुयोज्य (वाक्य) का अननुयोग करना होता है । अर्थात् जहां निग्रहस्थान नहीं हो वहां निग्रह स्थान समझना और जहां निग्रहस्थान हो वहां निग्रह नही करना—ये दोनों निग्रह स्थान हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाहानि अभ्यनुज्ञा कालातीतवचन अहेतु न्यून अधिक व्यर्थ अनर्थक पुनरुक्त विरुद्ध हेत्वन्तर और अर्थान्तर ये बारह भी निग्रहस्थान होते हैं ।

इस प्रकार आयुर्वेद मे ये पन्द्रह निग्रहस्थान होते हैं । न्याय दर्शन में इनसे कुछ और अधिक निग्रहस्थान बतलाए गए हैं । यथा—अप्राप्तकाल अननुभाषण अप्रतिभा और विक्षेप । इसमे पञ्चावयव को यथा कालक्रम से नही कहना 'अप्राप्तकाल' कहलाता है । विज्ञात अर्थ को परिषद या प्रतिवादी के द्वारा तीन बार बतलाए जाने पर भी नहीं कहना अननुभाषण कहलाता है । समय पर प्रतिवादी के प्रश्न का उत्तर नहीं सूझना अप्रतिभा कहलाती है । किसी कार्य के बहाने से कथा का भंग करना विक्षेप कहलाता है ।

प्रस्तुत निग्रहस्थान में अनुयोज्य अननुयोज्य अनुयोग आदि कतिपय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है । शास्त्र में उनका जो लक्षण प्रतिपादित किया गया

है उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि उन पारिभाषिक शब्दो का भावार्थ समझने में कठिनाई न हो।

अनुयोज्य—अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्त तदनुयोज्यमुच्यते। सामान्यो-व्याहृतेस्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदनुयोज्यम। यथा—संशोधनसाध्योऽयं व्याधि रित्युक्ते किं वमनसाध्य ? किंवा विरेचनसाध्य ? इत्यनुयुज्यते।

—चरक संहिता विमान स्थान ८/५०

अर्थात जो वाक्य वाक्यदोष से युक्त हो वह अनुयोज्य कहलाता है। सामान्यत कहे गए अर्थों में विशेष ज्ञान के लिए जो वाक्य (प्रश्न) कहा जाता है वह 'अनुयोज्य' कहलाता है। जैसे—यह व्याधि संशोधन साध्य है—ऐसा कहे जाने पर (विशेष ज्ञान प्राप्ति हेतु) पूछा जाता है कि क्या वमन साध्य है ? अथवा विरेचन साध्य है ? यह अनुयोजन (प्रश्न) करना पड़ता है।

अननयोज्य—अननुयोज्य नामातो विपर्ययेण। यथा अयमसाध्य।

—चरक संहिता विमान स्थान ८/५१

अर्थात् अनुयो य से विपरीत लक्षण वाले वाक्य को अननुयोज्य कहते हैं। याने वाक्यदोष से रहित वाक्य को अननुयोज्य कहते हैं। उसमे किसी प्रकार की जिज्ञासा या आकाङ्क्षा नही रहती है। अथवा सामान्यत कहा गया ऐसा वाक्य जिसमे विशेष ज्ञान के लिए किसी अन्य वाक्य के कथन की आवश्यकता न हो अननुयोज्य होता है। जैसे—यह असाध्य है।

अनुयोग—अनुयोगो नामयत्तद्विद्यानां तद्विद्य रेव सार्धतन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्न प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन परीक्षार्थमादिश्यते नित्य पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत्पर को हेतु ? इत्याह सोऽनुयोग।

—चरक संहिता विमानस्थान ८/५२

अर्थात् तद्विद्य पुरुषो का तद्विद्य पुरुषो के साथ ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन की परीक्षा के लिए सम्पूर्ण तन्त्र अथवा तन्त्र के एक भाग मे जो सम्पूर्ण प्रश्न अथवा प्रश्न का एक भाग पूछा जाता है वह अनुयोग कहलाता है। जैसे 'पुरुष नित्य है'—यह प्रतिज्ञा करने पर प्रतिवादी पूछे कि इसमे क्या हेतु है ? यह अनुयोग होता है।

अथ निग्रहस्थानो का विवरण निम्न प्रकार है—

प्रतिज्ञाहानि—प्रतिज्ञा हानि नाम सा पूर्वगहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्त परित्यजति। यथा—प्राकप्रतिज्ञां कृत्वा नित्य पुरुष इति पर्यनुयुक्तस्त्वाह अनित्य इति।

—चरक संहिता विमानस्थान ८/७

अर्थात् प्रथम की गई प्रतिज्ञा को प्रत्यनुयोग होने पर त्याग देना 'प्रतिज्ञाहानि' कहलाती है। जैसे वादी ने प्रथम प्रतिज्ञा की कि 'पुरुष नित्य है' इस पर जब प्रतिवादी ने अनुयोग व प्रत्यनुयोग किया तो झट बदल जाय और कहे—पुरुष अनित्य है। यह प्रतिज्ञा हानि है।

अभ्यनुज्ञा—अभ्यनुज्ञा नाम य इष्टानिष्टाभ्युपगमः।

—चरकसंहिता विमानस्थान ८/७१

अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट को स्वीकार करना 'अभ्यनुज्ञा' कहलाती है। परपक्ष का दोष 'इष्ट' है अपने पक्ष में दोष 'अनिष्ट' है। इन दोनों को मान लेना 'अभ्यनुज्ञा' है।

कालातीत वचन—अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवति। पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृह्णीते तत्तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति। —चरक संहिता विमानस्थान ८/५७

अर्थात् अतीत काल उसे कहते हैं जो पहले कहा जाना चाहिये उसे बाद में कहा जाय। वह काल के गुजर जाने से अग्राह्य होता है। इस प्रकार निग्रहस्थान में आए हुए को पहले निग्रह नहीं करके पश्चात् जब उसने दूसरे पक्ष का आश्रय ले लिया हो तब निग्रह करे तो कालातीत हो जाने से उसका वह निग्रह वचन निग्रह में असमर्थ होता है।

अहेतु—असाधक हेतु को अहेतु कहते हैं। जो वस्तुत हेतु नहीं होता है किन्तु हेतु की भाँति प्रतीत होता है। अनुमान के प्रकरण मे उसे हेत्वाभास भी कहते हैं।

न्यून—तत्र प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यून न्यून भवति यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन साध्यते हेतुना तच्च न्यूनम् एत नि ह्यन्तरेकृतोऽप्यर्थः प्रणश्येत। —चरक संहिता विमान स्थान ८/५५

अर्थात प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन इन पाचो मे से किसी एक से न्यून वाक्य न्यून कहलाता है। यदि कोई ऐसा साध्य है जिसकी सिद्धि अनेक हेतुओं से होती हो किन्तु उसे सिद्ध करने के लिए केवल एक ही हेतु प्रस्तुत किया जाए तो वह भी न्यून कहलाता है।

अधिक—अधिक नाम यन्न्यूनविपरीत यद्वाऽऽयुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशन-समन्यद्वा यत्किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते। यद्वा पुन प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तत्वादधिकम। —चरक संहिता विमान स्थान /५६

अर्थात् न्यून से विपरीत अधिक होता है। जैसे आयुर्वेद विषय पर वार्तालाप होने पर वहां पर बार्हस्पत्य औशनस या अन्य कोई असम्बद्ध शास्त्र के विषय मे कहा जायगा तो वह 'अधिक' कहलायेगा। अथवा प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध भी हो तो यदि दुबारा कहा जायगा तो वह पुन कहे जाने के कारण 'अधिक' कहलाता है।

न्यायदर्शन मे—'हेतूदाहरणाधिकम्' अधिक का यह लक्षण किया गया है। अर्थात् किसी साध्य की सिद्धि के लिए एक ही हेतु या जितने हेतु अपेक्षित हों उससे अधिक हेतुओं या उदाहरणों का कथन 'अधिक' कहलाता है।

व्यर्थ (अपार्थक)—व्यर्थ को ही अपार्थक कहते हैं। अपार्थक का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—अपार्थकं नाम यदनेकस्य परस्परेण चासंयुक्तमार्थकं यथा—चक्रतक्रवंशवज्रनिशाकरा इति। —चरक संहिता विमान स्थान ८/५७

अर्थात् जो अनेक पद या वाक्य पृथक् अर्थ युक्त होते हुए भी परस्पर जिनका अर्थ नहीं जुड़ता है उसे अपार्थक (व्यर्थ) कहते हैं। जैसे चक्र, तक्र वंश वज्र निशाकर

इनमे से प्रत्येक पद का अपना अपना अथ है। यदि इन्हे वाक्य के रूप मे एक स्थान पर सयुक्त कर दिया जाय तो उनका कोई अथ नही निकालेगा। अत यह अपाथक है।

अनर्थक—**अनर्थक नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते।** —चरक सहिता विमान स्थान /५७

अर्थात जो वचन कवग चवग टवग तवर्ग पवग इन पाँच वर्गों की तरह अक्षरों का समूह मात्र ही हो और किसी अथ को व्यक्त नही करता हो वह अनथक कहलाता है। न्यायदशन मे भी ऐसा ही प्रतिपादित किया गया है— **वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्।**

पुनरुक्त पुनरुक्त का लक्षण अधिक मे ही कर दिया गया है। यथा— **प्रतिसम्बाद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तत्वादधिकम।** अर्थात प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध भी यदि दुबारा कहा जाता है तो वह पुनरुक्त कहलाता है। न्याय दशनोक्त लक्षण मे भी यही भाव प्रतिपादित है। यथा— **शब्दार्थयो पुनर्वचन पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात।** अर्थात अनुवाद को छोडकर शब्द या अर्थ का बार बार कहना पुनरुक्त कहलाता है।

ये पाच (न्यन अधिक अपाथक अनथक और पनरुक्त) वाक्य दोष भी माने गए हैं।

विरुद्ध—**विरुद्ध नाम यद दष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम।**

— चरक सहिता विमान स्थान /५८

अर्थात जो वाक्य दष्टान्त सिद्धान्त और समय के विरुद्ध हो वह विरुद्ध कहलाता है। जैसे **दृष्टान्तविरुद्ध** अग्नि उष्ण है जसे जल। **सिद्धान्त विरुद्ध**— भेषज किसी साध्यरोग को हरने मे समथ नही है। **समय विरुद्ध**—कोई यह कह कि चतुष्पाद भेषज नही है तो वह आयुवदिक समय विरुद्ध हागा। यदि कोई यह कहे कि यज्ञ म पशुओ को स्पश करना या मारना चाहिए तो यह याज्ञिय समय विरुद्ध होगा। यदि कोई वक्ता यह कहे कि सब प्राणियो की हिंसा करना चाहिए तो यह मोक्ष शास्त्रिक समय विरुद्ध होगा।

हेत्वन्तर—**हेत्वन्तर नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद्विकृतिहेतुमाह।**

चरक सहिता विमानस्थान ८/७२

अर्थात जिस हतु का कथन किया जाना है उस हतु का कथन नही करके अन्य हतु का कथन करना। जसे किसी स्थान पर प्रकृति का हत वाच्य हो (कहा जाना चाहिये) वहा पर यदि प्रकृति के हत का कथन नही करके विकृति के हतु का कथन किया जाता है तो वह हेत्वन्तर कहलाता है। न्याय दर्शन मे इसका थोडा भिन्न लक्षण कहा गया है। जसे— **अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्ध विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम।** अर्थात् सामान्यत कह गए हेतु का प्रतिषध किए जाने पर उसकी विशेषता बतलाना (कहना) हेत्वन्तर कहलाता है।

अर्थान्तर — **अर्थान्तर नाम एकस्मिन वक्तव्ये परं यदाह यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह।** —चरक सहिता विमानस्थान ८/७३

कोई एक विषय का कथन करना हो किन्तु कहा जाय दूसरा विषय तो वह अर्थान्तर कहलाता है। जैसे कही ज्वर के लक्षण कहने थे किन्तु प्रमेह के लक्षण कह दिए। वह अर्थान्तर होता है।

संशय

सामान्यतः अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। इसे एक प्रकार का अयथार्थ अनुभव माना गया है जिसमे वस्तु स्वरूप का निर्णय या निश्चय नही हो पाता है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से यह यद्यपि एक मिथ्या ज्ञान है तथापि इसका स्वरूप प्रतिपादन एवं विवेचन किया जाना इसकी उपयोगिता को दर्शाता है। क्योंकि इसके अभाव मे ज्ञान का विनिश्चय होना सम्भव नहीं है। तर्क संग्रह में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया गया है— **एकस्मिन धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः।**

अर्थात एक धर्मी मे परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के वैशिष्ट्य का अवगाहि ज्ञान होना संशय कहलाता है।

आयुर्वेद शास्त्र मे भी संशय का स्वरूप एवं लक्षण प्रतिपादित किया गया है। महर्षि चरक ने संशय का उल्लेख यद्यपि ४४ वादमार्गों के अन्तर्गत किया है किन्तु इससे उसके स्वरूप मे कोई भिन्नता नही आई है। उन्होने निम्न प्रकार से उसका स्वरूप बतलाया है—

संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च एतदुभयदृष्टत्वात संशयः किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति।

—चरक संहिता विमानस्थान ८/४३

अर्थात सन्देह के लक्षणो से युक्त होने से सन्देह युक्त विषयों का अनिश्चित ज्ञान होना संशय कहलाता है। जसे देखा जाता है कि एक रोगी आयु के हितकारी समस्त लक्षणो से युक्त है और दूसरा रोगी आयुष्य के लक्षणो से युक्त नही है और समुचित चिकित्सा का लाभ नही मिलने पर या मिल जाने पर भी एक शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और दूसरा बहुत दिनो तक जीवित रहता है। इन दोनो बातो को देखने से संशय होता है कि मनुष्यो की अकाल मृत्यु होती है या नही होती।

स्वशास्त्रानुसार संशय के उभय लक्षण सार्थक हैं। आयुर्वेद मे आतुर रोग और रोगी की चिकित्सा के सन्दर्भ मे संशय का ज्ञान अपेक्षित है। गौतमकृत न्यायसूत्र मे संशय के पाँच भेद बतलाए गए हैं। **यथा—समानधर्मोपपत्ति मूलक अनेक धर्मोपपत्ति-मूलक विप्रतिपत्तिमूलक उपलब्धि व्यवस्थामूलक और अनुपलब्धि व्यवस्था मूलक।**

भ्रान्ति या विपर्यय

विपरीत ज्ञान को भ्रान्ति या विपर्यय माना माना गया है। यह अयथार्थ अनुभव होता है जो मिथ्या ज्ञान के अन्तर्गत आता है। जैसे रस्सी मे सर्प का ज्ञान होना रेगिस्तान मे मृग मरीचिका याने जल नही होते हुए भी जल की प्रतीति या ज्ञान होना। संशय की भांति यह भी यद्यपि मिथ्या ज्ञान है किन्तु दोनो मे पर्याप्त भिन्नता है। संशय में अनिश्चय की स्थिति रहती है जबकि भ्रान्ति मे भ्रम या विपरीत ज्ञान होता है। अतः दोनो मे पर्याप्त भिन्नता है।

पचदश अध्याय

सष्टि उत्पत्ति क्रम

सष्टि या सग निरूपण

सृष्टि शब्द सजि विसग धातु से बना है। सृज्यते इति सृष्टि अर्थात् जिसका सजन किया जाता है वह सष्टि कहलाती है। सृष्टि के शाब्दिक अथ के अनुसार छिपे हुए पदाथ को बाहर निकालना-यह प्रतिपादित होता है। जिस प्रकार पथ्वी के अ दर छिपे हुए बीज से धा य बाहर निकलता है उसी प्रकार इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि का रहस्य अ य त गूढतम है इसका ठीक ठीक निरूपण करना बड बड मनीषियो तथा ऋषि महर्षियो के लिए भी कठिन है।

सृष्टि विषयक वणन वेद पुराण उपनिषद दर्शन शास्त्र धार्मिक ग्रथ एव भारतीय साहित्य मे यत्र तत्र नातिविस्तरेण छट-पट रूप मे उपलब्ध होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान एव आधुनिक विज्ञानवादी विद्वानो ने भी विश्व सृष्टि के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुग नवीन तथ्यो के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है। किन्तु फिर भी सृष्टि के स्वरूप का निश्चया मक वणन सुपुष्ट प्रमाणो से युक्त कही भी उप लब्ध नही होता है। भिन्न भि न वर्ग के आचाय एव विद्वान् इस विषय मे अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते है। तथापि भारतीय दशन शास्त्रो मे उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक वणन के आधार पर समीक्षा करने के अन तर ज्ञात होता है कि सांख्य दशन मे यह प्रमुखता से प्रतिपादित किया गया है। साख्य दशन ने सष्टि की उत्पत्ति के विषय मे अभूतपूर्व कल्पना की है और उससे सम्ब धित तत्वों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।

सष्टि की उत्पत्ति के विषय म भारतीय धार्मिक ग्रन्थो मे भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। कुछ धार्मिक ग्रन्थ जिन पर वतमान व्यवहारवाद आश्रित है वे विश्व सृष्टि की उत्पति का प्रमुख कारण परमब्रह्म परमा मा को मानते हैं। सम्पूण विश्व के अधीश्वर, परिपूण परमब्रह्म परमात्मा की चेष्टा का विकास ही यह ससार है। इस जगत की उत्पत्ति स्थिति एव लय के कारणभूत परमब्रह्म परमात्मा भगवान् नारायण ही हैं जो अतान्द्रिय विभु सनातन चराचर जगत् मे अव्यक्त रूप से व्याप्त परम सूक्ष्म एवं निर्विकार हैं। जिसे वद उपनिषद् पराण स्मृतिग्रन्थ एवं धमशास्त्र एक स्वर से अनन्त तथा निर्विकल्पक मानते हैं। 'एकोऽहं बहु स्याम' इस पुष्पिका के

अनुसार वह ब्रह्म एक से बहुत होने की कामना से युक्त हुआ। किन्तु एकाकी रमण करने की अभिलाषा पूर्ण होना सम्भव नहीं है। अत उसने भी अन्य के सहयोग की अपेक्षा का अनुभव किया। सत् एवं चित् स्वरूप की अभिव्यक्ति तो अकेले ही सम्भव है किन्तु आनन्द की प्राप्ति के लिये दूसर का सहयोग होना अनिवार्य है। इसके लिये ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करने का सकल्प किया और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की। इस प्रकार परम ब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। परम ब्रह्म का यही स्वरूप सृष्टि के रूप मे विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है जिसका प्रत्यक्ष करने मे केवल योगीजन ही समर्थ हुए हैं।

वैशेषिक दशन के अनुसार परमाणुओ के संयोग से सष्टि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक दशन के प्रमुख ग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य मे सष्टि सम्बन्धी जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार जब परमात्मा की सष्टि की रचना करने की इच्छा बलवती होती है तब उसकी इच्छा से परमाणुओ मे स्वत ही क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप दो-दो परमाणुओ मे परस्पर सयोग होता है अर्थात् सजातीय दो परमाणओं के सयोग से 'द्वयणुक' का निर्माण होता है। परमाणओ की संख्या असंख्य होने के कारण तथा असख्य दो-दो परमाणओं से जन्म होने के कारण द्व यणुक भी असख्य होते हैं। उन द्व यणुकों में पुन क्रिया होने के कारण तीन द्व यणुको के सयोग से त्र्यणुक या त्रसरेण का निर्माण होता है। इसी प्रकार चार चार त्र्यणक के सयोग चतुरणुक' तथा पाँच चतुरणुक के सयोग से 'पचाणुक का निर्माण होता है। ये सभी अणुक कार्य द्रव्य होते हैं और द्व यणुक की अपेक्षा क्रमश स्थूल से स्थूलतर एव व्यक्त से व्यक्ततर होते हैं। इस प्रकार पंचाणुको के द्वारा उत्तरोत्तर स्थूल स्थूलतर स्थूलतम आदि तारतम्य से महाकाश महावायु महातेज महाजल और महापृथ्वी आदि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन कार्य द्रव्यो से जगत् के अन्य सभी द्रव्य निर्मित एवं उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि के विषय में एक अन्य विचार सरणि के अनुसार परम ब्रह्म परमात्मा ने सर्व प्रथम जल तत्व को उत्पन्न किया और उस जल में अपनी शक्ति रूप बीज को स्थापित किया। यह बीज सुवण के समान तथा सुवर्ण की कान्ति से युक्त एक अण्डे के रूप में परिणत हो गया। यही अण्डा 'हिरण्यगर्भ' की संज्ञा से युक्त हुआ। इस हिरण्यगर्भ (अण्ड) से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् चतुर्मुख अण्ड दो भागो मे विभक्त हो गया। जिसके ऊर्ध्व खण्ड से 'स्वग' एवं अध भाग से पृथ्वी की रचना हुई। मध्य भाग में समुद्र आठो दिशाए तथा आकाश की रचना हुई। इसी प्रकार महत्तत्व, अहंकार मन एव सत्व-रज-तमो गुण से युक्त अनन्त पदार्थों की

रचना हुई। पुन शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि विषयो को ग्रहण करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियो तथा विभिन्न कर्मों का सम्पादन करने वाली पांच कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति हुई। उन इन्द्रियो एव महाभूतो के सूक्ष्मरूप तन्मात्राओ से युक्त देव मनुष्य पशु पक्षी आदि समस्त जीवो की सृष्टि हुई।

गीता मे उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक विवेचन के अनुसार परमात्मा के स्वेच्छा पूर्वक दो रूप हो गए—(१) वाम भाग और (२) दक्षिण भाग। भगवान् के वाम भाग से स्त्री तथा दक्षिण भाग से पुरुष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ये दो धाराए चली और इन्ही दो धाराओ से जरायुज अण्डज स्वेदज तथा उद्भिज आदि योनियो के द्वारा जीव की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपो मे हुई। मनुष्य ही इन समस्त योनियो मे प्रमुख प्राणी है।

आयुर्वेद मे सृष्टि की उत्पत्ति का अनुकरण सांख्य दर्शन के आधार पर किया गया है। यथास्थल आयुर्वेद प्रणेताओ ने मत भिन्नता भी प्रकट की है। सांख्य दर्शन मे सृष्टि की उत्पत्ति अव्यक्त तत्त्व से मानी गई है। इसे प्रकृति भी कहा गया है। यह दृश्यमान संसार सर्व प्रथम प्रकृति मे विलीन था अथवा सभी व्यक्त तत्व अव्यक्त मे एकीभूत होकर समाविष्ट थे। न तो उसका प्रत्यक्ष ही हो सकता था और न ही किन्ही लक्षणो से उनका अनुमान किया जा सकता था। प्रकृति प्रेरक परम ब्रह्म ने स्वेच्छा से पंचभूतात्मक शरीर को धारण कर पुन आकाशादि पंच महाभूतो सहित महदादि चतुर्विंशति तत्वो जो प्रलय काल की अवस्था मे अव्यक्त मे विलिन हो गए थे को स्थूल रूप मे प्रकाशित किया और साथ ही स्वयं भी प्रकाशमान हुए।

आयुर्वेद चूंकि मानव जीवन से सम्बन्धित शास्त्र है अत उसमे ऐसे सभी विषयो का प्रतिपादन किया गया है जो जीवन विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि गर्भ धारण से भी पूर्व की स्थिति से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त घटनाक्रम का प्रसंगोपात्त वर्णन या उल्लेख इस शास्त्र मे मिलता है। इसके अतिरिक्त यह शास्त्र विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो से अनुप्राणित होने के कारण न केवल मनुष्य की अपितु सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे भी अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। यही कारण है कि महर्षि सुश्रुत एव महर्षि चरक ने इस विषय मे अपने गम्भीर चिन्तन के आधार पर जो मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह महत्वपूर्ण एव उपयोगी है।

आयुर्वेद मे सृष्टि की उत्पत्ति का जो स्वरूप निरूपित किया गया है वह अपने आप मे परिपूर्ण एव अद्वितीय है। इसका कारण सम्भवत यह है कि आयुर्वेद ने सृष्टि के विषय मे अधिक गहराई मे न जाकर तथा उसकी सूक्ष्मता को ग्रहण न कर उसके सरल स्थूल एव बुद्धिगम्य स्वरूप का विवेचन किया है। आयुर्वेद मे सृष्टि की उत्पत्ति

का मूल कारण अव्यक्त माना गया है। उस अव्यक्त तत्व से अन्य व्यक्त तत्वो की उत्पत्ति एवं सृष्टि के विकास का विवेचन महर्षि चरक ने अत्यन्त सुन्दर रूप से किया है

'सर्वभूतानां कारणमकारण सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगत सम्भवहेतुरव्यक्त नाम। तदेक बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठान समुद्र इवौदकानां भावानाम।

—सुश्रुत सहिता शारीरस्थान १/३

अर्थात् जो समस्त प्राणियो की उत्पत्ति का कारण है किन्तु स्वयं अकारण है (किसी अन्य तत्व से उत्पन्न नहीं होने के कारण स्वय कारण रहित है) सत्व रज-तम इन तीन लक्षण वाला है (महदादि तत्वो से युक्त होने के कारण) अष्टविध रूप वाला है और सम्पूर्ण ससार की उत्पत्ति में कारण है वह अव्यक्त नामक तत्व है। वह एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञो (पुरुष आत्मा) का अधिष्ठान है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जलचर प्राणियो का आधार (आश्रय) होता है उसी प्रकार एक ही अव्यक्त असख्य क्षेत्रज्ञो का आश्रय होता है।

महान और अहकार तत्व की उत्पत्ति

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिग एव तल्लिगाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहकार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति।

—सुश्रुत सहिता शारीरस्थान १/४

अर्थात उन्ही तीन (सत्व रज-तम) लक्षणो वाले अव्यक्त से उन्हीं तीन लक्षणो से युक्त महत तत्व की उत्पत्ति होती है। उस महत् तत्व से उन्ही तीन लक्षणो वाला अहकार तत्व उत्पन्न होता है। त्रिविध (सत्व रज-तम) लक्षणो से युक्त वह अहकार तीन प्रकार का होता है—वैकारिक तेजस और भूतादि।

इन्द्रियो की उत्पत्ति

तत्र वैकारिकादहकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मक मन।

—सुश्रुत सहिता शारीर स्थान १/४

अर्थात तैजस अहकार की सहायता से वैकारिक अहकार से उन्ही तीन (सत्व रज-तम) लक्षणो वाली ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं। वे निम्न प्रकार हैं—श्रोत्र त्वक चक्षु जिह्वा घ्राण वाक (वाणी) हस्त उपस्थ (शिश्न मूत्रेन्द्रिय) पायु (गुद-मलेन्द्रिय) पाद और मन। इनमें से पहले वाली पाँच ज्ञानेद्रिया अन्य पाँच कर्मेन्द्रिया और मन उभयात्मक होता है।

पञ्चतन्मात्राओं एवं महाभूतों की उत्पत्ति

भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते । तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रमिति । तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः । तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः ।

—सुश्रुत संहिता शारीर स्थान १/4

अर्थात् तैजस अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार से उन्हीं तीन (सत्व रज-तम) लक्षणों वाली पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे शब्दतन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। इन पञ्चतन्मात्राओं के विशेष शब्द स्पर्श रूप रस और गंध होते हैं। इन तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसे-आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी।

एवमेषा तत्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ।

इस प्रकार चौबीस तत्वों का वर्णन किया गया।

इन चौबीस तत्वों के संयोग से शरीर का निर्माण होता है। इस चतुर्विंशति तत्व समुदायात्मक शरीर को क्षेत्र कहते हैं। आत्मा या पुरुष इस शरीर रूपी क्षेत्र में स्थित रहता है और वह उस क्षेत्र तथा तद्गत समस्त भावों को जानता है इसलिए उसे (आत्मा को) क्षेत्रज्ञ कहते हैं। चतुर्विंशति तत्वों के समुदाय से निर्मित शरीर जड एवं अचेतन होता है। उसे चेतना प्रदान करने वाला पच्चीसवां तत्व पुरुष (आत्मा) होता है। यह पुरुष सृष्टि के मूल कारण प्रकृति और महदादि कार्य रूप विकार से संयुक्त होकर चेतना प्रदान करने वाला तथा प्रवर्तक होता है। यद्यपि प्रधान (अव्यक्त प्रकृति) अचेतन है और अचेतन द्रव्य प्रवृत्ति नहीं करता है तथापि जिस प्रकार नव प्रसूता माता के स्तनों में शिशु के पोषण एवं वृद्धि के लिए अचेतन दूध प्रवृत्ति करता है। उसी प्रकार अचेतन प्रधान भी पुरुष के कैवल्यार्थ अर्थात् मोक्षार्थ प्रवृत्ति करता है। महर्षि सुश्रुत ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति । सत्यप्यचैतन्ये प्राधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ।

—सुश्रुत संहिता शारीरस्थान १/

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद ने सांख्य मत के जिस सिद्धांत का अनुसरण किया है उसके अनुसार सृष्टि के आदि मूल तत्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। इन में भी पुरुष अपरिणामी (परिवर्तन शून्य) एवं निर्विकार है। इसके विपरीत प्रकृति परिणामी है और उसमें उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर विकार रूप महदादि तत्वों का प्रादुर्भाव होता है। इनमें प्रकृति के नाम से जाना जाने वाला मूल तत्व अव्यक्त और उससे समुत्पन्न शेष महदादि अन्य तत्व व्यक्त होते हैं। पुरुष इन दोनों ही प्रकार के तत्वों से सर्वथा भिन्न निर्विकार रूप होता है। अव्यक्त से व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति होने वाली क्रिया में पुरुष का कर्म केवल इतना है कि वह प्रकृति

के साथ विद्यमान रहता है। यद्यपि पुरुष का अपना कोई कार्य नही है। अर्थात् उससे कोई तत्व या द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु प्रकृति से उत्तरोत्तर जो काम द्रव्य उत्पन्न होते हैं उसमे उसका सान्निध्य रहता है। पुरुष के सान्निध्य से ही प्रकृति अन्य तत्वों के उत्पादन मे समर्थ होती है। इसीलिए प्रकृति को प्रसवधर्मी और पुरुष को अप्रसवधर्मी कहा गया है।

यद्यपि प्रकृति और पुरुष मे अनेक विषमताए हैं। जैसे प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व रज-तम से युक्त जड़ विषय रूपा और अचेतन होती है जबकि पुरुष इससे विपरीत त्रिगुणातीत विवेकी विषयी और चेतन होता है। इस प्रकार दोनो विधर्मी है और परस्पर अलग रह कर कुछ नहीं कर सकते हैं। एक दूसरे के ससग मे आने पर ही दोनो की सृष्टि की रचना मे प्रवृत्ति होती है। परिणामत सृष्टि की रचना होती है। यहां एक शका यह उत्पन्न होती है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही स्वभावत एक दूसरे से विपरीत या विरोधी एव भिन्न हैं तो इनका पारस्परिक मिलन क्यो और कसे होता है तथा ये किस प्रकार सष्टि की रचना मे प्रवत्ति करते हैं। इसका समाधान सांख्य कारिका में निम्न प्रकार से किया गया है—

पग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सग। —सांख्य कारिका २१

इसके अनुसार पग्वन्ध न्याय से दोनो (प्रकृति और पुरुष) का सयोग होकर सर्ग (सष्टि) की उत्पत्ति या रचना होती है। साख्योक्त पग्वन्ध (पंगु-लंगडा और अधा) न्याय निम्न प्रकार है—

किसी जगल मे एक अधा और एक लगडा रहता था। एक दिन अचानक जब उस जगल मे आग लगी तो दोनो घबडाए। क्योकि अधा देख नही सकता था कि वह किधर जाय और लगडा भाग नही सकता था। अकस्मात् दोनों का मिलन हुआ। लगड को अध ने अपने कधो पर बठाया और लगडा अध को रास्ता बतलाता गया। इस प्रकार दोनों उस जगल से बाहर निकल आए और विपत्ति से बच गए। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का परस्पर सयोग सृष्टि की उत्पत्ति करता है।

तत्व निरूपण

तत्व शब्द का सामान्य अर्थ होता है वह मूल द्रव्य जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई अथवा सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश के साथ जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण के अनुसार तत्व शब्द की निष्पत्ति 'तनु विस्तारे' धातु से हुई है। अत तत्व के शाब्दिक अर्थ के अनुसार सम्पूर्ण ससार जिसके विस्तार से आच्छादित है अथवा सम्पूर्ण चराचर जगत् में जो व्याप्त होकर स्थित है वह तत्व कहलाता है।

तत्व के विषय में विभिन्न दर्शनो ने अपने अपने सिद्धान्तानुसार भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत कर भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। इस विषय मे दर्शन शास्त्र एक मत स्थापित नहीं कर पाए हैं। सांख्य दर्शन में तत्वों का विवेचन सुव्यव-

स्थित रूप से उपलब्ध होता है। उसके मतानुसार मूल प्रकृति 'अव्यक्त' ही वह सर्व प्रथम तत्व है जिससे अन्य व्यक्त तत्वो एव सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में साख्य दशन पच्चीस तत्वो का अनुमोदन करता है। वशेषिक दर्शन में भी किंचित् परिवतन के साथ उन्ही तत्वो को स्वीकार किया गया है। कितु वह तत्वो की कुल सख्या चौबीस मानता है। वेदात दशन तथा उपनिषद् कालीन दार्शनिक विद्वान् एकमात्र परम तत्व ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जगत् मिथ्या है— ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या। मीमासा दशन के सूत्रकार जमिनी का मत इस से ठीक विपरीत है। उनके मतानुसार सम्पूण बाह्य जगत् सत्य है। अर्थात जैसा वह दृष्टिगत होता है व वसा ही और यथाथ रूप है। जैमिनी के मतानुसार आत्मा अनेक है और स्वग का अस्तित्व विद्यमान है। कितु स्वग मे प्राप्त होने वाला सुख ऐश्वय एव भोगोपभोग ससार के भोगो की भाँति ही भौतिक है। वे वेदो का प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं। चार्वाक दशन मे प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित तत्वो की व्यवस्था अय दशनो से सवथा भिन्न है। वह पृथ्वी जल तेज और वायु इन चार को ही जगत के लिए उपयोगी मानता है। गीता मे ससार के लिए मख्य रूप से तीन तत्वो का ही वणन किया गया है। यथा प्रकृति पुरुष और अमत तत्व। ये तीन तत्व ही ससार के उत्पादक एव नियामक है। जन दशन मे जो तत्व व्यवस्था स्वीकृत की गई है वह मुख्यत आत्मोकष परक है। अत आत्मा की शुद्धि एव तदनन्तर उसकी मक्ति के लिए ही तत्वा का विशेष महत्व है। जन दशन मे स्वीकृत तत्व व्यवस्था जन दशन की दष्टि से सष्टि की उत्पत्ति म प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक नहीं है। उसके मतानुसार सृष्टि तो अनादि काल से इसी प्रकार चली आ रही है और अनत काल तक इसी प्रकार चलती रहेगी। उसका कर्त्ता या नियता कोई नही है। जैन तत्व मीमासा के अतगत स्वीकृत तत्वो की सख्या क्रमश दो पाच सात और नौ है। दो तत्व यथा—जीव और अजीव। पाच तत्व यथा—धम अधम आकाश काल और पुदगल। सात तत्व यथा—जीव अजीव आस्रव बध सवर निजरा और मोक्ष। इन सात तत्वा मे पुण्य और पाप इन दा तत्वो का मिला लेने से तत्व सख्या नौ हो जाती है। तत्वा के इस सख्या विभाजन म भी सात तत्व विशेप महत्वपूण हैं और इन्ही सात तत्वा पर जन दशन मे विशेष जोर दिया गया है। इन तत्वो का सम्यक श्रद्धान एव सम्यक ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति म सहायक होता है।

आयुवद मे जो तत्व व्यवस्था स्वीकार की गई है वह बहुत कुछ साख्य दर्शन से समानता रखती है। कही कहीं उसी के अतगत वशेषिक दशन के मत को भी ग्रहण कर लिया गया है। आयुवद सम्मत तत्व मीमांसा प्रत्यक्षत आयुर्वेद के मूल प्रयोजन स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम आतुरस्य च विकारप्रशमनम् पर आधारित एवं

अनुप्राणित है और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक होती है। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम मे भाग लेने वाले पच्चीस तत्व होते हैं। इन पच्चीस तत्वो का सम्यक ज्ञान जिसे हो जाता है वह किसी भी आश्रम का पुरुष हो चाहे वह ब्रह्मचारी हो चाहे सन्यासी हो चाहे गृहस्थी हो वह (तीन प्रकार के) दुखो से अवश्य ही मुक्त हो जाता है—इसमे कोई सशय नही है। आचार्यों ने इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्न श्लोक मे किया है—

पञ्चविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र सशय ॥

—स शि स ६/११

तत्वों का वर्गीकरण

साख्य दर्शन मे प्रतिपादित पच्चीस तत्वो को ज्ञान की सुविधा के लिए निम्न चार वर्गों मे विभाजित किया गया है—

१ **प्रकृति या मूल प्रकृति**—वह तत्व जो दूसरे तत्व को उत्पन्न करने मे कारण होता है किन्तु स्वय किसी से उत्पन्न नही होता। अर्थात् उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण नही होता प्रकृति कहलाता है। स्वयं कारण रहित होने से उसे मूल 'प्रकृति अथवा विकार रहि होने से अविकृति भी कहते हैं। सख्या की दृष्टि से यह तत्व केवल एक होता है। आदि मूल तत्व अव्यक्त को ही प्रकृति या मूल कहते हैं।

२ **प्रकृति विकृति**—जो तत्व अन्य त वो को उत्पन्न करता है वह प्रकृति और जो स्वय दूसरे त वो से उत्प न होता है वह विकृति कहलाता है। अत अन्य तत्वो को उत्पन्न करने के कारण तथा स्वम किसी अन्य त व से उत्पन्न होने के कारण उसे प्रकृति विकृति कहते हैं। तत्व मीमासा मे इनकी सख्या सात है। महान् अहकार और पाच त मात्राए—ये सात तत्व प्रकृति विकृति कहलाते हैं।

३ **विकृति या विकार**—जो स्वय दूसरे त वो से उत्प न होता है किन्तु स्वय किसी अन्य त व को उत्पन्न करने मे असमर्थ रहता है विकृति या 'विकार कहलाता है। तत्व व्यवस्था मे इनकी सख्या सोलह मानी गई है। ग्यारह इन्द्रिया और पाच महाभूत ये सोलह तत्व कार्यमात्र होने से विकार कहलाते हैं। इनसे कोई अन्य तत्व उत्प न नही होता है।

४ **न प्रकृति न विकृति**—जो न तो किसी तत्व को उत्पन्न करता है और न ही किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होता है। किसी अन्य तत्व को उत्पन्न नही करने से न प्रकृति और स्वय अनुत्पन्न होने से न विकृति अर्थात् न कारण और न कार्य होने से उसे न प्रकृति न विकृति कहते हैं। यह तत्व केवल एक मात्र पुरुष होता है।

सांख्य कारिका में उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृति/महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात मूल प्रकृति (अव्यक्त) अविकृति महदादि सात तत्व प्रकृति-विकृति इन्द्रियादि सोलह विकार और पुरुष न प्रकृति न विकृति होता है।

प्रकृति या अव्यक्त

जो अन्य तत्वो को उत्पन्न करती है वह प्रकृति कहलाती है। यथा— **तत्वान्तरोत्पादनत्व प्रकृतित्वम।**

प्रकृति मे अन्य तत्वो के उत्पादन की क्षमता रहती है। इसलिए वह कारण है। अन्य समस्त तत्व उसके कार्य हैं। समस्त तत्व उसी से उत्पन्न होने के कारण वह मूल प्रकृति भी कहलाती है। वह स्वयं किसी का कार्य या विकार नही होने से अविकृति वाचक भी होती है। प्रकृति शब्द की परिभाषा भी इसी अर्थ को ध्वनित करती है। यथा— **प्रकरोतीति प्रकृतिः।**

प्रकृति का कोई स्वरूप विद्यमान नही होने से अथवा उसकी कोई अवस्था नही होने से या वह स्वयं व्यक्त नही होने से उसे अव्यक्त संज्ञा से भी व्यवहृत किया जाता है। प्रकृति यद्यपि संसार के समस्त पदार्थों या कार्यद्रव्यो का कारण होती है किन्तु वह कारण होते हुए भी व्यक्त नही होती। इसीलिए उसे अव्यक्त संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। व्यक्त से भिन्न और विपरीत धर्मावलम्बी अव्यक्त होता है। महदादि व्यक्त तत्वो मे सामान्यतः जो धर्म होते हैं वे अव्यक्त मे कदापि नही होते हैं। व्यक्त सदैव उत्पत्ति और विनाशशील होता है। वह अव्यापक सक्रिय अनेक स्वकार णाश्रित प्रधान का ज्ञापक सावयव और परतन्त्र होता है। इसके विपरीत अव्यक्त सर्वथा अहेतुमत् नित्य व्यापक निष्क्रिय एक अनाश्रित अलिंग अनवयव (अवयव रहित) और स्वतन्त्र होता है। अव्यक्त (प्रकृति) त्रिगुणात्मक होता है। अर्थात अव्यक्त में सत्व रज और तम तीन गुण विद्यमान रहते हैं। क्योकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो गुण कारण मे नही होते वे कार्य मे भी स्वतन्त्र रूप से नही आ सकते। अन्तर केवल इतना होता है कि सृष्ट पदार्थों मे वे गुण विषमावस्था एवं कार्यकर स्थिति मे होते हैं किन्तु अव्यक्त (प्रकृति) मे वे गुण साम्यावस्था एवं अकार्य कारी स्थिति मे होते हैं। इसलिए प्रकृति का निम्न लक्षण सांख्यसूत्र मे प्रतिपादित किया गया है— **सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** अर्थात सत्व रज और तम इन तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है।

महत्तत्व

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम मे अव्यक्त से उत्पन्न होने वाला प्रथम व्यक्त तत्व

'महत्' होता है। इसे महत्त् तत्व या बुद्धि तत्व भी कहते हैं। आयुर्वेद तथा दर्शन शास्त्रो मे बुद्धि तत्व का प्रचलित प्रसिद्ध सामान्य अर्थ ज्ञान' होता है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे बुद्धि तत्व विशिष्टार्थवाची के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। कुछ आचार्यों के मतानुसार ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग नहीं हो सकता। अत' सर्वव्यवहार शब्द प्रयोग का हेतु ज्ञान है। वह ज्ञान ही बुद्धि पदवाची है। यथा—'व्यवहारमात्रहेतुर्ज्ञानं बुद्धि प्रकीर्तिता— अर्थात प्रत्येक व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। दीपिकाकार के मतानुसार अनुव्यवसायगम्य ज्ञान ही बुद्धि है। विषय का ज्ञान व्यवसाय है और व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। जैसे यह घट है इस प्रकार के घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है और उसके अनन्तर मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है—ऐसा जो ज्ञान होता है उसको अनुव्यवसाय कहते हैं। इस अनुव्यवसाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे बुद्धि कहते हैं। शिवादित्य के कथनानुसार आत्मा का आश्रय करके रहा हुआ जो प्रकाश है उसका नाम बुद्धि है। सांख्य दशन के अनुसार प्रकृति के प्रथम परिणाम महत्तत्व रूप अन्त करण विशेष को बुद्धि कहते हैं और निमल बुद्धि के विशेष परिणाम को ज्ञान कहते हैं। अर्थात बाह्य ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषय देश मे पहुचकर घट पट आदि विषय रूप मे परिणत हुई बुद्धि को ज्ञान कहते है। स्वच्छ बुद्धि मे स्थित ज्ञान से चैतन्य रूप पुरुष के भेद का ज्ञान नही होने से 'मैं जानता हू इस प्रकार का जो अभिमान होता है उसे उपलब्धि कहते हैं। किन्तु न्याय एव वशेषिक दशन में बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान को पर्याय रूप माना गया है। यथा बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम (न्याय सत्र १।१।१५) यथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्याया (वै सू ८/१२)। आयुर्वेद शास्त्र मे अध्यवसायात्मिका व्यवसायात्मिका एव निश्चयात्मिका तत्व को बुद्धि कहा गया है तथा उसकी गणना अन्त करण मे की गई है। अर्थात पुरुष (आत्मा) का ज्ञान कम तथा उसके फल रूप भोग (सासारिक दु ख सुख) और अपवग (मोक्ष) जिन साधनो की सहायता से होते हैं उन्हे करण कहा जाता है। ये करण दो प्रकार के होते है—बाह्य करण और अन्त' करण। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पाच कर्मेन्द्रिया बाह्य करण कहलाते हैं। मन बुद्धि और अहकार ये तीन अ त करण कहलाते हैं। इनमें बुद्धि का कम अध्यवसाय अथवा निश्चय करना है। अर्थात् मन के द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् पुरुष जो निश्चय करता है कि यह करना चाहिए अथवा नहीं ? वहां जाना चाहिए या नहीं ? यह कहना चाहिए या नहीं ? इत्यादि हिताहित विषय का विवेक होना ही बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य हित का का अनुसरण और अहित का परित्याग करता है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सांख्य दर्शन के मतानुसार बुद्धि तत्व प्रकृति का ही परिणाम है और यह दार्शनिक परिभाषा के अनुसार 'महत्तत्व' के नाम से व्यवहृत

होता है। प्रकृति जब पुरुष से संयुक्त होती है तो अपनी अव्यक्तावस्था एवं त्रिगुण साम्यावस्था का परित्याग कर व्यक्त एवं त्रिगुण वैषम्ययुक्त अनेक तत्वों को उत्पन्न करती है। उन व्यक्त तत्वों में प्रथम तत्व होता है—महत या महान्। यही महत्तत्व बुद्धि तत्व भी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

यदेतद् विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्।
महत्तत्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्वमिहोच्यते॥

आयुर्वेद में बुद्धि और बुद्धि के कार्य के विषय में निम्न विवरण उपलब्ध होता है—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तच्च गुणतो दोषतोऽपि वा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥

— चरक संहिता शारीर स्थान १/२२-२३

अर्थ—मन सहित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषय का ग्रहण होने के पश्चात् मन और बुद्धि का व्यापार होता है। इन्द्रियार्थ (विषय) का ग्रहण होने के अनन्तर मन के द्वारा संकल्प किया जाता है कि गृहीत विषय गुण युक्त होने से ग्राह्य है अथवा दोष युक्त होने से त्याज्य है। तत्पश्चात् उस विषय के सम्बन्ध में स्थिर निश्चय होता है वही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। इसे ही अध्यवसाय भी कहते हैं।

अहंकार

प्रकृति (अव्यक्त) से उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्वों की परम्परा में दूसरा व्यक्त तत्व अहंकार है जो उपर्युक्त महत्तत्व से उत्पन्न होता है। महत्तत्व की भांति यह भी त्रिगुणात्मक (सत्व रज और तम से युक्त) होता है। अहंकार में तीनों गुणों की विषम रूपा स्थिति रहती है। तीनों गुणों की वैषम्यावस्था के कारण ही अहंकार तत्व मनुष्यों में ममत्व भावना का उत्पादक होता है। सामान्यतः अहं भावना को ही अहंकार कहते है। मनुष्यों में सामान्यतः अभिमान (स्वाभिमान) या स्वयं को दूसरों से पृथक रखने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह अहंकार जनित ही होती है। सांख्यकारिका में अहंकार का अभिप्राय अभिमान ही ग्रहण किया गया है। यथा अभिमानोऽहंकारः।

संसार के विभिन्न पदार्थों में मनुष्य का जो यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं हूं यह मेरा है मैं इसका अधिकारी हूं मैं इससे पृथक हूं अथवा वह मुझ से भिन्न है इत्यादि भाव या वाक्य अहं भाव के द्योतक हैं और ये सब अहंकार से प्रेरित हैं। स्वाभिमानी व्यक्ति सदैव अपने अभिमान की रक्षा करता है और कभी भी वह परतन्त्रता स्वीकार नहीं करता। स्वतन्त्र प्रवृत्ति एवं स्वेच्छाचारी वृत्ति ही उसके स्वभाव का गुण होता है। यह अहंकार का ही परिणाम है।

आयुर्वेद सम्मत सृष्टिक्रम

आयुर्वेद के मतानुसार सृष्टि के उत्पत्ति क्रम मे निम्न प्रकार से चतुर्विंशति तत्वो का सयोग होता है। यथा—

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टम ।
भतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पचैव पच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सज्ञिता ॥

—चरक सहिता शारीरस्थान १।६३ ६४

अर्थ—ख आदि अर्थात आकाश वायु तेज जल और पृथिवी इन पांच महाभूतो के सक्ष्म अश (पाच तन्मात्राए) बुद्धि (महान् या महत्तत्व) अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अहकार ये आठ तत्व भूत प्रकृति कहलाते है। विकार सोलह होते हैं—पाच ज्ञानेद्रिया (श्रोत्र त्वक चक्ष जिह्वा और घ्राण) पाच कर्मेद्रिया (हस्त पाद उपस्थ गुद वाक) और मन सहित पाच अर्थ (इद्रियो के विषय शब्द स्पर्श रूप रस गध) ये विकार कहलाते है।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद बुद्ध्याहमिति मन्यते ।
पर खादीन्यहकाराबुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥
तत सम्पूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।

—चरक सहिता शारीरस्थान १।६६ ६७

अर्थात—अव्यक्त से बुद्धि तत्व की उत्पत्ति होती है। (जिसे सुश्रुत ने महान् या महत्तत्व की सज्ञा दी है) बुद्धि तत्व स अहकार उत्पन्न होता है। अहकार से सूक्ष्म महाभूत क्रम से उत्पन्न होते है। तब सम्पूर्ण अगो की उत्पत्ति होने पर जात अर्थात उत्पन्न हो गया—ऐसा कहा जाता है।

आयुर्वेद मे पच महाभूत से ही इद्रियो और तन्मात्राओ की उत्पत्ति मानी गई है। जबकि साख्य दशन आदि मे अहकार से इद्रियो और तन्मात्राओ की तथा तन्मात्राओ से पञ्च महाभूत की उत्पत्ति मानी गई है। आयुर्वेद मे पञ्च महाभूतो से इद्रियो की उत्पत्ति होने से इद्रिया भौतिक मानी गई हैं न कि अहकारिक। अत आयुर्वेद सम्मत सृष्टि के उत्पत्ति क्रम मे अव्यक्त से महान्-महान् से अहकार अहकार से पञ्च महाभूत पञ्च महाभूतो से यारह इद्रिया और सूक्ष्म तन्मात्राए उत्पन्न होती हैं।

चरकानुमत चतुर्विशति तत्व

सृष्टि के उत्पत्तिक्रम मे महर्षि चरक ने चौबीस तत्वो का ही परिगणन किया है। उन्होंने प्रकृति और पुरुष को पृथक पृथक न मान कर दोनो को सयुक्त रूपेण 'अव्यक्त' पद से ग्रहण किया है। वे चतुर्विंशति तत्वो की गणना निम्न प्रकार से करते हैं—

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥
— चरक संहिता शारीरस्थान १।१७

अर्थ—धातु भेद से अर्थात प्रकृति विकृति भेद से यह (चिकित्साधिकृत पुरुष या कम पुरुष) पुरुष चौबीस तत्वो का समुदाय रूप है। आयुर्वेद मे चौबीस तत्वो की राशि से उत्पन्न पुरुष को राशि पुरुष भी कहा गया है। चौबीस तत्व निम्न है— मन दश इद्रियां और पाच अर्थ ये सोलह विकार और धातुरुपा प्रकृति अर्थात अव्यक्त महान् अहका और पच महाभत ये आठ प्रकृतियाँ और उपयुक्त सोलह विकार मिल कर चौबीस त व होते हैं जो धातु पुरुष या राशि पुरुष को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पच महाभूतो का प्रकृति वग मे कथन होने से सूक्ष्म महाभूत अर्थात पच तन्मात्राओ का ग्रहण करना चाहिए। यहा अव्यक्त पद से प्रकृति और पुरुष का सयुक्त रूप ग्रहण करना चाहिए तब ही पुरुष का चतुर्विंशतिक व सिद्ध होता है। यदि अव्यक्त का अथ केवल प्रकति ही ग्रहण किया जाय तो पुरुष मे पच विंशतिकत्व आ जायगा जो आयुर्वेद शास्त्र मे ग्राह्य नही है। अत आयुर्वेद सम्मत तत्त्व विनिश्चय साख्य मत से सवथा भि न है। अव्यक्त पद यहा के लिए आया है। सामा यत पद यहा के लिए आया है। सामा यत अव्यक्त पद मूल प्रकृति के लिए ही ग्राह्य है। इस के साथ विकार का भी ग्रहण किया गया है। अत यहा पुरुषोपहित प्रकति समझना चाहिए। क्योकि पुरुषाधिष्ठित प्रकति से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

जसा कि पूव म बतलाया जा चका है कि साख्य दशन मे मुख्य रूप से पच्चीस त वो का ग्रहण किया गया है। इनमे प्रकति आदि चौबीस त व अचेतन एव पच्चीसवा तत्व पुरुष को चेतन निरूपित किया गया है। इनमे यह पुरुष ही भोक्ता है और प्रकति भोग्य। यदि पुरुष का ग्रहण न किया जाय तो चेतना शून्य शरीर मे रोग—आरोग्य की प्रवत्ति सम्भव नही है। आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम और आतुरस्य विकारप्रशनम् है। यह कार्य तब ही सम्पन्न हो सकता है जब रोगारोग्य का कोई भोक्ता हो। अत पुरुष का ग्रहण करना अनिवाय है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए महर्षि चरक द्वारा आयुर्वेद मे प्रतिपादित चिकित्साधिकृत चतुर्विंशतिक पुरुष समीचीन एव युक्तियुक्त है। इस तत्व समुच्चय मे अव्यक्त तत्व पुरुष सयुक्त प्रकति का द्योतक है।

व्यक्त और अव्यक्त मे अन्तर एवं साम्य

सृष्टि के उत्पत्ति क्रमान्तर्गत उपयक्त तत्व विवेचन मे मुख्य रूप से दो प्रकार के तत्वो का वणन दृष्टिगत हुआ। प्रथम अव्यक्त तत्व और दूसरे उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्व। दोनो ही प्रकार के तत्वो में पाए जाने वाले कुछ धर्मों मे तो असमानता होती है और कुछ धर्मों मे समानता होती है। इसी का दिग्दर्शन साख्यकारिका की निम्न कारिकाओ में किया गया है—

> हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
> सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
> त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
> व्यक्तं तथा प्रधानम् ॥

अथ—हेतु वाला (उत्पद्यमान) अनित्य (विनाश शील), अव्यापी (अव्यापक) सक्रिय अनेको में आश्रित (अनेक स्वकारणाधीन) लिंग वाला (प्रधान का ज्ञापक) सावयव (अवयवयुक्त) और परतन्त्र (स्वकारणाधीन) तत्व को 'व्यक्त' कहते हैं। इन धर्मों से विपरीत धर्मों वाला तत्व अव्यक्त कहलाता है। अर्थात् अव्यक्त में व्यक्त तत्व के विपरीत निम्न धर्म होते हैं—अहेतुमत् नित्य व्यापक निष्क्रिय, एक अनाश्रित अलिंग निरवयव और स्वतन्त्र।

दोनो तत्वो (व्यक्त और अव्यक्त) के धर्मों में निम्न साम्य परिलक्षित होता है—दोनो ही तत्व त्रिगुणात्मक (सत्व रज तमो गण वाले) होते हैं दोनो ही तत्व अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी होते हैं।

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के उत्पत्ति क्रम मे भाग लेने वाले मुख्य रूप से दो तत्व हैं— प्रकति और पुरुष। दोनो ही तत्वों के धर्मों मे कुछ समानता होती है और कुछ असमानता। प्रकति-पुरुष के जिन धर्मों में समानता होती है वह उनका साधर्म्य होता है और जिन धर्मों मे असमानता होती है वह उनका वैधर्म्य होता है। प्रकति और पुरुष का साधर्म्य या समान धर्मत्व निम्न है—

> उभावप्यनादी उभावप्यलिंगौ उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगता विति।
>
> —सुश्रुत संहिता शारीर स्थान १/६

अर्थात् प्रकति और पुरुष दोनो अनादि (आदि रहित) और अनन्त (अन्त रहित) हैं दोनों अलिङ्ग (लिङ्ग रहित) और नित्य (अविनाशी) होते हैं दोनो ही अपर (इन दोनो के परे कोई पदार्थ नहीं) है और दोनो ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं।

प्रकृति पुरुष का वैधर्म्य

प्रकति और पुरुष में अनेक धर्म ऐसे होते हैं जिनमें समानता नहीं है। धर्मों की यह असमानता ही वैधर्म्य कहलाता है। इसे तत्वो की विधर्मता भी कह सकते हैं। प्रकृति पुरुष का वैधर्म्य निम्न है—

> "एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।"
>
> —सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/६

अर्थात् प्रकृति एक और अचेतन है। वह त्रिगुणा (सत्व रज, तम गुण वाली) बीज धर्मिणी (महदादि तत्वो को बीज रूप मे धारण करने वाली) और प्रसवधर्मिणी (महदादि विकारो को उत्पन्न करने वाली) है। वह अमध्यस्थ धर्मिणी (सत्वादि गुणों के प्रभाव मे आने वाली) है। इनके विपरीत पुरुष (आत्मा) अनेक चेतन सत्वादि गुणो से रहित अबीजधर्मी और मध्यस्थ धर्मी है।

प्रकति-परुष का साधर्म्य और वैधर्म्य निम्न वर्गीकरण के द्वारा सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है—

साधर्म्य		वधर्म्य	
प्रकृति	पुरुष	प्रकृति	पुरुष
अनादि	अनादि	एका	अनेक
अनन्त	अनन्त	अचेतना	चेतन
अलिंग	अलिंग	त्रिगुणा	अगुण (गुण रहित)
नित्य	नित्य	बीजधर्मिणी	अबीजधर्मी
अपर	अपर	प्रसवधर्मिणी	अप्रसवधर्मी
सर्वगत	सर्वगत	अमध्यस्थधर्मिणी	मध्यस्थधर्मी

प्रकृति पुरुष के सयोग का कारण

सम्पूण सष्टि एक कार्य है। जहा कार्य होता है उसके मूल मे कारण अवश्य होता है। सृष्टि रूप काय का मूल कारण है प्रकति और परुष का सयोग। जब तक प्रकति और पुरुष का सयोग नहीं होता है तब तक सृष्टि की उत्पत्ति होना सम्भव नही है। न तो केवल प्रकति ही इस सृष्टि रूप कार्य को उत्पन्न करने मे समथ है और न केवल पुरुष के द्वारा ही यह काय होना सम्भव है। प्रकति यद्यपि सक्रिय (क्रियावती) है किन्तु अचेतना होने के कारण वह स्वय इस काय मे प्रवत्त नही हो पाती है। इसी प्रकार पुरुष यद्यपि सचेतन है किन्तु निष्क्रिय होने से उसकी भी इस कार्य मे स्वतन्त्र रूपेण प्रवृत्ति होना सम्भव नही है। इसलिए चेतनावान् पुरुष से संयुक्त होकर ही प्रकति अपनी क्रियाशीलता के कारण सृष्टि रूप काय को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है तब उससे महदापि तत्व प्रादुर्भू त होते हैं। प्रकति स्वय अचेतनावती या जडात्मिका होने से सृष्टि रूप कार्य की उत्पत्ति मे कैसे प्रवृत्त होती है ? इसको निम्न दृष्टान्तों के द्वारा समझा जा सकता है—

(१) दूध स्वयं जड़ एवं अचेतन है, किन्तु माता के गर्भ में जब सन्तान आती है तब से ही माता के स्तनों में दूध का संचय होने लगता है और सन्तानोत्पत्ति होने पर उसके पोषण एवं वृद्धि के लिए स्वत ही माता के स्तनों से दूध की प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति भी पुरुष से संयुक्त होकर रचना कार्य प्रारम्भ करती है।

(२) जिस प्रकार संसार को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए कालचक्र सतत रूपेण चलायमान रहता है अर्थात् वर्षा शरद हेमन्त शिशिर बसन्त और ग्रीष्म इन ऋतुओं की प्रवृत्ति ससार के नियमित सन्तुलन के लिए स्वत होती है उसी प्रकार पुरुष को संसार के बन्धनों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रकृति की स्वत प्रवृत्ति होती है और उसके द्वारा सृष्टि चक्र अविकल रूप से चलता रहता है। इस प्रकार प्रकृति सृष्टि रचना में स्वत प्रवृत्त होती है।

(३) जिस प्रकार अभीष्ट सिद्धि के लिए मनुष्य विभिन्न कार्यों मे स्वत प्रवृत्ति करता है। प्रत्येक सम्भव उपाय के द्वारा अभीष्ट अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है उसी प्रकार पुरुष के अभीष्ट साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि रचना मे स्वत प्रवृत्त होती है और शरीर के माध्यम से उसे मोक्ष प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है।

(४) जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों के लिए नृत्य गीत आदि मे प्रवृत्त होती है और अपने विभिन्न प्रकार के हाव भाव के प्रदर्शन द्वारा दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति सृष्टि की सुन्दर रचना करने के लिए स्वत प्रवृत्त होती है और अपने विभिन्न रूपों के द्वारा पुरुष को आकर्षित करने का प्रयत्न करती है।

इस प्रकार जब पुरुष प्रकृति की ओर आकर्षित होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष के साथ संयोग करती है। निष्क्रिय किन्तु सचेतन पुरुष के साथ सक्रिय जडात्मिका (अचेतन) प्रकृति का संयोग होने पर प्रकृति सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होती है और स्वयं में बीज रूप से विद्यमान महान् आदि विकार तत्वों को उत्पन्न करती है। यहां प्रकृति को एक नाचने वाली सामान्य स्त्री के रूप में तथा पुरुष (आत्मा) को एक सामान्य पुरुष (मनुष्य) के रूप में समझने पर इसे भली भांति समझा जा सकता है। जिस प्रकार नाचने वाली एक सामान्य स्त्री अपने अनेक प्रकार के चित्ताकर्षक हाव भावों एवं मनमोहक नाच गानों से दर्शकों का मनोरंजन कर उन्हें मुग्ध कर देती है और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार प्रकृति भी विविध प्रकार के भोग्य विषयों के द्वारा पुरुष को मुग्ध कर अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष इन सांसारिक विषयों का उपभोग कर आनन्द का अनुभव करता है

और फिर उन्हीं विषयो मे रमण करता रहता है। उन विषयो की प्राप्ति नहीं होने पर वह दुःख का अनुभव करता है और उन्हे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अहकार से विमूढ होकर वह सृष्टि का कर्तृत्व अपने मे ही मानने लगता है और इस मिथ्या एव भ्रम पूर्ण प्रपच मे फस कर पुन पुन नवीन शरीर धारण करता है। जब तक पुरुष अहकार से विमूढ होकर प्रकृति के माया जाल में फंसा रहता है तब तक मोहवशात उसे मुक्ति नही मिलती है और कर्म-बन्धन के कारण वह संसार मे अनन्त काल तक आवागमन करता हुआ विभिन्न योनियो मे भ्रमण करता रहता है। जब पुरुष को यह ज्ञात हो जाता है कि वह तो स्वय निर्विकार निरहकार त्रिगुणातीत अकर्ता और चिदानन्द स्वरुप है तथा ससार के समस्त विषय उसे भटकाने वाले और उसके लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति मे बाधक है तो वह ससार के भौतिक विषयो से विमुख होकर स्वानुभव मे लीन होने का प्रयत्न करता है। तब ही उसे यह भी बोध होता है कि वह संसार से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र है कर्त्री और त्रिगुणात्मिका तो प्रकृति है। प्रकृति से उसका कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार वह स्वय को ससार एव प्रकृति से सर्वथा भिन्न समझने लगता है। तब पुरुष स्वय प्रकृति से विरक्त होकर आत्म स्वभाव मे लीन हो जाता है। इस स्थिति मे प्रकृति स्वय पुरुष का सग छोड देती है। प्रकृति से रहित होकर पुरुष जब अपने समस्त कर्म बन्धनो का विच्छेद (क्षय) करके विकार रहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो निर्मल अव्याबाध एव अक्षय ज्ञान के प्रकाश पुज से भासमान होकर केवलत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

त्रिगुण निरूपण

साख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति मे सक्रिय रूप से भाग लेने वाले तीन गुण हैं। यथा-सत्व रज तम। इन तीनो गुणो की समानता ही प्रकृति कहलाती है। जब तक इन तीनो गुणो का सन्तुलन ठीक रहता है तब तक ही प्रकृति का अस्तित्व रहता है। इन तीनो मे न्यूनाधिकता आ जाने अथवा सन्तुलन बिगड जाने से यह विकृति मे परिवर्तित हो जाती है। विकृति मे भी इन तीनो गुणो की व्यापकता रहती है। अत सृष्टि के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण योग रहता है।

सत्व रज तम इन तीनो के लिए गुण शब्द का व्यवहार अत्यन्त रूढ एव प्रसिद्ध हो गया है। अष्टाग सग्रह के रचयिता आचार्य वाग्भट् ने भी इन्हें गुण की ही कोटि मे रखकर इनके लिए महागुण शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वस्तुत गुरु, लघु, आदि भौतिक गुणो के समान ये गुण नही हैं। ये द्रव्य हैं जिनमे गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनके लिए गुण सज्ञा गौणी है।

सस्कृत वाङ्मय एव विभिन्न शब्द कोशो से गुण शब्द के अनेक अर्थ बतलाए

गए हैं। उसके मुख्य अर्थों में से एक है डोरी (रज्जू) तथा दूसरा है राजा आदि के उपकरण (साधन) भूत अमात्य आदि। ये गुण (अप्रधान) होते हैं। इनके सादृश्य से सत्व आदि को भी गुण कहा जाता है। क्योंकि ये सत्व-रज-तम पुरुष को उसी प्रकार ससार के जन्म-मरण सुख-दु ख आदि के बन्धन मे बाधते हैं जैसे डोरी (रज्जू) से पशु बाधा जाता है। जिस प्रकार अमात्य (मत्री) आदि राजा के सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करते हैं उसी प्रकार सत्व रज-तम भी पुरुष (जीवात्मा) के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रयोजनो को सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्यों के निम्न मत द्रष्टव्य हैं—

'सत्वादीनि द्रव्याणि न च वैशेषिकगुणा संयोगविभागवत्वात् लघुत्वगुरुत्व-चलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तत्र शास्त्रे गुण शब्द· पुरुषोपकरणत्वात्। —विज्ञानभिक्षु।

अर्थात् सत्वादि तीनो द्रव्य हैं वैशेषिक गुण नही। क्योंकि ये सयोग और विभागवान् होने से तथा लघुत्व गुरुत्व चलत्व आदि धर्म होने से ये द्रव्य हैं। शास्त्रो मे सत्वादि के लिए गुण शब्द का व्यवहार इसलिए किया गया है कि ये पुरुष के उपकरण (साधन भूत) हैं। यह मत श्री विज्ञानभिक्षु का है।

'लघुत्वादिगुणयोगात सत्वादित्रय द्रव्यं तत्र गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्।
—प्रसिद्ध वेदान्ती महादेवकृत वृत्ति।

अर्थात् लघुत्वादि गुणो का योग होने से सत्व आदि तीन (सत्व रज-तम) द्रव्य हैं। ये तीनो पुरुष के उपकरण (साधन) होने से इनमे गुण शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह मत प्रसिद्ध वेदान्ती श्री महादेव का है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार द्रव्य मे लघु-गुरु आदि गुण तथा विभिन्न कर्म पाए जाते हैं उसी प्रकार सत्व रज-तम इन तीनो मे भी लघु-गुरु आदि गुण तथा प्रकाश करना चलन आदि कर्म पाए जाते हैं जिनका विवेचन आगे किया जायगा। अत· सत्वादि वस्तुत गुण न होकर द्रव्य हैं।

'सत्वरजस्तमांसि द्रव्याणि न तु गुणा· संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादि-धर्मकत्वात् गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धहेतुत्वयोपचारिक।

अर्थात्—सत्व रज-तम ये तीनो द्रव्य हैं गुण नहीं। सयोग-विभाग लघुत्व चलत्व-गुरुत्व आदि धर्म-गुण होने से ये तीनों द्रव्य हैं। इन में गुण शब्द का प्रयोग रज्जु साम्य के कारण पुरुष बन्ध में हेतु होने से औपचारिक है। अर्थात् जिस प्रकार रज्जु को औपचारिक रूप से गुण कहा जाता है, किन्तु वह पशु बधन के लिए प्रयुक्त होती है। उसी प्रकार सत्व आदि भी पुरुष का बंधन करते हैं और औपचारिकतावश उन्हें गुण कहा जाता है। वस्तुत ये गुण नहीं है। यह मत अन्य दार्शनिक विद्वान का है।

सत्व रज-तम के लक्षण

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्वं लघु प्रकाशकमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

अर्थ—गुण अर्थात् सत्व रज तम ये तीनो गुण क्रमश प्रीत्यात्मक (सुखात्मक) अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) और विषादात्मक (मोहात्मक) हैं। ये क्रमश प्रकाश प्रवृत्ति और नियम के लिए हैं। ये अन्योन्याभिभव अर्थात परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत रहते हैं। ये अन्योन्याश्रय अर्थात एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। ये अन्योन्य जनन अर्थात एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले होते है। ये अन्योन्यमिथन वृत्ति वाले अर्थात एक दूसरे से मिलकर रहने वाले हैं। ये अन्योन्यवत्ति अर्थात् एक दूसरे मे रहने वाले हैं। सत्व गुण लघु अर्थात् अगो मे लघुत्व उत्पन्न करने वाला और प्रकाश अर्थात बुद्धि को प्रकाशित करने वाला होता है। रजो गुण उपष्टम्भक अर्थात् सघर्ष या उत्तेजना पैदा करने वाला और चल अर्थात गतिशील या गति को उत्पन्न करने वाला होता है। तमो गुण गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करने वाला और वरणक अर्थात् आवरण करने वाला होता है। प्रदीप के समान मिलकर ये अपने गुण प्रकट करते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सत्व रज-तम ये तीनो निम्न धर्म वाले होते हैं—

सत्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम् ।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥

—काश्यप संहिता सूत्रस्थान अ २८

निद्राहेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते ।

—सुश्रुत संहिता शरीरस्थान ४।३५

अर्थ—सत्व को प्रकाशक रज को प्रवर्तक तम को नियामक और तीनो को परस्पर मिलकर रहने वाला समझना चाहिए। तम निद्रा को उत्पन्न करने मे कारण और सत्व जागृत करने मे कारण समझना चाहिए।

सत्व गुण के लक्षण—

सत्व गुण का विशेष लक्षण लघुता (लाघव) है। लघुता के कारण ही द्रव्य ऊर्ध्वगति वाला होता है। जैसे—प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओ की ऊर्ध्वगति का कारण सत्व गुण है। सत्व गुण वाय्वात्मक होता है, अथवा वायु की लघुता का कारण सत्व गुण है। लाघव के कारण ही द्रव्यो की तिर्यक गति होती है। जैसे— वायु की गति।

सत्व का दूसरा मुख्य लक्षण है प्रकाशकत्व । अर्थात् यह प्रकाश उत्पन्न करने वाला अथवा द्रव्यों को प्रकाशित करने वाला होता है । शरीर में स्थित रहकर सत्व गुण बुद्धि को प्रकाशित करता है । यह ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियो उभयेन्द्रिय (मन) बुद्धि और अहंकार इन तेरह करणों में परिलक्षित होता है । सत्व गुण इन तेरह करणों को प्रकाशमान करता है जिससे निर्मलज्ञान प्रस्फुटित होता है। ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और मन की संरचना में भी सत्व गुण का बाहुल्य रहता है । बुद्धि और अहंकार मे भी शेष दो गुणो के साथ सत्व गुण विद्यमान रहता है । उपयुक्त त्रयोदश करणो की अपने अपने विषयो को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सत्व गुण के कारण होती है । सत्व गुण के इस वैशिष्टय या धर्म को प्रकाश या प्रकाशकत्व कहते हैं । इन्द्रियो में सत्व गुण की जितनी अधिकता होती है विषय प्रवृत्ति एव ज्ञान ग्रहण क्षमता भी उनकी उतनी ही अधिक होती है । अपने कर्म सम्पादन मे भी वे उतनी ही अधिक समर्थ होती हैं । इन्द्रियो की विषय प्रवृत्ति ज्ञान ग्रहण क्षमता एव स्वकर्म सम्पादन का सामर्थ्य सत्व गुण के लघुत्व के कारण होता है । चेतन द्रव्यों में सत्व गुण की अधिकता का प्रयोजन ज्ञान का प्रकाश है ।

सत्व गुण अनेक मानवीय प्रवृत्तियों एव धार्मिक वृत्तियों का कारण होता है । सत्व गुण का परिणाम सुख होता है । सत्व गुण के उत्कर्ष (अधिकता) के कारण उत्पन्न मन की निर्मलता शुद्ध ज्ञान शुद्ध कर्म आदि सुख के कारण होते हैं । प्रसाद (इन्द्रियों की प्रसन्नता एव निर्मलता) लाघव (स्फूर्ति उत्साह) अनासक्ति (भोग विलास के प्रति विरक्ति) प्रीति (प्रसन्नता या सौहार्द भाव) क्षमा (क्रोधाभाव) सन्तोष अनुकम्पा सरलता मृदुता लज्जा विवेक आदि सद्गुण सुख के ही रूप एव सत्व गुण के परिणाम विशेष हैं ।

रजो गुण के लक्षण—

रजो गुण का विशेष लक्षण या धर्म हैं चलत्व । चलत्व का सामान्य अर्थ होता है गति शीलता अथवा प्रवृत्ति शीलता । इस चलत्व धर्म के कारण ही रजो गुण समस्त चेतन या अचेतन द्रव्यों की गति या प्रवृत्ति मे कारण होता है । द्रव्यों में होने वाली गतिशीलता प्रवृत्तिशीलता एव क्रियाशीलता का मुख्य कारण रजो गुण है । मन का चाञ्चल्य भी रजो गुण की अधिकता का ज्ञापक है । रजो गुण की बहुलता वाले प्रवृत्ति वाले कम निद्रा लेने वाले, तीव्र स्वभाव वाले और जल्दी जागने वाले (स्वानिद्रः) होते हैं । रजो गुण वाले मनुष्य दैविक प्रकृति वाले होते हैं वे स्पष्ट वक्ता एवं तीखी वाणी वाले होते हैं ।

यद्यपि सत्व गुण एवं तमोगण अपने अपने विशेष कार्यों का सम्पादन करते हैं, किन्तु वे तब तक अपने कार्यों का सम्पादन नही कर सकते जब तक उन्हें रजोगुण प्रेरित न करे। अपने कार्यों को करने के लिए वे क्रियाशीलता रजोगुण से प्राप्त करते हैं। अत रजो गुण ही ससार के समस्त पदार्थों को प्रेरणा प्रदान करने वाला होता है। रजो गण का दूसरा धर्म उपष्टम्भक इसी तथ्य का द्योतक है। उपष्टम्भक शब्द का अर्थ होता है—प्रवतक प्ररक चालक।

रजो गुण का परिणाम दु ख होता है। अथात मनुष्य को दु ख की अनुभूति या मन की खिन्नता का प्रतिपादक रजो गुण होता है। क्योंकि रजो गुण से प्रतिकूल वेदना होती है। मन के लिए प्रतिकल वेदना ही दु खजनक होती है। शोक खेद मान मद-मसर आदि इसी दु ख के रूप हैं। अत अ तमन मे उत्पन्न होने वाले ये सभी भाव रजोगुण की अधिकता को निरूपित करते हैं। इन भावो की न्यूनाधिकता रजो गण की न्यूनाधिकता पर निभर है।

रजोगुण का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति है। मनुष्य स्वभावत शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता है और उसके परिणाम स्वरूप वह शुभ या अशुभ बध को बाधता है। शुभ या अशुभ बध ही प्राणियो के ज म या मरण का कारण है। ससार मे पुन पुन जन्म धारण करने के कारण अनेक कष्ट उठाते हुए विभि न दु खो को सहना पडता है। अत शुभाशुभ कार्यों मे प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य अन्त मे ज म मरण आदि के द्वारा दु खो से पीडित होता है। इसीलिए रजो गुण का परिणाम दु ख कहा गया है। रजो गण के कारण ही ससार का यह चक्र अनादि काल से चलता आ रहा है अनन्त काल तक चलता रहेगा और पुरुष (आ मा) इसमे भ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार चलत्व (प्रवत्ति शीलता) उपष्टम्भकत्व (प्ररण या प्रवतन) और दु ख (प्रतिकल वेदना) ये तीन लक्षण रजो गुण के निरूपित किए गए हैं।

तमो गण के लक्षण—

तमो गुण का विशेष लक्षण है गुरुत्व। इसका अभिप्राय है गुरुता या भारी पन। यह लघुता का विरोधी गुण है। इसके कारण द्रव्यो मे म दता जडता (विषय ग्रहण मे असामर्थ्य) और निष्क्रियता होती है। यह गति एव प्रवृत्ति मे अवरोध उत्पन्न करने वाला होता है। निरोधात्मक होने के कारण यह अशुभ परिणाम कारक होता है। अचेतन द्रव्यो की रचना का मुख्य कारण उनकी तमोगुण प्रधान रचना है। चेतन द्रव्यो मे भी तमो गण की अधिकता होने पर मोह (अविद्या अज्ञान मिथ्या ज्ञान) बुद्धि की अल्पता इन्द्रियो की अपने विषयो मे अल्प प्रवृत्ति एव अल्प विषय-ग्रहण सामर्थ्य आदि विकार होते हैं। स्वाभिमान का अभाव पराधीनता वृत्ति भय

की भयंकरता आदि विकृतियाँ भी तमोगुण जनित होती हैं। मन का गौरव भी तमोगुण जनित होता है।

तमो गुण का दूसरा लक्षण आवरण है। इसका अभिप्राय यह है कि यह अपनी गुरुता के कारण सत्व गुण और रजो गुण को सदा दबाए रखता है, उनका नियमन नियन्त्रण करता है। इस स्थिति मे जब कभी तमोगुण का उत्कर्ष (आधिक्य) होता है तो रजो गुण की प्रवृत्ति शीलता मन्द हो जाती है और द्रव्य यदि चेतन (प्राणी) हो तो वह सर्वथा निष्क्रिय या मन्दक्रिया हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के आवरण से सत्वगण की भी ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है और पुरुष को अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। यह बुद्धि मन अहकार और इन्द्रियो को आवृत कर उन्हें स्वकार्य प्रवृत्ति से रोकता है। इस प्रकार तमो गुण सत्व और रज का नियामक है।

तमो गुण की साम्यावस्था अर्थात् सत्वगुण एवं रजो गुण के साथ समानान्तर स्थिति प्रवृत्ति परक एव सृष्टि की उत्पादक व नियामक होती है किन्तु तमोगुण की परिवृद्धावस्था विकृति कारक एव अहितकारक होती है। तमोगुण शरीर के प्राकृत कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। साथ ही आत्मा इन्द्रिय मन बुद्धि और अहकार का आवरण कर उन्हे अपने प्राकृत कार्यों से रोकता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य मे धी धृति स्मृति मेधा का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता। व्यक्ति का मानसिक विकास भी अवरुद्ध रहता है और मन का चाचल्य भाव आवृत रहने से समाप्त प्राय हो जाता है।

तमो गुण का परिणाम अथवा तीसरा विशिष्ट लक्षण विषाद है। विषाद धर्म मोहात्मक होता है। अत मोह के वशीभूत होकर पुरुष (आत्मा) ससार के विभिन्न द्रव्यो में अपनी प्रियता मोह एव ममत्व को व्यक्त करता है। यही कारण है कि वह अपनी प्रियवस्तु के नष्ट हो जाने पर दुःखी होता है। शरीर के प्रति राग (अपनेपन) की अनुभूति होने में मोह ही कारण है और मोह तमो गुण का परिणाम है। तमो गुण के कारण मनुष्य के ज्ञान केन्द्र आवृत या सुप्त रहते हैं, जिससे उसको सम्यक ज्ञान की अनुभूति नही होती और वह मोह मे अनुरक्त रहता हुआ अज्ञान-मिथ्याज्ञान या अविद्या का शिकार बन जाता है। तमो गुण के कारण शरीर में गुरुता की वृद्धि होती है जिससे मनुष्य आलसी निद्रालु, निष्क्रिय परिश्रम करने से कतराने वाला भीरु, मन्द गति और धीरे-धीरे काम करने वाला होता है, तमो गुण के कारण सदा अवसाद बना रहता है, जिससे मनुष्य में प्रमाद कुटिलता मूर्खता कृतघ्नता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। ये समस्त दुर्गुण मोहात्मक अथवा मोह के ही रूप हैं।

इस प्रकार तमो गुण तीन लक्षण प्रधान है। गुरुत्व आवरण और मोह। इस

तीनों लक्षणों के द्वारा ही वह अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है और सत्व तथा रजो गुण के नियमन मे समर्थ होता है।

तीनों गुणों के समान लक्षण

उपयुक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि सत्व गुण सुखात्मक रजोगुण दुःखात्मक तथा तमोगण मोहात्मक होता है। सत्व मे प्रकाश का 'रज मे प्रवृत्ति का और तम मे नियमन का सामथ्य है। ये गुण क्रमश प्रकाश क्रिया और स्थितिशील है। तीनो गुणो के उपयुक्त धम (लक्षण) एक दूसरे से विशिष्ट एव भिन्न है। किंतु इनमे समान धम भी विद्यमान हैं जिनके कारण इनका संतुलन बना रहता है। जसे इन तीनो का प्रथम समान धम है अन्यो याभिभव। अर्थात ये तीनो गुण परस्पर एक दूसरे के धम से अभिभत होते रहते हैं। अथवा ये तीनो गुण अपने अपने विरोधी स्वभाव के कारण एक दूसरे को दबाते हैं—अभिभव करते हैं। यथा—जब सत्वगण उत्कृष्ट होता है तब रज और तम सत्व के प्रीति और प्रकाश धर्म से अभिभूत हो जाते (दब जाते) हैं। अथवा जब सत्व गण का उत्कष (आधिक्य) होता है तब वह रजो गुण और तमो गण को दबाकर सुख आदि के रूप मे अपनी क्रिया (शान्तावृत्ति) को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार जब रजो गुण उत्कट होता है तब सत्व और तमो गुण रज के प्रीति और प्रवृत्ति धर्म से अभिभूत हो जाते हैं। अथवा रजोगुण का प्राबल्य होने पर वह सत्व और तमो गुण को अभिभूत करके अपने स्वरूप (घोरावृत्ति) को प्रकाशित करता है। इसी भाति जब तमो गुण की अधिकता होती है तब तमोगुण के विषाद और स्थित्यात्मक धर्म के द्वारा सत्व और रजो गुण दब जाते हैं। इन दोनो गुणो को दबाकर तमो गुण अपनी क्रिया (मूढा वृत्ति) को उत्कट करता है। किन्तु यह स्थिति उस समय होती है जब उनकी पारस्परिक शक्ति मे न्यनाधिकता हो। इसके विपरीत जब तीनो गुणो का बल समान होता है उस समय ये तीनो गुण एक दूसरे को समान भाव से दबाकर रखते हैं। परिणाम स्वरूप तीनो में से किसी की भी प्रतिरोधात्मक या अभिभवात्मक क्रिया नहीं हो पाती। यह अवस्था केवल प्रलय के समय होती है। उस समय स्थूल-सूक्ष्म चेतन—अचेतन समस्त कार्य द्रव्य अपने मूल कारण प्रकृति मे लीन हो जाते हैं। वस्तुत सत्व रज तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है। इसके विपरीत सर्ग काल या सृष्टि की उत्पत्ति के समय जब इन तीनो गुणो का वैषम्य हो जाता है तब प्रत्येक गुण अपनी-अपनी ज्ञान प्रवृत्ति स्थिति आदि क्रियाओ को प्रदर्शित करता है। जिससे उत्तरोत्तर कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

तीनों गुणो में दूसरा साम्य यह होता है कि तीनों गुण अपनी-अपनी वृत्ति

(क्रिया) का सम्पादन एक दूसरे का आश्रय लेकर अथवा एक दूसरे की सहायता से करते हैं। अर्थात् सत्व गुण की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति रजो गुण के कारण और उसका नियमन (मर्यादा) तमोगुण के कारण होता है। इसी प्रकार रजो गुण और तमोगुण अपनी-अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश द्वारा सहायता प्राप्त करते हैं। रजो गुण की क्रिया का सम्पादन सत्वगुण के प्रकाश और तमोगुण के नियमन की सहायता से होता है और स्वयं प्रवत्ति के द्वारा सत्व और तम की सहायता करता है। तमो गुण को अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश और रजो गुण की प्रवृत्ति की सहायता प्राप्त होती है जबकि तमो गुण स्वयं अपने नियमन धर्म के द्वारा दोनों की सहायता करता है।

तीनो गुणो मे तीसरा साम्य यह है कि प्रलयावस्था मे प्रकृति रूप समान द्रव्य की उत्पत्ति भी वे एक दूसरे की सहायता से करते हैं। क्योंकि तीनों गुणों की साम्या-वस्था ही प्रकृति जनक होती है। प्रकृति के निर्माण में वे अपना सन्तुलन बनाए रखते हैं। जब तक इनका सन्तुलन बना रहता है तब तक प्रकृति स्वरूपावस्थित होती है।

तीनो गुणो का चौथा साम्य यह है कि ये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न अव्यक्त व्यक्त (सूक्ष्म-स्थूल) चेतन-अचेतन स्थावर जगम सब द्रव्यो को उत्पन्न करते हैं और मिलित रूप से ही तीनो गुण सब द्रव्यो मे सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तीनो गुणो की क्रियाए एक दूसरे की विरोधिनी-परस्पर विपरीत गामिनी या विरुद्ध गामिनी होती हैं। सत्वगुण सुखात्मक लघुत्वात्मक ज्ञानात्मक एव प्रकाशात्मक होने से रजोगुण की दु खात्मक प्रवृत्ति तथा तमोगुण की गुरुत्वात्मक मन्द अज्ञानात्मक अविद्यात्मक एव तमसात्मक प्रवृत्ति का विरोधी है। इस प्रकार तीनो गुणो की क्रिया परस्पर विपरीत एव विरुद्ध होने पर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्यो के निर्माण तथा ससार के सचालन क्रम में उपयुक्त प्रकार से सर्वदा साथ रहते हुए परस्पर सहायता करते हुए अपनी क्रिया प्रतिपादित करते हैं।

परस्पर विरुद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी एक साथ मिलकर रहने का तीनों गुणों का मुख्य प्रयोजन यह है कि ये तीनो गुण पुरुष के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए विविध साधन उपस्थित करते हैं। प्रयोजन के इस एक्य के कारण तीनों गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। जैसे दीपक की वर्ति और तैल जलकर समाप्त हो जाते हैं। किन्तु वर्ति तैल और अग्नि तीनो मिलकर दीपक रूप एक प्रयोजन को परस्पर सहकार पूर्वक सिद्ध करते हैं। यही स्थिति तीनों गुणों की भी है। एक अन्य उदाहरण के द्वारा भी इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। जैसे शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारणभूत वात-पित्त-कफ एक दूसरे के विरुद्ध धर्म वाले होते हैं, तथापि परस्पर विरुद्ध धर्म वाले होते हुए भी प्रयोजन के साम्य के कारण परस्पर सह-कार करते हुए ही क्रिया करते हैं। ☐

षोडश अध्याय

लय और प्रलय निरूपण

सृजन से विपरीत स्थिति सहारात्मक होती है। सृजन को सृष्टि या सर्ग कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति सहार को लय या प्रलय कहते हैं। सृष्टि मे जिस प्रकार एक एक सूक्ष्म परमाण का सयोग होकर काय द्रव्य का निर्माण होता है उसी प्रकार सहार मे सष्टि के विपरीत काय द्रव्य के प्रत्येक परमाण का विघटन होकर कार्य द्रव्य का विनाश हो जाता है। परमात्मा मे जब सष्टि के सहार करने की इच्छा होती है तब पथ्वी आदि द्रव्यो के परमाणुओ मे क्रियाशीलता उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप दो दो परमाणओ का परस्पर विभाग हो जाता है और उन मे विघटन होने लगता है। दो दो परमाणुओं का परस्पर विभाग होने से दो परमाणओ के सयोग का नाश (विघटन) होता है। सयोग-नाश (परमाण विघटन) होने से द्वयणुक रूप कार्य द्रव्य का नाश हो जाता है। इसी भाति द्वयणुक का नाश होने से उपयुक्त त्र्यणक चतुरणक का भी नाश होता है। त्र्यणुक चतुरणुक आदि के नाश से महा पथ्वी आदि समस्त काय द्रव्यों एव पदार्थों का विनाश हो जाता है। ससार के समस्त पदाथ अपने अपने मूल कारण रूप परमाणओ मे परिवर्तित हो जाते हैं अर्थात सबका अपने प्रकृति रूप मूल कारण मे लय हो जाता है। सांख्य दर्शन में उपयुक्त तथ्य को **नाशकारण लय** (सा का १।१२१) सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारण मे कार्य का लय (विलीन) होना ही द्रव्य का नाश कहलाता है। अर्थात् निमित्त कारण के द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुए समस्त काय द्रव्य अपने अपने कारण मे अभेद सम्बन्ध से लीन हो जाते हैं—इसी को नाश कहते हैं। यही लय या प्रलय कहलाता है।

आयुर्वेद शास्त्र मे भी लय या प्रलय शब्द से उपयुक्त भावार्थ ही ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद मे मुख्य रूप से मनुष्य या प्राणी के जन्म को सृष्टि और मरण को लय शब्द से अभिप्रेत किया गया है। चतुर्विंशति तत्वो के संयोग से सृजित पुरुष प्रलयकाल में शरीरारम्भक महाभूतों के कारण मे विलीन हो जाता है। तब यह बुद्धयादिक इष्ट भावों से वियुक्त हो जाता है। यही उसका मरण कहलाता है। वस्तुत अव्यक्त से उत्पन्न तथा व्यक्तता को प्राप्त हुए तेइस तत्व क्रमश अपने

कारण में विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार व्यक्त से पुन वे अव्यक्त हो जाते हैं । यही लय' या 'प्रलय' कहलाता है । महर्षि चरक ने लय का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

पुरुष प्रलये चेष्टै पुनर्भावैर्वियुज्यते ।
अव्यक्ताद व्यक्तता याति व्यक्तादव्यक्तता पुन ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत परिवर्तते ॥
येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहकारपराश्च ये ।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥
—चरकसंहिता शारीर स्थान १।६७ ६९

अर्थात वह पुरुष प्रलय काल मे पुन अपने इष्टभाव (आठ भूत प्रकृति और सोलह विकार) से रहित हो जाता है । इस प्रकार उत्पत्तिकाल में अव्यक्त से व्यक्त होता है । प्रलय काल मे व्यक्त से अव्यक्त हो जाता है । इस प्रकार पुरुष की व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त की परम्परा रज और तम से युक्त होने के कारण चक्र की तरह चलती रहती है । जिन मनुष्यो की रज और तम इन दोनो मे अत्यन्त आसक्ति है या जो लोग अहकार मे पडे हुए हैं उन्ही लोगो के लिए उदय और प्रलय है । जो लोग रज और तम से विमुक्त हैं अहकार से भी रहित हैं उन लोगो का उदय (जन्म) और प्रलय (मृत्यु) नही होता ।

यहा उदय से जन्म और प्रलय से मृत्यु का ग्रहण किया गया है । जन्म और मृत्यु के कारणभूत रज और तम दोनो जब तक मन से सम्बन्धित रहते हैं तब तक ही मन उनके अनुसार बधन मे पडने वाला काम करता है और उसी के अनुसार आत्मा को कर्म का बन्धन होता है । इसी लिये यह मन जब तक रज और तम से युक्त रहता है तब तक यह पुरुष चक्र की भांति भ्रमण करता रहता है । अर्थात् ससार की विभिन्न योनियो मे जन्म-मरण को धारण करता रहता है । यही पुरुष का ससरण या ससार कहलाता है ।

महा प्रलय होने पर सभी वस्तुओ का प्रकृति मे प्रलय हो जाता है । प्रलय काल अर्थात् मृत्यु काल मे पुरुष बुद्धि इत्यादि तत्वो से अलग हो जाता है और पुनर्जन्म होने पर उनसे संयोग कर लेता है । कुछ लोग इस बात को नहीं मानते हैं । महा प्रलय काल में जब ससार मे कुछ नहीं रह जाता तब या मोक्ष की अवस्था में पुरुष बुद्धि आदि भावो से रहित हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि महा प्रलय होने पर समग्र सृष्टि अपने कारणभूत प्रकृति में विलीन हो जाती है । यही लय कहलाता है ।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म के विषय मे प्राचीन काल से दो प्रकार के मत चले आ रहे हैं । एक मत के अनुसार कुछ लोग पुनर्जन्म के विषय में पूर्ण आस्था रखते हुए उसके अस्तित्व को

स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मत के अनुसार कुछ अन्य लोग पुनर्जन्म को केवल कल्पना का विषय मानकर उसके अभाव का समर्थन करते हैं। भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही पुनर्जन्म को नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी होने से केवल प्रत्यक्ष होने वाले विषयों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। पुनर्जन्म जन सामान्य के लिए प्रत्यक्ष नही होने के कारण चार्वाक दर्शन के मतानुसार संसार मे उसका कोई अस्तित्व नही है। इसी प्रकार आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील विज्ञान भी प्रत्यक्ष नही होने के कारण पुनर्जन्म के सिद्धात मे विश्वास नही रखता है। किंतु कुछ इस प्रकार की विशिष्ट घटनाए प्रकाश मे आई हैं जिन से पुनर्जन्म का समर्थन होता है। उन घटनाओ के कारण आधुनिक विज्ञान को भी इस दिशा मे अन्वेषण कार्य करने के लिए बाध्य होना पडा है। इस अन्वेषण कार्य के परिणाम स्वरूप अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आए हैं तथा और भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना है।

पुनर्जन्म का सिद्धात भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है। आत्मवादी दर्शनो ने एक स्वर से इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणियो का शरीर भौतिक है। आत्मा इस भौतिक शरीर को चेतना प्रदान करता है। आत्मा के द्वारा प्रदत्त वह चेतना अथवा सचेतन आत्मा उस भौतिक शरीर मे उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। प्राणी की आयु समाप्त हो जाने पर आत्मा उस शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण कर लेता है और उस अन्य शरीर मे भी वह उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। एक शरीर से अन्य शरीर में आत्मा का यह संसरण ही पुनर्जन्म कहलाता है। इसका अभिप्राय यह भी नही है कि आत्मा ने जिस शरीर का परित्याग किया है उसी के समान पूर्ण रूप से निर्मित अन्य शरीर में प्रवेश कर वह उसको चेतना प्रदान करता है। अपितु पूर्व शरीर का परित्याग करने पश्चात् आत्मा को गर्भ शरीर में प्रविष्ट होना पडता है और गर्भिणी के द्वारा उसका प्रसव किए जाने बाद ही उसका जन्म माना जाता है— यही पुनर्जन्म कहलाता है। इससे एक यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि आत्मा के द्वारा परित्यक्त पूर्व शरीर पुनः चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सकता और उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के द्वारा पूर्व शरीर का त्याग और नवीन शरीर को धारण करने की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलती रहेगी। भगवत् गीता मे पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर विवेचन मिलता है। यथा—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपडो को उतार कर फेंक देता है और

नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुरानी एवं जीर्ण (आयु शेष हुए) शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर को धारण कर लेता है।

महर्षि चरक ने तीन एषणाओं-प्राणैषणा धनैषणा-परलोकैषणा का वर्णन करते हुए परलोकैषणा के अन्तर्गत पुनर्जन्म के विषय मे विभिन्न मतभेदो का उल्लेख किया है और सभी मत मतान्तरो का युक्तियुक्त खण्डन करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पुनर्जन्म के विषय में प्रथम मतभेदो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ ऐसे पुरुष हैं जो नास्तिकवाद को मानने वाले हैं। वे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और परोक्ष होने के कारण पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं। कुछ अन्य लोग हैं जो आस्तिक हैं। वे शास्त्र प्रमाण से पुनर्जन्म को मानते हैं। श्रुतियां भी परस्पर विरुद्ध मिलती हैं। मुख्य रूप से निम्न मत मिलते हैं जो पुनर्जन्म को न मान कर प्राणियो के जन्म मे अन्य कारण मानते हैं।

प्रत्यक्ष वादी—आधुनिक विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और प्राचीन दर्शनों मे नास्तिकवादी चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष से उपलब्ध वस्तुओं में ही विश्वास करता है। पुनर्जन्म प्रत्यक्षत उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार कर्म का फल और आत्मा ये सभी अप्रत्यक्ष हैं। अत पुनर्जन्म के ये साधक भी प्रत्यक्ष नहीं हैं। इनके अप्रत्यक्ष होने के कारण पुनर्जन्म की सिद्धि सम्भव नहीं है।

माता पितृ वादी—कुछ लोग केवल माता-पिता को ही जन्म के प्रति कारण मानते हैं। अर्थात् आत्म निरपेक्ष माता-पिता का शोणित-शुक्र जन्म के प्रति कारण है, न कि पूर्व शरीर को छोड कर आत्मा नवीन शरीर को धारण करता है, क्योंकि दृश्य नही होने से आत्मा कोई द्रव्य नहीं है।

स्वभाव वादी— कुछ लोग जन्म के प्रति स्वभाव को कारण मानते है। जैसे—

अगप्रत्यगनिवृत्ति स्वभावादेव जायते।
सन्निवेश शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ॥

—सुश्रुत संहिता शरीरस्थान ३/३६

शरीर के अग प्रत्यगों की अभिव्यक्ति स्वभाव से ही होती है। शरीरों का सन्निवेश तथा दांतो का गिरना और पुन उत्पन्न होना स्वभाव वश ही होता है।

तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावत

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान, अ०२

अर्थात् हाथ-पैर के तलवों में रोम का उत्पन्न होना असम्भव है। यह स्वभाव से होता है।

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः॥

—सुश्रुत संहिता शरीरस्थान ४/६१

अर्थात् धातुओं के क्षीण होने पर भी नख और केश सदैव बढ़ते रहते हैं। यह प्रकृति का निर्माण स्वभाव ही करता है—यह स्थिति है।

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जला ॥
स्वभावाद् गरवो माषा वाराहमहिषादय ॥

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अ १

अर्थात मूग लाव और कपिंजल (लाव पक्षी और सफेद तीतर का मांस) स्वभाव से लघु होता है। माष (उडद) वाराह (सुअर का मास) भैसा आदि स्वभाव से गुरु होते हैं।

ये सब स्वभाव से सृष्टि (उत्पन्न) होने के प्रमाण और उदाहरण हैं। योगवासिष्ठ मे भी कहा गया है—

क कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्य चित्र विचित्र मृगपक्षिण च।
माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्तम् ॥

अर्थात कांटो मे नुकीलापन पशु-पक्षियो मे चित्र विचित्रता ईख मे मधुरता और मिरच मे चरपरापन कौन उत्पन्न करता है ? यह सब स्वभावत ही होता है।

अत शरीर की उत्पत्ति के प्रति आत्मा कर्मफल आदि कारण नही है न पुनर्जन्म है अपितु स्वभाव ही कारण है।

पर निर्माण वादी—कुछ लोग पर निर्माण को जन्म का कारण मानते हैं। पर शब्द से यहा ईश्वर का ग्रहण किया जाता है। यथा— पर उत्कृष्ट विलक्षण-सकलकार्यकारी पुरुष ईश्वराख्य। वह ईश्वर ही जगत् को उत्पन्न करने वाला है। निम्नांकित वचन से ईश्वर ही जन्म के प्रति कारण सिद्ध होता है— ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत। (ईशावास्योपनिषद्)

यदृच्छा वादी—इन के सिद्धान्त के अनुसार जगत की उत्पत्ति बिना कारण के यो ही हो जाती है। इसमें कोई भी कारण नही हैं। जैसे मेघ बिना आत्मा के जल की वर्षा करता है तथा भूमि आत्मा रहित अचेतन है फिर भी भूमिकम्प होता है। इन घटनाओ को उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उसे 'यदृच्छा' कहते है। यही जगत् की उत्पत्ति का कारण है।

इस प्रकार प्राणियो के जन्म के प्रति कारणों का प्रतिपादन करने वाले पाँच मतो का उल्लेख मिलता है जिससे पुनर्जन्म के विषय मे सन्देह होता है। महर्षि सुश्रुत ने उत्पत्ति के लिए छ मतों का उल्लेख किया है। यथा—

स्वभावमीश्वर काल यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणाम च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिन ॥

—सुश्रुत-संहिता शारीर स्थान १/११

अर्थात् स्थूलदर्शी (दूरदर्शी-संकुचित विचार नहीं रखने वाले) स्वभाव (असद् द्रव्य से प्रतिबद्ध कटुकवर्ण या गुण), ईश्वर, काल, यदृच्छा नियति (धर्माधर्म जनित फल) और परिणाम इनको ही प्रकृति (उपादान कारण) मानते हैं।

खण्डन एवं समाधान—

उपर्युक्त मतों का अध्ययन करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि सभी एक पक्षीय एवं दुराग्रहवृत्ति के सूचक हैं। इन मे कोई भी मत ऐसा नहीं है जो पुष्ट प्रमाणो एवं समुचित तर्कों पर आधारित हो। महर्षि चरक ने इन सभी मतों का खण्डन एवं विभिन्न शंकाओ का समाधान युक्ति पूर्वक निम्न प्रकार से किया है—

१ परलोक एव पुनर्जन्म का विचार करने के लिए आवश्यक है कि बुद्धिमान् पुरुष सर्व प्रथम नास्तिक्यबुद्धि और विचिकित्सा (संशयबुद्धि) का परित्याग कर दे। यदि कोई व्यक्ति धृष्टता पूर्वक नास्तिक बन जाय और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार ही न करे तो इसका कोई उपाय नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान करने योग्य विषय बहुत ही कम हैं और अप्रत्यक्ष वस्तुएं बहुत हैं जिन का ज्ञान अथवा उपलब्धि आगम (शास्त्र प्रमाण या आप्तोपदेश) अनुमान और युक्ति प्रमाण के द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय तो यह दोष उत्पन्न हो जायगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है अथवा प्रत्यक्ष गम्य विषयो का ग्रहण होता है वे इन्द्रिया ही स्वय अप्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे कारण होते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान कराने मे बाधक होते हैं। इन कारणो का उल्लेख प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन में विस्तार से किया गया है।

२ माता पिता को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—ये युक्तियां भी परलोक या पुनर्भव को न मानने में कारण नहीं हैं क्योंकि युक्ति विरोध होता है। जैसे माता या पिता की आत्मा सन्तान मे जाती है—यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का सन्तान मे गमन दो प्रकार से हो सकता है—(१) एक पक्ष में पूर्ण आत्मा सन्तान में गमन कर सकती है और (२) दूसरे पक्ष मे आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान मे जा सकता है। पहले पक्ष के अनुसार यदि आत्मा पूर्ण रूप से सन्तान मे प्रवेश करती है तो माता या पिता की मृत्यु हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान में जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा निरवयव (अवयव रहित) एवं सूक्ष्म है।

इस मत में दूसरी आपत्ति यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति में यदि माता पिता को कारण माना जाय तो जो चार योनियां (जरायुज अण्डज, स्वेदज और उद्भिज) मानी गई है, वे नहीं हो पायेंगी। क्योंकि स्वेदज तथा उद्भिज प्राणियों की उत्पत्ति

माता और पिता से नहीं होती । अत यह मानना पड़ेगा कि कर्म के वशीभूत आत्मा की प्रेरणा से माता पिता के शरीर से शोणित शुक्र निकल कर गर्भाशय मे जाकर सन्तान के शरीर का आरम्भ करते हैं । अर्थात् शरीर की उत्पत्ति कर्मानुसार होती है और कर्म जन्मान्तरीय रहता है । अत परलोक तथा पुनर्जन्म की सिद्धि हो जाती है ।

३ स्वभाव को जन्म मे कारण मानने वाले पक्ष की शका का समाधान करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी जल तेज वायु आकाश ये पच महाभूत और आत्मा इन षड धातुओ के जो अपने लक्षण होते हैं उन्हे स्वाभाविक जानना चाहिए । इन षट धातुओ के सयोग और वियोग मे कर्म ही कारण होता है । पृथिव्यादि पंच महाभूतो के अपने अपने लक्षण इस प्रकार होते हैं—

खरद्रवचलोष्णत्व भूजलानिलतेजसाम ।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्ट लिङ्ग यथाक्रमम ।।

—चरक सहिता शारीरस्थान १/२९

आत्मा का चतन्य होना उसका अपना लक्षण है । जसा कि प्रतिपादित किया गया है—

निर्विकार परस्त्वात्मा सत्वभतगुणेन्द्रिय ।
चतन्ये कारण ।। चरक सहिता सूत्रस्थान १/५६

महाभूतो के उपयु क्त जो लक्षण बतलाए गए है तथा आ मा का जो चतन्य लक्षण बतलाया गया है उनके वे अपने अपने लक्षण स्वभाव से होते हैं । किन्तु पञ्च महाभूत अचेतन हैं इनमे चेतनता का प्रादुर्भाव आत्मा के सयोग से होता है जबकि आत्मा के वियोग से चेतनता का अभाव होता है । सयोग और वियोग का कोई कारण अवश्य होना चाहिए । वह कारण क्या है ? इसका उत्तर यही है कि जन्मान्तरीय कम ही सयोग वियोग मे कारण होता है । यथा— भूतश्चतुर्भि इत्यादि । यदि कर्म को कारण मान लिया जाता है तो पुनजन्म की सिद्धि स्वत हो जाती है । यदि पंच महाभूत और आत्मा के सयोग और वियोग मे स्वभाव को कारण मान लिया जाय तो स्वभावो दुरतिक्रम के अनुसार सयोग का अभाव कभी नहीं होगा । अत कभी वियोग भी नही होगा । आरम्भक कर्म के क्षय होने पर ही शरीर पात-अर्थात् वियोग होता है । कर्म संयोग और वियोग मे कारण होता है । यह बात कर्म के लक्षण से स्पष्ट है । यथा— 'सयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् (च सू अ १) इस विवेचन से स्वभाववादी का जो यह मत हैं कि दो या अधिक पदार्थों के मिलने से चेतनता स्वभावत आ जाती है, आत्मा कोई वस्तु नहीं है उसका खण्डन हो जाता है । क्योंकि स्वभावत संयोग और विभाग में अनिश्चितता है और जन्मान्तरीय कम को मानने में अनिश्चितता नहीं है ।

४ पर निर्माण को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो अनादि चेतना धातु (आत्मा) है उसका पर-निर्माण अर्थात् पर (दूसरे) के द्वारा निर्माण नहीं हो सकता। यदि पर शब्द से ईश्वर माना जाय तो पर निर्माण मानना अभीष्ट है। क्योंकि आत्मा अनादि है। यदि आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी से सृष्टि का निर्माण माना जाय तो वह आत्मा से पूर्व सिद्ध हो जाता है और आत्मा की स्थिति उसके बाद की हो जायगी। तब आत्मा सादि हो जायगा। आत्मा का अनादित्व नष्ट न हो अत: उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। जब इसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी तो पर निर्माण कैसे माना जायगा। अत: पर निर्माण पक्ष उचित नहीं है।

५ यदृच्छावादी के अनुसार स्वीकृत सिद्धान्त का निरास करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यदृच्छावाद से जिन्होंने अपनी आत्मा को उपहृत (नष्ट) कर लिया है ऐसे नास्तिक लोगों के मत में परीक्षा परीक्षा का विषय कर्त्ता कारण देवता ऋषि सिद्ध कर्म कर्म का फल आत्मा आदि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यदृच्छावादी नास्तिकों का यह ग्रह (आग्रह-जिद्) सभी पापों से बढ़कर महा पाप है।

अभिप्राय यह है कि उसी व्यक्ति से विवाद किया जाता है और उसी व्यक्ति की बात भी मान्य होती है जो कि एक बात पर दृढ़ रहता है तथा कर्त्ता कारण कार्य आदि को स्वीकार करता है। जैसे किसी व्यक्ति की व्याधि का शमन कोई औषधि सेवन करने से हो जाता है तो यदृच्छावादी कहेगा कि व्याधि का शमन यों ही हो गया। इसी प्रकार कुर्सी का निर्माण बढ़ई लकड़ी से करता है—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु यदृच्छावादी के मतानुसार कुर्सी का निर्माण यों ही हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोधी होने से यदृच्छावादी का मत अमान्य है।

चतुर्विध प्रमाण से पुनर्जन्म की सिद्धि

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा—प्रतिदिन नवीन प्राणियों को उत्पन्न होते हुए देखा जाता है। प्रतिदिन अनेक प्राणियों की मृत्यु भी देखी जाती है। सामान्यत: स्तनधारी प्राणियों में यह प्रक्रिया देखी जाती है कि जन्म होने के पश्चात् बालक अथवा अन्य प्राणी स्वेच्छा पूर्वक स्वत: अपनी माँ का दूध पीने लगते हैं। इसके अतिरिक्त बालक रोते हैं और कई बार उनके चेहरे पर हर्ष अथवा भय के भाव भी प्रकट होते हैं। नवजात बालक को स्तनपान की प्रक्रिया समझाई नहीं जाती है अपितु पूर्व कालीन संस्कार वश वह इन प्रक्रियाओं के प्रति प्रेरित होता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म कालीन सुखद अथवा दु:खद संस्कारों का स्मरण होने पर उसके मुख पर हर्ष और विषाद के भाव प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार माता-पिता के गुणो के समान सन्तानो का न होना और उत्पत्ति कारण के तुल्य होने पर भी वर्ण स्वर आकृति मन बुद्धि और भाग्य में विभिन्नता होना उत्तम और हीन कुल मे जन्म होना नौकर और मालिक होना सुख-आयु और असुख-आयु का होना आयु की विषमता इस जगत् में जो कार्य किए जाते हैं उनका ही फल होना अशिक्षित शिशु का रोना दूध पीना हँसना भयभीत होना सामुद्रिक लक्षणों का होना कर्म की समानता होने पर भी फल मे विशेषता का होना किसी कार्य मे स्मरण शक्ति का होना और किसी कार्य मे स्मरण शक्ति का नही होना इस जगत मे आना (जन्म लेना) और इस ससार मे च्युत (मृत्यु को प्राप्त हुए) प्राणियों का जाति स्मरण होना समान रूप से दो व्यक्तियो को देखने पर एक को प्रिय और दूसरे को अप्रिय समझना यह पुनर्जन्म मे प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त अनेक घटनाएँ इस प्रकार की देखने को मिलती हैं जिनके द्वारा मनुष्य को अपने पूर्व जन्म की अनेक बातो का स्मरण हो जाता है और वह अपने पूर्व जन्म कालीन घटनाओ एव स्थितियो का वणन करने लगता है। इस प्रकार की अनेक घटनाए प्रकाश में आई हैं और प्रत्यक्ष देखने को मिलती हैं। परीक्षा करने पर वे घटनाएँ सत्य पाई गई। अत इन सब प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर पुनर्जन्म की पुष्टि एव सिद्धि होती है।

अनुमान प्रमाण द्वारा— प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अनुमान किया जाता है कि पूर्व शरीर के द्वारा किया गया जो अपना कृत कर्म है जिसे दैव (भाग्य) कहा जाता है वह अपरिहाय है। ऐसे आनुबन्धिक कर्म का यह फल है जो इस जन्म में भोगा जा रहा है। इस शरीर के द्वारा जो आनुबन्धिक कम किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में भोगना पडता है। जैसे फल से बीज का अनुमान और बीज से फल का अनुमान किया जाता है।

हमारे द्वारा किया गया कर्म सामान्यत दो प्रकार का होता है—

(१) सामान्य कर्म (२) आनुबन्धिक कर्म।

(१) **सामान्य कम**—सामान्य कर्म का फल जीवित अवस्था मे प्रतिदिन भोग लिया जाता है। उसके लिए कहा गया है कि स्वकृत कर्म अपरिहार्य होता है। यथा—

अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्।

(२) **आनुबन्धिक कम**—जो कर्म सचित होता है उसे ही भाग्य कहा जाता है। उसी कर्म के आधार पर पुनर्जन्म होता है तथा पूर्व जन्म कृत समस्त शुभ और अशुभ आनुबन्धिक कर्म का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना पडता है।

इस प्रकार अनुमान के द्वारा पूर्व जन्म और पुनर्जन्म दोनों ही सिद्ध किए गये हैं।

आप्तोपदेश प्रमाण द्वारा—आप्त द्वारा प्रणीत आगम (शास्त्र) को वेद कहते

जाता है। दूसरे कोई भी शास्त्र जो परीक्षकों द्वारा प्रकाशित हों, वेद के अर्थों से अवि-परीत (अनुकूल) हो शिष्ट पुरुषो के द्वारा अनुमोदित हो और लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर प्रवृत्त (रचे गए) हों तो ऐसे शास्त्रो को भी आप्त शास्त्र कहा जाता है। आप्त के द्वारा रचित शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि—दान तपस्या यज्ञ, सत्य बोलना अहिंसा का भाव रखना ये अभ्युदय और नि श्रेयस (कल्याण) करने वाले होते हैं। प्राय अभ्युदय से इहलौकिक सुखो को प्राप्त करना ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उन्नति प्राप्त करना और नि श्रेयस से पारलौकिक श्रेय प्राप्त करना समझा जाता है। अथवा अभ्युदय से स्वर्ग और नि:श्रेयस से मोक्ष प्राप्ति का ग्रहण किया जाता है।

आप्त पुरुषो ने अपनी योग साधना एव तपश्चरण के आधार पर जो विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया जिसके द्वारा उन्हें तीनो लोक की तीनो कालों की समस्त बातों का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। उसके द्वारा उन्होंने पुनर्भव स्वर्ग नरक मोक्ष आदि का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया। उन्होने अपने ज्ञान के आधार पर जो प्रत्यक्ष किया उसी का उन्होंने उपदेश दिया। इस प्रकार आप्तोपदेश के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

युक्ति प्रमाण द्वारा—पुनर्जन्म की सिद्धि में युक्ति है कि जिस प्रकार छह धातुओ के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है कर्त्ता और कारण के सयोग से क्रिया होती है, किए हुए कर्म का फल होता है जो कर्म नही किया जाता उसका फल नहीं होता है बिना बीज के अकुर की उत्पत्ति नही होती है। उसी प्रकार माता के उदर मे जो गर्भोत्पत्ति होती है उसमे आत्मा कर्ता है और वह पूर्वजन्मकृत कर्मों के आधार पर विभिन्न नीच-ऊच योनियो मे गमन करता रहता है। अर्थात् प्रत्येक जीव पूर्व जन्म के शरीर के माध्यम से किए गए कर्मों के आधार पर इस जन्म में शरीर धारण करता है। इस युक्ति प्रमाण से भी पूर्व जन्म और पुनर्जन्म इन दोनों की सिद्धि होती है।

इन चार प्रमाणो के द्वारा पुनर्जन्म स्पष्टत: सिद्ध है। आत्मा कर्म बंधन में बधा हुआ होने के कारण पराधीन रहता है और उन कर्मों का फल भोगने के लिए पुन पुन: उसे शरीर धारण करना पड़ता है। जब तक आत्मा स्वोपार्जित कर्म के बन्धनों से मुक्त नही हो जाता तब तक उसे इसी प्रकार ससार में पुन पुन: जन्म धारण कर विभिन्न योनियो मे भ्रमण करना पड़ता है। कर्म बन्धन से मुक्त होने पर उसे पुन: जन्म नहीं लेना पड़ता और वह अक्षय पद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष या अपुनर्भव

जब आत्मा कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाता है तब किसी भी कर्म का उपभोग करने के लिए उसे पुन: शरीर को धारण नहीं करना पड़ता है। जब वह बन्ध

धारण नही करता है तो उसका मरण (मृत्यु) भी नहीं होता है। जन्म और मरण से रहित होने के कारण ससार परिभ्रमण की उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मा को ससार के आवागमन रूपी बन्धन से छुटकारा मिल जाने के कारण वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही आत्मा सतत प्रयत्नशील रहता है। यह मुक्ति पद अक्षय निर्मल अविनाशी अखण्ड परम अनन्त सुख कारक एव दिव्यालोक कारक होता है। इसे ही मोक्ष या अपवर्ग कहते हैं। आत्मा की कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण इसे निवृत्ति भी कहते हैं। महर्षि चरक ने निवृत्ति का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

'निवृत्तिरपवर्ग' तत् पर प्रशान्त तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्ष

—चरक संहिता शारीरस्थान ५।११

अर्थात निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ अत्यन्त शान्त अविनाशी एव ब्रह्म स्वरूप होता है उसे ही मोक्ष कहते हैं।

जब तक आत्मा कर्म बन्धन से युक्त रहता है तब तक वह सासारिक मोह ममता एव माया जाल मे फसा रहता है। इसलिए उसे पुन पुन जन्म धारण करना पड़ता है। यही पुनर्भव कहलाता है। कितु आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर उसे पुन पुन जन्म धारण नही करना पडता है। पुन जन्म धारण नहीं करना ही अपुनर्भव कहलाता है। यही आत्मा की मुक्तावस्था होती है और इसे ही मोक्ष अपवर्ग मुक्ति या निवृत्ति कहते हैं। महर्षि चरक ने मोक्ष की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात बलवत्कर्मसक्षयात् ।
वियोग सर्वसयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

—चरक सहिता शारीरस्थान १।१४२

अर्थात् मन से जब रज और तम का अभाव हो जाता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म सयोग का वियोग अर्थात कर्म जन्य बन्धनो से वियोग हो जाता है उसे अपुनर्भव या मोक्ष कहते हैं जिस के हो जाने पर आत्मा को पुन शरीर या जन्म धारण नही करना पडता है।

बलवत कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है—यह सर्वतान्त्रिक सिद्धान्त है। मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करने वाले सभी दर्शनो ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आत्म ससृष्ट समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। किन्तु 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि तथा प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षय' के अनुसार भोग कर लेने पर जब प्रारब्ध बलवान् कर्म का क्षय होता है तब मुक्ति होती है। कर्म का क्षय होने पर सर्व प्रथम आत्मा ज्ञानालोक से प्रतिभासित एवं देदीप्यमान होता है। आत्मा को होने वाला एतद्विध विशिष्ट ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है। यह अपने आपमें परिपूर्ण निर्मल एव अखण्ड होता है। इस प्रकार का केवल ज्ञान प्राप्त

होने के बाद ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्योंकि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है। वर्तमान कर्मों का क्षय होने पर कर्मों के अभाव में संयोग का वियोग (अभाव) स्वत सिद्ध है। अत मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसीलिए यह अपुनर्भव या मोक्ष कहलाता है। मोक्ष में आत्मा अनन्त काल तक निवास करता है।

साख्य दर्शन मे मोक्ष विषय को अधिकृत कर विस्तत विवेचन किया गया है। प्रकृति जिस प्रकार सष्टि की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार वह पुरुष (आत्मा) की मुक्ति मे भी कारण है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष स्वभावत असंग एव मुक्त होता है किन्तु अविवेक के कारण प्रकृति के साथ उसका सयोग निष्पन्न होता है। इस सयोग से प्रकृति के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है और उसका जो प्रतिबिम्ब पुरुष पर पडता है वही इस पुरुष का दुःख भोग ससार है। अत सृष्टि का मूलकारण अविवेक है और दुःख की आत्यन्तिक निवत्ति का साधन विवेक है। सांख्यदर्शन के अनुसार जो जीव एक बार मुक्त हो जाता है वह पुन बन्धन में नहीं पडता है। इस का कारण यह है कि पुरुष यह समझने लगता है कि प्रकृति के समस्त रूपों को मैं देख चुका हू। अत देखी हुई वस्तु को पुन क्या देखना? इसलिए वह प्रकृति के दर्शन की उपेक्षा कर देता है। प्रकृति भी समझती है कि पुरुष मेरे समस्त रूपो का अव-लोकन कर चुका है, अत वह लज्जा के कारण पुन पुरुष के सम्मुख नही आती है। इस प्रकार दोनो उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार की दोनो की अथवा दोनों में से किसी एक की उदासीनता को अपवर्ग कहते हैं। यथा— द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः। प्रकृति और पुरुष का परस्पर वियोग होना अथवा एकाकी होना कैवल्य या मोक्ष है। बंध और मोक्ष वस्तुत प्रकृति के धर्म हैं पुरुष के नहीं।

सांख्यदशन में किए गए विवेचन के अनुसार पुरुष न तो बंध को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है। उसका ससरण भी नहीं होता है। प्रकृति ही अनेक आश्रयों वाली होकर बुद्धि अहंकार, तन्मात्रा इन्द्रियाँ और महाभूतों से बद्ध होती है मुक्त होती है और संसार में आवागमन करती है। केवल प्रतिबिम्ब के कारण पुरुष पर बन्धन तथा मोक्ष का आरोप होता है। अत प्रकृति ही पुरुष को बद्ध एवं मुक्त करती है। यही अभिप्राय निम्न कारिका से व्यक्त होता है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥ —सांख्य कारिका ६२

पुरुष के मोक्ष प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र असंग और केवलत्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। व्यक्त-अव्यक्त तथा ज्ञ के पृथक

ज्ञान से विवेक सिद्धि होती है, जिसका फल निःशेष दुःख निवृत्ति है। उसी अवस्था से पुरुष की कृतकृत्यता है। प्रत्येक पुरुष की मुक्ति के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है। यथा—

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। —सांख्य कारिका

सांख्यदर्शन मे प्रकृति को नर्तकी एव पुरुष को दर्शक के समान निरूपित किया गया है। अर्थात् वह प्रकृति नर्तकी के समान है जो शृंगारादि रसो से तथा रति हास आदि भावो से रचे हुए गीत वाद्य नृत्य के द्वारा रग मच पर उपस्थित सभा सदो का मनोरजन करती है। जब इसका कम समाप्त हो जाता है तो वह वहां से चली जाती है। इस प्रकार पुरुष के सम्मुख स्वय को प्रकट कर प्रकृति लौट जाती है। निम्नकारिका मे यही भाव व्यक्त किया गया है—

रगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः॥ —सांख्य कारिका ५९

साख्य दर्शन मे निरूपित प्रकृति इतनी सुकुमार एव लज्जाशील है कि एक बार पुरुष के द्वारा उपभोग किए जाने पर वह दुबारा पुरुष के समक्ष उपस्थित नही होती है। अर्थात विवेकशील पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नही होता है। विवेक हो जाने से पुरुष को भी निश्चय हो जाता है कि मैं कर्त्ता नही हू। यह भोग्य शरीर मेरा नही है। क्योकि मैं इससे भिन्न हू। मैं भोक्ता भी नही हू। ऐसा संशय रहित पचविंशति तत्वात्मक ज्ञान पुरुष को जब उत्पन्न होता है तो प्रकृति स्वय पुरुष का साथ छोड देती है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे निम्न कारिका दृष्टव्य है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिः।
या दृष्टाऽस्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ —सांख्य कारिका

पुनश्च—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ —सांख्य कारिका ६४

तत्व ज्ञान का उदय होने पर भी आत्मा जब तक पूर्व जन्म के संस्कार वश शरीर को धारण किए रहता है तब तक शरीर के निर्वाह के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य ही करता रहता है। किन्तु उन कार्यों के प्रति राग द्वेष का अभाव होने से तथा ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध होने से वे कर्म दग्ध बीज की भाँति फल देने मे असमर्थ रहते हैं। अत वे कर्म कर्त्ता को बन्धन मे नही डाल सकते। इस प्रकार कर्मों का क्षय करने वाला ज्ञानी जब तक शरीर धारण किए रहता है अर्थात् जीवित रहता है तब तक वह जीवन मुक्त कहलाता है। किन्तु शरीर का त्याग कर देने के पश्चात् उसका निर्वाण हो जाने पर विगत देह वाला होने से 'विदेह मुक्त' कहलाता है।

सप्तदश अध्याय

कार्य कारण भाव एव वाद निरूपण

जिस प्रकार दर्शन शास्त्र में कार्य कारण भाव का महत्व है उसी प्रकार आयुर्वेद में भी कार्य कारण सिद्धान्त को महत्व पूर्ण माना गया है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति का नियम है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर मे उत्पन्न होने वाले विभिन्न रोग अन्यान्य कारण की अपेक्षा रखते हैं। रोगो को उत्पन्न करने वाले उन कारणों को आयुर्वेद मे हेतु या निदान कहा गया है। जो रोग जिस हेतु या निदान का सेवन करने से उत्पन्न होता है उन हेतु या निदान के अभाव मे व्याधि का उत्पन्न होना सम्भव नही है। इसी प्रकार मिथ्या आहार विहार रूप कारण के सेवन से वातादि दोष का प्रकोप रूप कार्य उत्पन्न होता है तथा दोष प्रकोप रूप कारण से रोगोद्भव रूप कार्य उत्पन्न होता है। व्याधि का नाश या व्याधि का शमन भी कार्य है जो औषध रूप कारण के सेवन से उत्पन्न होता है। मनुष्य के शरीर का निरोग होना या आरोग्य भी एक कार्य है जो स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो का पालन करने या समुचित औषध का सेवन करने से उत्पन्न होता है। शुक्र शोणित के संयोग से भ्रूण का निर्माण होता है। अत शुक्र शोणित संयोग कारण और भ्रूणोत्पत्ति कार्य है। इस प्रकार आयुर्वेद में ऐसे अनेक भाव विशेष विद्यमान हैं जो कार्य कारण भाव (सिद्धान्त) की अपेक्षा रखते हैं।

कारण का स्वरूप एव भेद

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अत वह भाव विशेष जिसके अभाव में कार्य का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है कारण कहलाता है। भिन्न भिन्न ग्रंथकारों एवं दर्शनकारों ने अपनी अपनी दृष्टि से कारण का स्वरूप प्रतिपादित किया है। यथा

"कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्।" —सप्तपदार्थी

अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण होता।

"कार्यनियतपूर्ववर्ति कारणम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् नियत रूप से कार्य से पूर्व विद्यमान रहने वाला कारण होता है।

"अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तिकारणम्।" —तर्क भाषा

अर्थात् जो अन्यथा सिद्ध हो नियत (निश्चित) हो और पूर्ववर्ति (कार्य से पूर्व रहने वाला) हो वह कारण होता है।

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्व भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम —भाषा परिच्छेद

अर्थात अन्यथा सिद्धि से शून्य काय की नियता और पूववर्तिता कारण होती है। वह (कारण) तीन प्रकार का कहा गया है।

उपयुक्त लक्षणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कारण वह है जो बिना अपवाद के कारण से पूर्व विद्यामान रहता है और जिसकी आवश्यकता केवल मात्र सहायक के रूप मे ही नही अपितु काय की उत्पत्ति के लिए भी है। वस्तुत यह एक घटना क्रम का पववर्ती अवयव है जो सतत रूप से अनेक अवस्थाओ मे पूववर्ती रहा है। किन्तु केवल पूर्ववर्ती होना ही पर्याप्त नही है। इसे एक आवश्यक पूर्ववर्ती होना चाहिए।

कारण सामान्यत तीन प्रकार का माना गया है—समवायि कारण असमवायि कारण और निमित्त कारण।

समवायि कारण— इसे उपादान कारण भी कहते हैं। यह कार्य की उत्पत्ति मे प्रमुख होता है और काय के साथ ।वद्यमान रहता है। तक सग्रह मे समवायि कारण का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—**यत्समवेत कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्।** अर्थात् जिस द्रव्य के समवाय सम्बध से कार्य की उत्पत्ति होती है उसे समवायि कारण कहते हैं। समवायि कारण अपने उत्पन्न हुए काय मे समवेत रूप से विद्यामान रहता है। जसे घट का समवायि कारण मिट्टी है कपडे का समवायि कारण धागा या तन्तु है कुण्डल का समवायि कारण स्वण है। न्याय दशन के अनुसार भी काय का नाश उपादान कारण के विनाश से होता है। समवायि कारण का नाश होने पर ही कार्य का नाश होता है। प्रत्येक कार्य का समवायि कारण अपने काय मे विद्यमान रहता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। पट (कपडा) के निर्माण मे तन्तु जुलाहा कपडा बुनने के उपकरण करघा तथा अन्य साधन आदि विभिन्न कारण विद्यमान रहते हैं जो सयुक्त रूप से मिल कर पर (कपड़) का निर्माण करते हैं किन्तु जुलाहा आदि तो पट का निर्माण करके अलग हट जाते हैं जबकि तन्तु उसी पट मे विद्यमान रहता है। उसे पट से पृथक नही किया जा सकता है। इस प्रकार जो कारण अपने कार्य से पृथक नहीं होता है काय के साथ ही समवेत रूप से रहता है वह समवायि कारण कहलाता है।

असमवायि कारण—काय एव समवायि कारण का ऐसा संयोग जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव न हो असमवायि कारण कहलाता है। इसका लक्षण

जिसका प्रकार प्रतिपादित किया गया है — "कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम् ।" – तर्क संग्रह । अर्थात् जो कार्य अथवा कारण के साथ किसी विषय (कार्य) में समवेत होता हुआ कारण हो वह असमवायि कारण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि ऐसा कारण जो स्वयं समवायि कारण न होते हुए भी कार्य अथवा समवायि कारण के साथ अविष्ट रूपेण इस प्रकार सम्बद्ध हो कि उसके साथ समवेत होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती हो अन्यथा नहीं असमवायि कारण कहलाता है। जैसे 'तन्तुओं का पारस्परिक संयोग'। जब तक तन्तुओं का संयोजन व्यवस्थित रूप से नहीं होगा या किया जायेगा तब तक पट (कपड़े) का निर्माण होना सम्भव नहीं है। तन्तुओं का ढेर लगा देने मात्र से उन तन्तुओं से पट निर्माण रूप कार्योत्पत्ति की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। यद्यपि तन्तुओं का यह व्यवस्थित संयोजन (संयोग) कार्य (पट निर्माण) का समवायि कारण नहीं है तथापि उसके बिना पट का निर्माण होना सम्भव नहीं है और वह भी पट (कार्य) के साथ समवेत रहता है, अतः वह उस पट रूप कार्य का असमवायि कारण है।

निमित्त कारण—कार्य की उत्पत्ति मे सहयोग करने वाले अन्य कारण जो कार्योत्पत्ति के पश्चात् कार्य से पृथक हो जाते हैं निमित्त कारण कहलाते हैं। यह निमित्त कारण उपयु क्त दोनो कारणो से भिन्न होता है। जैसा कि शास्त्र में प्रतिपादित किया किया गया है— तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् । —तर्क संग्रह । अर्थात् उपयु क्त दोनों से भिन्न जो कारण होता है वह निमित्त कारण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि समवायि कारण के अतिरिक्त अन्य जो भी उपकरण एवं साधन आदि कार्य की उत्पत्ति मे सहायक रूप से कारण भूत होते हैं वे सब निमित्त कारण होते हैं। कार्य उत्पादक कर्त्ता भी निमित्त कारण के अन्तर्गत ही आता है। क्योंकि वह भी कार्योत्पत्ति के अनन्तर कार्य से पृथक हो जाता है।

इस प्रकार किसी भी कार्य की उत्पत्ति मे उपयु क्त त्रिविध कारणो की अपेक्षा रहती है, अन्यथा कार्योत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। यही कार्य कारण भाव होता है। इसे ही अन्य आचार्य कार्य कारण सिद्धान्त भी कहते हैं। तर्क संग्रह में कार्य को प्रागभाव का प्रतियोगी माना गया है। अर्थात् कार्योत्पत्ति से पूर्व उस कार्य का अभाव रहता है-यही प्रागभाव है। कार्य उत्पन्न हो जाने पर उसका अभाव स्वतः नष्ट हो जाता है यही प्रतियोगिता है। इसीलिए कार्य को प्रागभाव का प्रतियोगी कहा गया है।

आयुर्वेद में कार्य कारण भाव

आयुर्वेद में कार्य कारण भाव का विशेष महत्व है। विभिन्न रोगों की उत्पत्ति रोगों का नाश आरोग्य सम्पादन आदि अनेक बातें है जो मात्र कार्य कारण भाव पर ही

आधारित हैं। जिस प्रकार संसार के अन्य कार्यों की उत्पत्ति के लिए समवायि असम वायि और निमित्त इन तीन प्रकार के कारणो की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार विभिन्न रोगो की उत्पत्ति के लिए भी ये त्रिविध कारण अपेक्षित होते हैं। क्योंकि रोग भी एक कार्य है और कोई भी काय बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता है। रोग की उत्पत्ति में दोष वैषम्य समवायि कारण बाह्य आहार आचार आदि निमित्त कारण तथा विकृत दोष एव द्रव्य का सयोग असमवायि कारण होता है। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति में इन तीनो प्रकार के कारणो की उपस्थिति अनिवाय है। तीनो की स्वतन्त्र सत्ता है और तीनो अयोन्य प्रेरित हैं। ये परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नही है अत सामान्यत तीनों ही रोगोत्पति मे कारण माने जाते हैं।

आयुर्वेद मे रोगोत्पादक कारण को निदान या हेतु कहा जाता है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है निदान रोगोत्पादको हेतु । अयत्र भी निदान कारणमित्युक्तमग्रे। इसी प्रकार रोग नाश रूप काय को करने मे हेतु या कारण चिकित्सा है। तद्वदेव आरोग्य भी काय है और उसके सम्यक अनुरक्षण मे हेतु या कारण सद्‌वृत्त (स्वस्थवृत्त) है। आयुवद के अनुसार रोग को उत्पन्न करने मे जो कारण होता है उसे निदान कहते हैं। वह निदान चार प्रकार का होता है। यथा-सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट व्यभिचारी और प्राधानिक।

सन्निकृष्ट हेतु—जसे दिन रात ऋतु और भोजन इनके पृथक् पृथक अश दोषों को प्रकुपित करने मे कारण है वे दोष सचय आदि की अपेक्षा नही रखते। जैसे दिन और रात्रि के पव भाग मे कफ मध्य भाग मे पित्त और अन्त भाग मे वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के आदि मध्य और अन्त में क्रमश कफ पित्त और वात का प्रकोप होता है।

विप्रकृष्ट हेतु—जसे हेमन्त ऋतु मे सचित श्लेष्मा वसन्त ऋतु मे प्रकुपित होकर श्लैष्मिक रोगो को उत्पन्न करता है। ग्रीष्म ऋतु में सचित वात वर्षा मे प्रकुपित होकर वातज रोगो को और वर्षा ऋतु मे सचित पित्त शरद ऋतु में प्रकुपित होकर पत्तिक रोगों को उत्पन्न करता है। यह दूरस्थ या विप्रकृष्ट निदान है।

व्यभिचारी हेतु—जो हेतु व्याधि को उत्पन्न करने मे असमर्थ होता है उसे व्यभिचारी हेतु कहा जाता है। जैसा कि महर्षि चरक ने भी कहा है—**अबलीयांसो ऽथवाननुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्ति** । (च नि ४/५) अर्थात् निदानादि जब निर्बल होते हैं और निर्बल होने से दूष्यो से सम्बन्ध नही करते तब विकारोत्पत्ति नहीं होती है।

प्राधानिक हेतु—उग्र स्वाभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित करके रोगों को उत्पन्न करने वाला हेतु प्राधानिक कहलाता है। मारक तीव्र विष इस श्रेणी

में आती है। विष व्यवायी आदि दस गुणों वाला होने से शरीर में शीघ्र क्षीण होकर विकार उत्पन्न करता है।

इन चार प्रकार के हेतुओ के अतिरिक्त पुन तीन प्रकार का हेतु बतलाया गया है। यथा १ असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग २ प्रज्ञापराध और ३ परिणाम। इनमें श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियो से शब्द आदि इन्द्रियार्थों का हीन मिथ्या और अतियोग होना असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित होकर कर्म करना प्रज्ञापराध है। धी धृति और स्मृति के विलुप्त होने पर मनुष्य जो अशुभ कर्म करता है वह प्रज्ञापराध कहलाता है। विभिन्न ऋतुओ के अपने अपने स्वभाव से होने वाली शीतता ग्रीष्म (उष्णता) एव वर्षा का अयोग अतियोग और मिथ्या योग होना परिणाम कहलाता है।

इसके अतिरिक्त रोगोत्पादक हेतु पुन तीन प्रकार के बतलाए गए हैं। यथा दोष हेतु व्याधि हेतु और उभय हेतु। दोषो का संचय प्रकोप एवं प्रशमन करने वाले स्वभावत उत्पन्न मधुरादि रस दोष हेतु कहलाते हैं। दोष निरपेक्ष व्याधि का उत्पादक हेतु व्याधि हेतु होता है। जैसे मद् भक्षण से पाण्ड रोग उत्पन्न होना। विशिष्ट दोष का प्रकोपक होते हुए भी व्याधि विशेष का भी उत्पादक हतु उभय हेतु कहलाता है।

इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के हेतुओ (करणों) से विभिन्न रोगो की उत्पत्ति होती है जिससे कार्य-कारण भाव स्पष्ट है। अर्थात यदि कारण याने रोगोत्पादक विविध हेतु नहीं होगे तो कार्य याने रोग उत्पन्न नही होगा। इसी प्रकार धातुसाम्य रूपी कारण के अभाव मे रोगनाश रूपी कार्य का होना असम्भव है। अत स्पष्ट है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है।

दार्शनिक मनीषियो द्वारा उपयु क्त कार्य-कारण भाव को व्यक्त करने वाले निम्न दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं—सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। ये दोनो सिद्धान्त यद्यपि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एव विपरीतता युक्त हैं, फिर भी कार्य और कारण भाव का विवेक इनमें विद्यमान होने के कारण इन्हें सधर्मी माना गया है। ये दोनों सिद्धान्त यद्यपि एक दूसरे के मत का खण्डन करते हुए स्वमत का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु कार्य की सत्ता के प्रति चूं कि दोनो मतावलम्बी समान दृष्टिकोण रखते हैं, अत एकत्र ही दोनों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

सत्कार्यवाद

यह सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा सांख्य दर्शन कार्य और कारण में कोई भेद नहीं मानता। कार्य और कारण में जो भेद परिलक्षित होता है वह केवल व्यावहारिक है। वस्तुतः तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। क्योंकि

सांख्य दर्शन के मतानुसार जो कार्य उत्पन्न होता है उसका अस्तित्व उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान रहता है। यदि उत्पत्त्यर्थ कार्य का अव्यक्त अस्तित्व अपने कारण में विद्यमान न होता तो उससे कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे दूध में मक्खन विद्यमान रहता है किन्तु अव्यक्त होने से वह दिखलाई नही पड़ता। उसी दूध का दही जमाकर बिलोने से वह प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कार्य केवल कारण की व्यक्तावस्था है और कारण केवल कार्य की अव्यक्तावस्था है। अत कार्य और कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। सांख्य दर्शन का यही सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। इस कार्य-कारणवाद को ही आचार्यों ने परिणामवाद भी कहा है। अत ये दोनो इसी सिद्धान्त के द्योतक नामान्तर मात्र हैं। सांख्य दर्शन ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन मे निम्न कारण एव युक्तियाँ दी हैं—

असदकारणादुपादानग्रहणात सर्वसम्भवाभावात ।
शक्तस्य शक्यकरणात कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

—सांख्य कारिका ६

अर्थात् असद् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती है। उपादान ग्रहण (सत् कारण) से ही सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी प्रकार के कारणो से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शक्तिमान कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होती है अत कारण की सत्ता होने के सत्कार्य होता है। याने कार्य का अस्तित्व प्रकाश मे आता है।

असद्कारणात —जिस वस्तु का अस्तित्व नही होता है उसकी उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि जो वस्तु सत्तायुक्त (अस्तित्ववान्) होती है वही सत् होती है। सत्ता रहित वस्तु असत होती है। जो वस्तु सत्ताहीन अविद्यमान अस्तित्वहीन या असत होती है उससे सत रूप कार्य की उत्पत्ति कदापि सम्भव नही है।

जैसे नासदुत्पादो नृश्रृंगवत (सां द ११४) अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य के सिर मे सींग उत्पन्न नही हो सकते हैं उसी प्रकार असत्कार्य की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं हैं। जो सत् रूप कार्य उत्पन्न होता है वह अपने उत्पादक सत् रूप कारण मे पहले से विद्यमान रहता है। क्योंकि कार्य का अस्तित्व रहने पर ही कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले महदादि तत्व भी सत्कार्य हैं। क्योंकि वे बीज रूपेण अपने उत्पादक सत्कारण रूप अव्यक्त में विद्यमान रहते हैं। घट रूप कार्य को उत्पन्न करने में मिट्टी कारण है। इसीलिए मिट्टी से घट का निर्माण (उत्पत्ति)

होना सम्भव है। यदि मिट्टी में घट रूप कार्य का अस्तित्व नहीं होता तो उससे किसी भी प्रकार घट की उत्पत्ति नहीं हो पाती। क्योंकि असत् कारण होने से अर्थात् कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं होने से अनेक प्रयत्न करने पर भी कार्य को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे पत्थर से पानी उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पानी रूप कार्य का अस्तित्व पत्थर रूप कारण में विद्यमान नहीं है।

उपादान ग्रहणात्—उपादान का तात्पर्य है नियत कारण। प्रत्येक कार्य का कारण नियत होता है। उसे ही उपादान कहते हैं। उपादान अर्थात् कारण के नियत होने से ही नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस कार्य का जो उपादान (नियत कारण) है उसी कारण से वह कार्य उत्पन्न होता है। 'उपादाननियमात्' (सां द. ११५) अर्थात् उपादान कारण का नियम होने से असत् (अविद्यमान) कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। सत कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होना ही उपादान नियम है। जैसे दही का उपादान (नियत कारण) दूध है वस्त्र का उपादान कारण तन्तु है, घट का उपादान कारण मिट्टी है।

सर्व सम्भवाभावात्—सभी कारणो से सभी कार्यों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है क्योकि उचित काल एव उपयुक्त साधन होने पर ही कारण से कार्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कारण समस्त कार्यों को उत्पन्न करने मे असमर्थ हैं— सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात (सां द ११६) अर्थात् समस्त काल में प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होना असम्भव है। अत कार्य का अस्तित्व निज सत्कारण मे ही रहता है और उसी कारण से वह उत्पन्न होता है न कि अन्य कारण से। गर्भज प्राणी गर्भ से ही उत्पन्न होते हैं। स्वेदज जन्तु स्वेद से और अण्डज प्राणी अण्डे से ही उत्पन्न होते हैं। तेल तिलहन से ही निकल सकता है, मिट्टी या पत्थर से नहीं। दही दूध से ही जम सकता है, पानी या अन्य द्रव्य से नहीं।

शक्तस्य शक्यकरणात—जिस कारण मे कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य या क्षमता है वह कारण ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है। अत शक्ति सम्पन्न कारण से ही शक्य कार्य उत्पन्न होता है। अशक्त कारण में कार्योत्पादन का अभाव होने से उससे शक्य कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अत कार्योत्पादन में समर्थ कारण मे ही कार्य का अस्तित्व अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है।

कारणभावात्—कारण भाव से अर्थात् कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारणभाव में विद्यमान रहता है। जैसे उत्पन्न होने वाला वृक्ष अपने कारण भाव बीज रूप में अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है। अत. वस्तुत. कार्य और कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों अभिन्न है। दोनों में केवल अवस्था भेद है। कार्य और कारण एक ही पदार्थ की दो अवस्था विशेष हैं। व्यक्तावस्था कार्य और अव्यक्तावस्था कारण कहलाती है।

उपर्युक्त तथ्यो से यह स्पष्ट है कि काय जब तक उत्पन्न नहीं होता है अथवा अपने व्यक्त स्वरूप में नहीं आता है तब तक वह अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से साख्य दर्शन मतानुसार न तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और न किसी पदार्थ का विनाश होता है। अपितु हमे किसी द्रव्य की उत्पत्ति का जो अनुभव होता है वह वस्तुत उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। कोई अव्यक्त पदार्थ यदि अपने व्यक्त स्वरूप मे आता है तो व्यवहारिक रूप से हम भले ही उसकी उत्पत्ति कहें किन्तु यथार्थत वह उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। इसी प्रकार पदाथ की व्यक्तावस्था जब अव्यक्तावस्था मे परिवर्तित हो जाती है तब कहा जाता है कि पदाथ का विनाश हो गया। किन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि काय अपने कारण मे तिरोहित हो जाता है। पदार्थ का स्थूलत्व अपने सूक्ष्मत्व मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार न तो किसी द्रव्य की सवथा नवीन उत्पत्ति होती और न ही नितान्तत उसका विनाश होता है। क्योकि जो असत (अस्तित्व हीन) होता है उसकी कभी उत्पत्ति नही हो सकती और जो सत् होता है उसका कभी विनाश नही होता। हमे द्रव्य का जो विनाश दिखलाई पड़ता है वह केवल उसकी पर्याय या अवस्था का परिवर्तन मात्र है। भगवद् गीता मे भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

अर्थात्—असत (अस्तित्व रहित) द्रव्य का भाव (उत्पत्ति) और (अस्तित्ववान्) द्रव्य का अभाव (निवाश) कभी नही होता। इसी तथ्य को आगे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

अव्यक्ताद व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—भगवद गीता ८/१८

अर्थात्त प्रभात होने (दिन निकल आने) पर समस्त पदार्थ अव्यक्त (अस्पष्ट या अधकारावृत) से व्यक्त (स्पष्ट या भासमान) हो जाते हैं और रात्रि होने पर पुन उसी अव्यक्त सज्ञा (अधकार) में विलीन हो जाते हैं।

साख्य कारिका की उपयुक्त कारिका की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति ने सत्कार्यवाद का समथन निम्न प्रकार से किया है—

एक वस्तु मे उत्पत्ति तथा विनाश क्रिया की बुद्धि के व्यपदेश या समर्थन होने से एकान्तिक भेद की सिद्धि सम्भव नहीं है। जैसे यह तन्तु है यह पट है, इस प्रकार तन्तु मे पट बुद्धि के व्यपदेश का समथन होने से एकान्तिक भेद नहीं होता। क्योंकि एक द्रव्य में उसकी विशेष अवस्था मे आविर्भाव और तिरोभाव होने से उनमें अधिक

भेद नहीं है। जैसे कछुआ अपने अंग (सिर और ग्रीवा) को अपने शरीर में छिपा लेता है अर्थात उसके अंगों का तिरोभाव हो जाता है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि उसके अंगों का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार पुन वह अपने तिरोभूत या छुपाए हुए अंगो को बाहर निकालता है तब अंगो का आविर्भाव हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे अंग नवीन रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। अपितु अंग तो प्रत्येक अवस्था में विद्यमान हैं वे केवल अव्यक्त और व्यक्त होते हैं। उसी प्रकार मिट्टी का घडा तथा सुवर्ण के मुकट आदि का आविर्भाव उसकी उत्पत्ति का बोधक होता है और उसका निवेश अर्थात घडे का पुन मिट्टी रूप में होना तथा मुकुट का पुन' स्वर्ण रूप मे होना उसका विनाश या विध्वंस कहलाता है। किन्तु वस्तुत यह उत्पत्ति और विनाश न हो कर केवल अवस्थान्तर प्राप्ति है। अत इस व्यवस्था से असत् की उत्पत्ति और सत् विनाश सम्भव नही है ?

जैन दर्शन में भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् यह सत् का लक्षण बतलाते हुए प्र येक द्रव्य की तीन अवस्थाओ का निरूपण किया है। तदनुसार जब मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता है तो घटाकार की उ पत्ति होती है मिट्टी की आकृति का विनाश होता है-यह व्यय है। किन्तु मिट्टी दोनो ही अवस्थाओ मे यथावत् रहती है। यह ध्रौव्यत्व है। इस प्रकार घट निर्माण मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्तता होने से वह सत् रूप है। इसी प्रकार स्वर्ण से जब कोई आभूषण बनाया जाता है तो आभूषण का निर्माण होना उत्पाद है जिस आकार विशेष मे स्वण विद्यमान था उसका विनाश होना व्यय है। आभूषण निर्माण और उससे पूवकी स्थिति दोनो मे स्वर्ण विद्यमान है यह ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि प्रत्यक द्रव्य अस्तित्ववान् है। जब एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का निर्माण होता है तो प्रथम द्रव्य का विनाश और दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति मानी जाती है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि न तो पूर्व द्रव्य का विनाश होता है और न ही अपर द्रव्य की उत्पत्ति अपितु द्रव्य की मात्र पर्याय बदलती है। जैसे मिट्टी अपनी पर्याय को छोडकर घट पर्याय को धारण कर लेती है अथवा स्वर्ण अपनी पूर्व पर्याय का परित्याग कर कुण्डल या अन्य आभूषण की पर्याय को धारण कर लेता है।

असत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद से विपरीत या भिन्न असत्कार्यवाद होता है। न्याय दर्शन में सत्कार्यवाद का खण्डन एवं निराकरण करते हुए असत्कार्यवाद को मान्य किया गया है। नैयायिकों के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति से पूव उसकी सत्ता कारण में

नहीं रहती है । अत सत्कार्यवादियों का यह कथन ठीक नही है कि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। वस्तुत कोई भी कार्य अपने किसी कारण में पहले से विद्यमान नही रहता है अपितु उत्पन्न होने के बाद वह प्रकट होता है। अत वह एक सर्वथा नवीन रचना या कृति होती है और उत्पत्ति के बाद ही उसके अस्तित्व की अनुभूति होती है। नैयायिको के मतानुसार प्रत्येक काय अपने उपादान कारण (समवायि या मूल करण) से सर्वथा भिन्न होता है। साथ ही उसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मे अन्य कारण जैसे कर्त्ता निमित्त कारण आदि भी अपेक्षित होते हैं। उन अन्य कारणो के अभाव में काय की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अत यह मानना समीचीन नही है कि मूल कारण मे काय की सत्ता पहले ही विद्यमान रहती है।

जिस स्वर्ण से कुण्डल (आभूषण) का निर्माण होता है वह स्वण यद्यपि कुण्डल के निर्माण मे कारण है किन्तु स्वण ही कण्डल नहीं है। इसी प्रकार जिस मिट्टी से घड का निर्माण होता है वह मिट्टी यद्यपि घट रूप काय की उत्पत्ति मे कारण है कि तु मिट्टी ही घडा नही है। अत कण्डल स्वर्ण से और घडा मिट्टी से सर्वथा भि न है। इस प्रकार काय असत् (अविद्यमान) होते हुए भी उत्पन्न होता है या उत्पन्न किया जाता है।

असत्कार्यवाद के समथक एव सत्कायवाद के विरोधी दार्शनिको के मता नुसार यदि काय को कारण से भिन्न नही माना जाय और यदि यह माना जाय कि उत्पन्न होने से पूव काय अपन ही कारण मे अ यक्त रूप से विद्यमान रहता है तो फिर उसकी उत्पत्ति के लिए निमित्त आदि कारणा तर अपेक्षित क्यो है ? उसे स्वय उत्पन्न हो जाना चाहिये था। साथ ही यदि कारण मे काय का अस्तित्व पहले ही विद्यमान है तो एकाकार होने से दोनो को एक ही सज्ञा (नाम) से व्यवहृत किया जाना चाहिये। पृथक पृथक नामकरण की आवश्यकता नही होना चाहिये थी। इस प्रकार दोनो मे अभेद मान कर व्यवहार करना चाहिये। अर्थात् घड़ और मिट्टी को या तो घडा ही कहा जाना चाहिये या मिट्टी। ऐसी स्थिति मे दोनो मे भेद करना सम्भव नही होगा। किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही है। दोनो भिन्न और पृथक है। घडा अलग है और मिट्टी अलग है।

यदि कारण से काय भि न नही माना जाय और कारण में काय का अस्तित्व पहले ही स्वीकार कर लिया जाय तो दोनों से समान प्रयोजन की सिद्धि होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता है। घडा पानी रखने के प्रयोजन को सिद्ध करता है जबकि मिट्टी गृह निर्माण तथा अन्य वस्तुओ के निर्माण के प्रयोजन को सिद्ध करती है। अत दोनो मे भिन्नता एवं पृथगस्तित्व स्पष्ट है। घट और मिट्टी की आकृति स्वरूप आदि मे भी भिन्नता स्पष्टत लक्षित होती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार मिट्टी से घट आदि का निर्माण होता है उसी प्रकार मृ मय घट से भी अन्य वस्तुओ का निर्माण

होना चाहिये । किन्तु यह सम्भव नहीं है । अतः स्पष्ट है कि घड़ा (कार्य) और मिट्टी (कारण) भिन्न स्वरूप, भिन्न स्थिति और अस्तित्व वाले अलग-अलग द्रव्य हैं ।

आयुर्वेद में असत्कार्यवाद को मान्य नहीं किया गया है । सत्कार्यवाद के अभाव में आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनम्‌ की सिद्धि नहीं हो पाएगी । क्योंकि यह कार्य है और कारण के बिना इसका (कार्य का) होना सम्भव नहीं है । अतः आयुर्वेद में सत्कार्यवाद को ही मान्य किया गया है ।

परमाणुवाद

यह वैशेषिक दर्शन सम्मत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त द्रव्यों का कोई न कोई परिमाण अवश्य होता है । द्रव्यगत वह परिमाण चार प्रकार का हो सकता है। यथा अणुपरिमाण महत्परिमाण ह्रस्व परिमाण और दीर्घ परिमाण । कोई भी द्रव्य इस चतुर्विध परिमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता है । सामान्यत द्रव्य उपयुक्त परिमाण की अपेक्षा रखते हैं । अर्थात द्रव्य एक दूसरे की अपेक्षा अणु या महत्परिमाण वाले हो सकते हैं । जैसे एक घडा अपने से बड़े (महत्) घडे की अपेक्षा छोटा (अणु) है किन्तु वही घडा अपने से छोटे (अणु) घड़े की अपेक्षा बडा (महत) है । इस प्रकार अपेक्षा भेद से परिमाण में अन्तर हो सकता है । किन्त प्रकृति का यह नियम है कि यदि किसी द्रव्य की निरन्तर उत्तरोत्तर वद्धि होती जाय तो किसी न किसी स्थान पर उसकी समाप्ति या विश्राम अवश्य म्भावी है । अर्थात द्रव्य की वद्धि की एक सीमा है जिसके आगे द्रव्य की वृद्धि नहीं होती है । वह सीमा ही परम महत परिमाण है । जैसे-आकाश । आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यो मे महत्परिमाण वाला है । उससे अधिक महत्परिमाण किसी अन्य द्रव्य का सम्भव नही है । इसी प्रकार किसी द्रव्य को छोटे से छोटा किया जाय तो अ त मे उस स्थान पर आकर रुकना पडेगा जहा उसका उस से अधिक छोटा आकार नही किया जा सकता । इस प्रकार द्रव्य का सब से छोटा आकार ही अणु परिमाण कहलाता है । द्रव्य के न्यूनातिन्यून होने की अंतिम सीमा अणुपरिमाण तक है । इस से छोटा आकार उसका नहीं होने से वह 'परमाणु' कहलाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाण वाला होता है उसे 'परमाणु' कहते हैं। वह परमाणु निरवयव एवं अचाक्षुष होता है। अर्थात् परमाणु का पुन विभाग नहीं होता । क्योंकि उसका अन्य अवयव नहीं होता । अन्य अवयव नहीं होने से वह एकावयवी या निरवयव है । वह इतना सूक्ष्म होता है कि चक्षुओं के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है । अत वह अचाक्षुष है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण न्याय भाष्य में वात्स्यायन मुनि द्वारा निम्न प्रकार से किया गया है—

जब किसी मिट्टी के ढल को पीसने से उसके अवयवो का विभाग हो जाता है और उक्त विभाग से अवयव उत्तरोत्तर अल्प अल्पतर होते हुए जहाँ समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहां अवयवो के अल्प-अल्पतर होने का तारतम्य समाप्त हो जाता है जिसके अनन्तर विभाग करने पर भी कोई अवयव विभक्त नही हो सकता वही अन्तिम होने से अन्त्यावयव एव अवयव रहित होने से निरवयव रूप हुआ परम सूक्ष्म होने के कारण परमाणु कहलाता है। यही परमाणु संसार के विभिन्न द्रव्यो की इकाई माना जाता है। यह सर्वापेक्षया सूक्ष्म इन्द्रियातीत निरवयव और नित्य होता है। द्रव्यो के असख्य होने के कारण तथा एक द्रव्य के असख्य परमाण होने के कारण य असख्य होते है।

सामान्यत चक्षुओ के द्वारा दिखलाई देने वाला सूक्ष्मतम द्रव्य वह धूलिकण है जो खिडकी के द्वारा आने वाले प्रकाश की किरणो मे उडता हुआ परिलक्षित होता है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत यही अणु है और इसस सूक्ष्मतम अवयव या विभाग नही हो सकता। किन्तु वस्तुत ऐसी बात नही है। उसके उत्तरोत्तर विभाग किए जा सकते है। अब प्रश्न यह है कि विभाग कहा तक किया जा सकता है ? यदि केवल कल्पना के आधार पर ही विभाग किया जाय तो विभाजन का काय समाप्त नही हो सकेगा और न ही इस विभाजन शृखला का अन्त होगा। अत यह प्रवृत्ति अनन्त तक चलती रहेगी। ऐसा होने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और अनवस्था होने पर ससार के सभी द्रव्यो को एक ही परिमाण वाला स्वीकार करना पडगा। परिणामत राई और पवत के परिणाम मे कोई अन्तर नही होगा। अभिप्राय यह है कि जिम द्रव्य के आरम्भक अवयवो की सख्या अधिक होती है वह अधिक परिमाण वाला और जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवो की सख्या अल्प होती है वह न्यून परिणाम वाला होता है-यह नियम है। इस नियम के अनुसार पवत और राई दोनो के परस्पर परिमाण मे भेद है। क्योकि पवत के आरम्भक अवयवो की संख्या अधिक और राई के आरम्भक अवयवो की सख्या न्यून होती है। इन दोनो का क्रमश विभाग करने पर कही न कही अन्त अवश्य होगा। यदि इनके विभाग का अन्त नही माना जाय तो अनवस्था होगी और अनवस्था के कारण दोनो का परिमाण एक ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा नही है। अत दोनो के विभाग का अन्त अवश्य है। जो अन्तिम अवयव होगा वही द्रव्य की इकाई है और वही परमाणु कहलाता है। इसी आधार पर विद्वानो का मत है—

जालान्तरगते भानो यत्सूक्ष्म दृश्यते रज ।
तस्य त्रिंशत्तमो भाग परमाणुरुच्यते बुधै ।।

वैशेषिक दर्शन ने इस विषय मे गम्भीर चिन्तन की विलक्षण विचार धारा

प्रस्तुत की है। प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति परमाणु समूह से हुई है। द्रव्य के सूक्ष्मतम अवयव की इकाई को परमाणु कहा गया है। इन परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक' का निर्माण होता है। इसे अणु भी कहते हैं। कारण चक्षु के द्वारा इसका ग्रहण नहीं होता है। अत परमाणु की भांति यह भी अतीन्द्रिय होता है। किन्तु कार्य होने से अणु अथवा द्वयणुक अनित्य होता है। इसके विपरीत परमाणु नित्य होता है। तीन द्वयणुको के संयोग से त्र्यणक की उत्पत्ति होती है। यह त्रसरेणु भी कहलाता है। यह महत परिमाण वाला होता हैं। महत् परिमाण वाला होने से त्रसरेणु चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रियगम्य होता है। त्रसरेणु के आगे समस्त द्रव्य चाक्षुष एव कार्य होने से अनित्य होते हैं। संसार के समस्त द्रव्य कार्य हैं और प्रत्येक द्रव्य के आरम्भक परमाणु पृथक् हैं। पृथक पथक होने से वे अनेक हैं। अत एक ही परमाण की कल्पना निर्मूल है। यदि एक ही परमाण पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यो का आरम्भक होता तो इसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति बनी रहती और कभी भी कार्य का विनाश नहीं होता। क्योकि निम्न दो कारणो से काय का विनाश होता है—(१) अवयव विभाग और (२) अवयव नाश। किन्तु परमाण एक होने से उनका अवयव विभाग सम्भव नही है और परमाणु के नित्य होने से उसका विनाश भी सम्भव नहीं है। अत प्रत्येक कार्य द्रव्य अपने पथक्-पृथक परमाणुओ का समूह मात्र है। सभी काय द्रव्यो का परमाणु एक नही है। अपितु भिन्न भिन्न और अनेक हैं।

भिन्न भिन्न दार्शनिक विद्वानो ने अपने दृष्टिकोण एव सिद्धान्त के अनुसार परमाण को भिन्न भिन्न नाम से व्यवहृत किया है। यद्यपि सामान्यत प्राय सभी दर्शनाचार्यों ने परमाणु के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन मे मात्र संज्ञा भेद ही है मौलिक रूप से कोई अन्तर नही है। यद्यपि प्रकार भेद की दृष्टि से परमाणुओ का वर्गीकरण अथवा श्रेणी विभाजन नही किया जा सकता है क्योकि काय द्रव्यों की अनेकता के कारण परमाणु भी अनेक हैं। किन्तु फिर भी सत्व रज और तम भेद से परमाणु तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं को सांख्य दर्शन योग दर्शन और वेदान्त दर्शन मे त्रिगुण संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। न्याय वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में इनकी परमाणु संज्ञा है। उपनिषदो मे इनका उल्लेख लोहित शुक्ल और कृष्ण तथा प्रकाशक क्रिया जनक और आवरक नाम से किया गया है। इस प्रकार दार्शनिको के मतानुसार कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति मे कारण भूत द्रव्य परमाणु ही है किन्तु उसका नामकरण भिन्न भिन्न है। उपादान कारणत्व की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सृष्टि का स्वरूप परमाणमय है। किन्तु उसके

मतानुसार जिन परमाणओ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है वे परमाणु विभाजनशील और अनित्य हैं। भारतीय दार्शनिकों का मत इसके सर्वथा विपरीत है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवतक महर्षि गौतम एव कणाद के अनुसार परमाणु नित्य और अविभाजनशील होता है। आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु पाञ्च भौतिक है इसके विपरीत वैशेषिक दशनोक्त परमाण महाभतो को उत्पन्न करने वाला है। पाँच महाभूतों में से चार महाभूत अर्थात पथ्वी जल तेज और वायु परमाणु रूप से और आकाश व्यापक रूप से काय द्रव्य की उत्पत्ति मे कारण होते है। द्रव्यो का विभाजित नहीं होने वाला अश ही परमाणु है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु स्वयं गुण रहित होते हैं और उनमे तौल स्थान व क्रम का अन्तर होता है। किन्तु महर्षि कणाद द्वारा स्वीकृत परमाणु विशेष गण से युक्त होता है। पाश्चात्य दर्शन शास्त्र के आचार्यों ने परमाणुओ को स्वत गमनशील और आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला निरूपित किया है। वे अनन्त आकाश मे विचरण करते हुए परस्पर सघष से सष्टि की उत्पत्ति करने मे सक्षम होते हैं। इसके विपरीत वशेषिक दशन के सिद्धान्तानुसार परमाणु स्वभावत शा त एव निष्पद अवस्था मे होते हैं। उनमे स्पन्दन क्रिया अदृष्टजन्य है। अर्थात् जिस प्रकार अयष्का त मणि (चम्बक विशष) की ओर सुई की स्वाभाविक गति वृक्षो मे रस का नीचे से ऊपर की ओर चढना और मन की द्र त गति अदृप्टजन्य है। ये परमाणु महाभूत को उ प न करने वाले होते हैं। आ मा स्वय नित्य और चेतनावान् है। अत. परमाणुओ के द्वारा आ म त व की उ पत्ति का पाश्चा य सिद्धा त न केवल भ्रामक अपितु निमू ल है। इस प्रकार भारतीम दशन की चि तन धारा से अनुप्राणित परमाण वाद सिद्धा त पाश्चा य परमाणवाद के सिद्धान्त से सवथा विपरीत है।

स्वभावोपरमवाद

स्वभावोपरम का सामा य अर्थ होता है—कारण निरपेक्ष विनाश अर्थात जिसके विनाश मे कोई कारण न हो अथवा स्वभावत (अपने आप) वस्तु का विनाश होना। यथा— स्वाभावात विनाशकारणनिरपेक्षात उपरमो विनाश स्वभावोपरम । इसके अनुसार ससार के समस्त भ वो का स्वभावत उपरम (विनाश) होता है। अर्थात विनाश का कोई कारण नही होता। भावो की प्रवत्ति या वृद्धि का तो कोई कारण अवश्य होता है कि तु भावो के विनाश का कोई कारण नहीं होता। वह स्वभावत स्वत हो जाता है। यह आयुवद का एक महत्वपूण सिद्धा त है। चिकित्सा की दृष्टि से यह अत्यधिक उपयोगी सिद्धान्त है। महर्षि चरक ने शरीर की धातुओ पर इस सिद्धान्त की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। यथा—

जायन्ते हेतुवषम्याद्विषमा देहधातव ।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरम सदा ॥

—चरकसहिता सूत्रस्थान १६/२७

अर्थात् जिन कारणो से धातुओ की पुष्टि होती है उन कारणों मे यदि विषमता आ जाती है तो शारीरिक धातुओं मे भी विषमता आ जाती है। यदि कारणों में समता रहती है तो देह धातुओं में भी समता हो जाती है। इन धातुओं की शान्ति (शमन या विनाश) स्वभाव से ही होती रहती है।

आयुर्वेद के अनुसार समस्त साधन भेषज एवं अन्य भौतिक द्रव्य अपायभंगी हैं, फिर भी शमन होता है। उपयु क्त श्लोक द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि होती है। शरीर मे धातुओ की वद्धि और ह्रास सतत होता रहता है। हम जो कुछ भी आहार लेते है उससे रसादि सप्त धातु वातादि दोष एव पुरीषादि मल पुष्ट होते हैं। इसका कारण यह है कि – **वृद्धि समाने सर्वेषां विपरीतैर्विपर्यय** के अनुसार जिस धातु के समान आहार रस होता है वह आहार रस उस धातु की वृद्धि करने वाला होता है और जिस धातु के गुणो के विपरीत आहार रस होता है वह रस उस धातु का ह्रास करने वाला होता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण चरक के उपयु क्त श्लोक मे किया गया है।

यद्यपि सामान्य विशेष सिद्धान्त के अनुसार शरीर के दोष धातु-मल की वद्धि और ह्रास हुआ करता है किन्तु इन दोनो कारणों के अतिरिक्त प्रत्येक कार्य करने पर भी धातुओ का क्षय हुआ करता है जिसकी पूर्ति आहार रस के द्वारा क्रमश हुआ करती है। अर्थात रस से रक्त रक्त से मांस मांस से मेद मेद से अस्थि अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र धातु की पुष्टि होती रहती है। आहार का सेवन करने के पश्चात जब उसका मधुर विपाक होता है तब मधुर रस उत्पन्न होने से कफ की अम्ल विपाक होने पर अम्ल रस की उत्पत्ति होने से पित्त की और कटु विपाक होने पर (कटु रस का निर्माण) होने से वात की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शरीर मे दोष धातु आदि का जो स्वभावत क्षय (नाश) होता है उसकी पूर्ति आहार रस से होती रहती है। महर्षि चरक के मतानुसार भावो की प्रवृत्ति तो सहेतुक होती है किन्तु स्वभावोपरम अहेतुक होता है। यथा—

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्॥

—चरक संहिता सूत्रस्थान १६/२८

अर्थात् उत्पन्न होने वाले भावों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) का तो कारण होता है किन्तु उसके निरोध (नाश) में कोई कारण नही होता है। कुछ लोग हेतु का नहीं होना ही नाश में कारण मानते हैं।

अभिप्राय यह है कि रस रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति में आहार रस आदि

कारण होते हैं। किंतु धातुओं के नाश होने मे कोई कारण नहीं होता है। क्योंकि नाश स्वभावत ही होता रहता है। इसी प्रकार आहार की विषमता से धातुओं मे विषमता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु विषमता के नाश में कोई कारण नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो यह बतलाया गया है कि —मधराम्ललवणा वात शमयन्ति अर्थात् मधुर अम्ल और लवण रस से वायु का शमन होता है उसका नाश होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मधुरादि रस अपने समान गण वाले दोष धातु की वृद्धि करने वाले होते हैं। ये बढ़ हुए दोष धातु अपने से विपरीत गुण वाले दोष धातु को स्वभाव कम कर देते हैं। अत ये रस वात शामक हैं—ऐसा कहा जाता है। मधुर, अम्ल और लवण रस पूण रूप से कफ की वद्धि करते हैं और अम्ल लवण रस पूण रूप से पित्त की वृद्धि करते हैं। अत इससे विपरीत गुण वाली वायु मे स्वभावत दुर्बलता आ जाती है। वायु मे जब दुबलता आ जाती है तो स्वभावत उसका शमन हो जाता है। इसी प्रकार अय दोष और धातुओ के विषय में भी समझना चाहिए कि अपने विपरीत गण वाले दोष और धातु की वद्धि हो जाने पर स्वभावत उनका क्षय हो जाता है। इसीलिए उत्पत्ति मे कारण माना है विनाश मे नही। इसी तथ्य को महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से और भी अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

न नाशकारणाभावाव भावानां नाशकारणम।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम॥
शीघ्रगत्वाद्यथाभतास्तथाभावो विपद्यते।
निरोध कारण तस्य नास्ति नवान्यथा क्रिया॥

—चरक सहिता सूत्रस्थान १६/३२ ३३

अर्थात नि य चलने वाले काल के नाश के कारण की तरह नाश के कारण का अभाव होने से उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थों के नाश का कारण ज्ञात नही होता है। भाव पदाथ जिस तरह उत्पन्न होता है उसी प्रकार शीघ्रगामी होने से नष्ट भी हो जाता है। इस तरह भाव पदाथ के नाश मे कोई कारण नही है और उसमे कोई सस्कार भी नहीं किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि जैसे नित्य शीघ्रगामी काल का नाश अज्ञात कारण से होता है उसी प्रकार भावो के विनाश का कारण भी अज्ञात है। काल निरन्तर गमनशील है इसकी उपस्थिति में शरीर एव ससार के सम्पूर्ण भाव भी गमनशील तथा परिवतनशील हैं। जो भाव नष्ट हो जाते हैं उनके स्थान पर नए भाव उसी भांति उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। विनाश अकारण होने से इस विनाश को रोका नहीं जा सकता है तथा विनष्ट हुए द्रव्य को दूसरे रूप से परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार शरीर की धातुए भी प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है और रूपान्तर में परिणत होती रहती है। धातुओं के परिणाम और निरोध (विनाश) में कोई कारण नहीं है और इसके स्वरूप मे हम कोई परिवर्तन भी नही कर सकते। जो वस्तु जिस समय जिस रूप मे अवस्थित रहती है वह वस्तु दूसरे ही क्षण में ठीक अपने ही समान वस्तु को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वय नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्रथम क्षण मे स्वयं उत्पन्न होती है दूसरे क्षण मे अपने समान वस्तु को उत्पन्न करती है और तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। जब वस्तु तीसरे क्षण में स्वत नष्ट होने लगती है तो उसमे किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु ये क्रियाए इतनी तीव्र गति से सम्पन्न होती हैं कि सामान्यत हमे इसका ज्ञान नही हो पाता। तात्पर्य यह कि उसकी प्रथम अवस्था के नाश में कोई कारण नही है और उसके विनाश मे कोई भिन्न क्रिया भी नही होती है। इससे सिद्ध होता है कि दोषो के विषम होने पर रोगोत्पत्ति होती है। यह विषमावस्था प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है दूसरे क्षण में अपने समान ही विषम अवस्था को उत्पन्न कर तीसरे क्षण मे स्वय नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पहले की विषमावस्था ज्यो की त्यो बनी रहती है। अत उसे कम करने के लिए चिकित्सा शास्त्र की आवश्यकता होती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर सक्षेप में कहा जा सकता है कि शरीर मे सदा निर्माण और उपरम (Wear and tear phenomena) का कार्य चल रहा है। Wear Phenomenon (निर्माण) मे तो आहार आदि से पूर्ति होने के कारण वह सहेतुक है। किन्तु Tear Phenomenon (उपरम) सदा स्वाभाविक (Netu al) गति से ही होता है और वह अहेतुक है। स्वाभावो परमवाद वर्तमान वैज्ञानिक विचार सरणि से अत्यधिक मिलता जुलता है। प्राचीन दर्शनो मे यह बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है।

परिणामवाद

परिणाम का अर्थ होता है परिवर्तन होना परिणत होना या बदल जाना। जब कोई वस्तु अपना स्वरूप परिवर्तन कर अन्य रूप धारण कर लेती है तो वह परिवर्तित रूप पूर्व वाली वस्तु का परिणाम कहलाता है। यह रूपान्तरण या विकार भी कहलाता है। जैसे दूध जब जम जाता है तो वह दही बन जाता है। अत दही दूध का परिणाम या विकार कहलाता है। इसी प्रकार पानी जब जम जाता है तो वह ठोस रूप धारण कर बर्फ बन जाता है। पानी का यह रूपान्तरण भी परिणाम ही कहलाता है। दार्शनिको ने इसे ही परिणामवाद की संज्ञा दी है। सांख्य दर्शन में परिणामवाद को मान्य किया गया है। इसी के आधार पर सांख्य दर्शन में सृष्टि के

उत्पत्ति क्रम की विवेचना की गई है। सांख्य दर्शन मे सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति को माना गया है जिसे अव्यक्त के नाम से व्यवहृत किया गया है। वह कार्य रूपा सम्पूर्ण सृष्टि (सम्पूर्ण चराचर जगत) उसी मूल कारण रूप प्रकृति या अव्यक्त का परिणाम है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से परिणामवाद की उपयोगिता स्वीकार की गई है।

आयुर्वेद मे परिणामवाद की प्रतीति स्थान-स्थान पर होती है। हम प्रतिदिन जो आहार ग्रहण करते हैं उसका पाचन होकर वह सार और किट्ट रूप में परिवर्तित होता है। सार भाग रस कहलाता है और किट्ट भाग मल या पुरीष कहलाता है। इस प्रकार भुक्त आहार का परिणाम रस और पुरीष होता है। इसी प्रकार उस आहार रस का कुछ अश रस धातु मे रस धातु का कुछ अश मास धातु मे मांस धातु का कुछ अश मेदो धातु मे मेदो धातु का कुछ अश अस्थि धातु मे अस्थि धातु का कुछ अश मज्जा धातु मे और मज्जा धातु का कुछ अश शुक्र धातु मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार एक धातु की उत्तरोत्तर धातु मे परिणति होना परिणामवाद की ही ज्ञापक है। महर्षि सुश्रुत ने धातुओ का उपयुक्त परिणाम निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है —

रसाद्रक्त ततो मांस मासान्मेद प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज शुक्रस्य सम्भव ॥

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान १४/११

इसी प्रकार शरीर मे जाठराग्नि के द्वारा आहार का परिपाक होने के अनन्तर जो रसोत्पत्ति होती है तथा रसो के परिपाक (परिणाम) के अन्त मे जो भाव विशेष उत्पन्न होता है वह विपाक कहलाता है। अत विपाक भी रसो का परिणाम ही है। यही भाव आचार्य वाग्भट ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है —

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत ॥ —अष्टाग हृदय

महर्षि चरक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि रस रक्तादि धातुए परिणाम को प्राप्त होती है और परिणाम को प्राप्त होने वाली उन धातुओ का अभिवहन करने वाले स्रोत होते हैं। इस प्रकार उन्हे भी परिणामवाद अभीष्ट था। इसका आभास उनके निम्न वचन से मिलता है—

स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।

—चरक संहिता विमान स्थान ५/३

इस सूत्र वाक्य मे प्रयुक्त परिणाममापद्यमानानाम् शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि दत्त ने निम्न प्रकार से उसे स्पष्ट किया है—

'परिणामपद्यमानानामिति पूर्वं पूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादि रूपतामापद्यमानानाम् ।

अर्थात परिणाम को प्राप्त होने वालों का अभिप्राय है पूर्व पूर्व रसादिरूपता का परित्याग करते हुए उत्तरोत्तर रक्तादि रूपता को प्राप्त होने वाली । तात्पर्य यह है कि रस धातु का परिणाम रक्त है रक्त का परिणाम मांस है मांस का परिणाम मेद है मेद का परिणाम अस्थि अस्थि का परिणाम मज्जा और मज्जा का परिणाम शुक्र होता है ।

उपयु क्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि आयुवद मे भी परिणामवाद को अ गीकार कर उसके आधार पर अनेक महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है । इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि वह परिणाम दो प्रकार का होता है—धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम । इसमें धम परिणाम वह होता है जिसमे वस्तु या परिणमन शील भाव विशेष के गुणो में परिवर्तन आ जाता है । जैसे भक्त आहार का परिणाम रस होता है रस का परिणाम रक्त होता है रक्त का परिणाम मांस होता है इत्यादि । इसमे उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त (परिणत) हुए भावो के रूप आकार मे तो परिवतन होता ही है उनके गुणो में भी परिवतन आ जाता है । इस प्रकार यह धम परिणाम होता है । इसके विपरीत जहा पर केवल रूप परिवर्तन होता है गण में कोई परिवतन नहीं होता वह लक्षण परिणाम होता है । जैसे दूध का परिणाम मलाई होता है । इसमे वस्तुत दूध के गणों मे परिवर्तन नही होता है उसका मात्र रूप ही परिवर्तित होता है । यह लक्षण परिणाम होता है ।

प्रकृति और काल के प्रभाववश मनुष्य के शरीर में भी परिवतन होता रहता है जो वय परिणाम है । महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार के परिवतन एव परिणामजन्य प्रभाव को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है— 'बालानामपि वय परिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति' —सु सू १४ । अर्थात बालको मे वय के परिणाम (पूव वय का त्याग और उत्तर वय की प्राप्ति) से शुक्र का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार परिणाम सज्ञक यह कारण अत्यन्त व्यापक उपादेय एवं ग्राह्य है । यही कारण है कि आयुर्वेद में परिणामवाद के आधार पर अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो एव विषयो का प्रतिपादन एव विवेचन किया गया है ।

विवर्तवाद

विवर्त का सामान्य अर्थ होता है भ्रम या भ्रान्ति । यह मिथ्या ज्ञान होता है । विवत की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार 'विरुद्ध वतन व्यवहार इति विवत ।

अर्थात् विरुद्ध (विपरीत या मिथ्या) व्यवहार (प्रतीति या आभास) जिसमें हो वह विवर्त कहलाता है। किसी वस्तु मे यथार्थ प्रतीति न होकर भ्रम मूलक मिथ्या या विपरीत प्रतीति होना विवर्तवाद है। जब हम किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में न जान कर किसी अन्य वस्तु के रूप मे जानते या समझते हैं तो वह विवर्त कहलाता है। जैसे थोडी दूर पर पडी हुई रस्सी को सर्प समझ कर डर जाना। यहा पर रस्सी मे सर्प का मिथ्या ज्ञान हुआ। इसी प्रकार सायं काल के झुरमुट मे किंचित दूरस्थ स्थाणु (ठूंठ) को देखकर उसे पुरुषाकृति समझना विपरीत या मिथ्या ज्ञान के कारण विवर्तवाद है।

विवर्तवाद का समर्थन एवं प्रतिपादन शाङ्कर वेदान्त के द्वारा किया गया है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि विवर्तवाद के अनुसार वस्तुत कारण अपने कार्य रूप मे परिवर्तित नही होता है जैसा कि परिणामवाद मे होता है अपितु कारण मे मात्र कार्य की प्रतीति होने लगती है। इसमे रस्सी बदल कर सर्प नही बन जाती है या स्थाणु बदल कर पुरुष नही हो जाता है अपितु रस्सी मे सर्प का और स्थाणु मे पुरुषाकृति का आभास होने लगता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप का परिवर्तन हुए बिना उसमे होने वाला विपरीत या मिथ्या ज्ञान अतात्विक अन्यथा प्रतीति होता है। इसे ही विवर्तवाद की संज्ञा दी गई है। इसमे सत्य और यथार्थ का अभाव रहता है। परिणामवाद की भांति वस्तु स्वरूप मे परिवर्तन नही होता है। कार्य या कारण अपने मौलिक स्वरूप मे ही विद्यमान रहता है। अत यह अतात्विक अन्यथा प्रतीति होता है।

वेदान्तवादी दार्शनिक 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करते हुए सम्पूर्ण चराचर विश्व को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार जगत् मे मात्र ब्रह्म ही सत्य है शेष समस्त पदार्थ मिथ्या है। अत सम्पूर्ण जगत और उसमे विद्यमान समस्त पदार्थ मिथ्या होने से विवर्त रूप हैं। ब्रह्म कारण है और जगत उसका कार्य है। इस प्रकार कार्य रूप यह सम्पूर्ण जगत कारण रूप ब्रह्म का विवर्त है। वेदान्त दर्शन मे इस तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपम्।
मायेशशक्तिरखिलं जगदाततनोति॥

अर्थात् ब्रह्म ही सत् (सत्य) है और यह संसार विवर्त रूप है। माया की शक्ति के कारण यह सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप प्रतिभासित (प्रतीत) होता है।

आयुर्वेद शास्त्र में विवर्तवाद कहीं भी परिलक्षित नही होता है। अत स्पष्ट है कि आयुर्वेद के मनीषियों को विवर्तवाद अभीष्ट नहीं है। किसी भी प्रसंग मे उन्होंने

इसका समर्थन नहीं किया है। मिथ्या ज्ञान होने से सम्भवतः आयुर्वेद में इसकी कोई उपयोगिता एवं सार्थकता नहीं है। अन्य दर्शन शास्त्रों में भी इसे स्वीकार नहीं किया गया है।

क्षणभंगुरवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार मे कोई भी वस्तु स्थिर नही है। प्रत्येक भाव की एक क्षण में उत्पत्ति दूसरे क्षण में स्थिति और तीसरे क्षण में विनाश हो जाता है। इस प्रकार ससार का प्रत्यक द्रव्य या भाव प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। यह बौद्धो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है। इसके अनुसार बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टि में पूर्व एव उत्तर के साथ वर्तमान का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस काल में जो जहा है वह वहीं और उसी काल में नष्ट हो जाता है। सदृशता ही काय-कारण भाव आदि व्यवहारो की नियामिका है। वस्तुत दो क्षणो का परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार बौद्धो की दृष्टि मे प्रत्येक द्रव्य की सत्ता क्षणिक होती है। यही बौद्धो का क्षणभगुरवाद है। इसे असत्कायवाद की सज्ञा भी दी गई है।

क्षणभगुरवाद बौद्ध दशन का सबसे बडा और प्रमुख सिद्धान्त है। इस वाद के अनुसार विश्व मे कुछ भी स्थिर नहीं है। चारो ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दृष्टि गोचर होता है हमे अपने शरीर पर ही विश्वास नही है क्योंकि इस मानव देह और मानव जीवन का ही कोई ठिकाना नही है। बौद्ध दशन मे भावनाओ के कारण ही क्षणभंगुरवाद का आविर्भाव हुआ है। वैसे तो प्रत्येक दशन ही भग (नाश) को मानता है किन्तु बौद्ध दशन की यह विशेषता है कि उसने जिस भग को अपनाया है उसके अनुसार कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक स्थिर नही रह पाती है अगले (दूसरे) ही क्षण वह वही या उसी रूप में नही रहती है अपितु परिवर्तित या दूसरी हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक विनाश होता रहता है।

बौद्ध दशन मे तक के आधार पर क्षणिकत्व की सिद्धि इस प्रकार की गई है— सर्वं क्षणिक सत्वात अर्थात् समस्त पदाथ क्षणिक हैं सत् होने से। सत् वह है जो अर्थ क्रिया (कुछ काम) करे। जसा कि कहा गया है—'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वात् वस्तुन। न्यायबिन्दु पृ १७। इसके अनुसार इस ढग की अनेक व्याप्तियां बनी हुई हैं कि जो-जो सत् है वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नही हैं अथवा जो-जो सत् है वह सभी प्रकार से एक दूसरे से भिन्न और विलक्षण है। अर्थात् कोई भी किसी के सदृश नहीं है। उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों में सत्पने का व्याघात हो जाने से अर्थ क्रिया की क्षति है। सम्पूर्ण सत् पदार्थ एक ही क्षण में सर्वांशत या समूल विनाश को प्राप्त

हो जाने वाले स्वभाववान हैं। अर्थात प्रतिक्षण विनाश होना उनका स्वभाव है। अभिप्राय यह है कि एक क्षण मे ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुए द्वितीय क्षण मे बिना कारण ही ध्वस को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सभी प्रकार से परस्पर मे भिन्न एव विलक्षण होते हैं। कोई किसी के सदृश या समान नही होता है। बौद्धो के इस सिद्धान्त के अनुसार सूय चन्द्रमा आत्मा सर्वज्ञ प्रत्यक्ष परमात्मा आदि पदार्थों के भी उत्तरोत्तर होने वाले असख्य परिणाम सदृश नही भिन्न होते हैं।

बौद्ध दशन की मान्यता है कि नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपद् अथक्रिया करती है और न क्रम से। नित्य वस्तु यदि युगपत अर्थक्रिया करती है तो ससार के समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय में ही उत्पन्न हो जाना चाहिये और ऐसा होने पर आगे के समय में नित्य वस्तु को कुछ भी काम करने को शेष नही बचेगा। अत वह अर्थ क्रिया के अभाव मे अवस्तु हो जायेगी। इस प्रकार नि य मे युगपत् अथक्रिया नही बनती है। नित्य वस्तु क्रम से भी अर्थ क्रिया नही कर सकती तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमे कुछ विशेषता उत्प न करते हैं या नही ? यदि सहकारी कारण नित्य में भी कुछ विशेषता उत्पन्न करते है तो वह नित्य नही रह सकती और यदि सहकारी कारण नित्य मे कुछ भी विशेषता उत्पन्न नही करते हैं तो सहकारी कारणो के मिलने पर भी वह पहले की तरह काय नही कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वय समर्थ है अत उसे सहकारी कारणो की कोई अपेक्षा नही होगी फिर क्यो न वह एक समय में ही समस्त काय कर देगी। इस प्रकार नि य पदाथ म न तो युगपद ही अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रम से। अथक्रिया के अभाव में वह सत भी नही कहला सकता। इसलिए जो सत् है वह नियम से क्षणिक है। क्षणिक ही अर्थक्रिया कर सकता है। यही क्षणभगुरवाद है।

क्षणभग के कारण ही बौद्ध दशन पदार्थों के विनाश को निर्हेतुक मानता है। विनाश प्र येक क्षण मे स्वय होता है किसी दूसरे के द्वारा नही। दण्ड के द्वारा (डण्डा मारने से) घट का जो विनाश होता हुआ देखा जाता है वह घट का विनाश नही अपितु कपाल की उत्पत्ति है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन क्षणभगवाद के आधार पर प्रतिक्षण वस्तु की नवीन उत्पत्ति मानता है।

पीलू पाक—पिठर पाक

पीलू पाक एव पिठर पाक ये दो सिद्धान्त क्रमश वैशेषिक एवं न्याय दर्शन

द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। इन दोनों सिद्धान्तों का सम्बन्ध मुख्यत पाक क्रिया से है जिसके द्वारा द्रव्यगत परिवर्तन होता है। द्रव्य के रूप रस गन्ध मे जो परिवर्तन होता है उसका मूल कारण तेज (अग्नि) का संयोग माना गया है। जैसे आम जब कच्चा होता है तो रूप में वह हरा रस में अम्लीय और तदनुरूप गन्ध वाला होता है। वही आम तेज संयोग वशात् पक जाने पर पीत वर्ण, मधुर रस और तदनुरूप गन्ध वाला हो जाता है। आम के इस रूप परिवर्तन में पाक क्रिया ही मूल कारण है जो तेज संयोगजनित होती है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार तेज सयोग के कारण होने वाली पाक क्रिया के परिणाम स्वरूप द्रव्य मे जो परिवर्तन होता है वह मूलत द्रव्यगत परमाणुओ में होता है न कि सम्पूर्ण द्रव्य में। वैशेषिक दर्शन च कि प्रत्येक द्रव्य को परमाणुओ का समुदाय मानता है अत द्रव्य में दिखलाई पडने वाला परिवर्तन भी उसके मतानुसार परमाणु निष्ठ होता है। जब कच्चे घडे को आग पर चढाया जाता है तो पुराना घडा नष्ट हो हो जाता है। इसका कारण यह है कि घडे का अग्नि के साथ सयोग होने से एक प्रकार का अभिघात या नोदन होता है जिससे घडे मे विघटन होता है। इस विघटन से घडे के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होता है और सयोग नाश होने से घट द्रव्य का नाश होता है अर्थात् वह परमाणुओ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अग्नि का ताप लगने से परमाणओं मे लाल रग उत्पन्न होता है और विघटित परमाणु पुन सघटित-सयुक्त होकर एक नवीन घडे को उत्पन्न करते हैं। इस मत के अनुसार पहले समस्त इकाई का परमाणओं के रूप में विघटन होता है और फिर उसके पश्चात् उन परमाणुओ का पुन सघटन होकर नए सिरे से एक नवीन इकाई का निर्माण होता है।

इसी प्रकार जब रोटी का पाक जनित रूपान्तर होता है तो प्रथम उसके परमाणुओं में विघटन की क्रिया होती है पश्चात् परमाणु पाक होकर उनमे रूपान्तर हो जाता है और उन पाक को प्राप्त हुए उन परमाणुओ से पुन रोटी का निर्माण होता है। वशेषिक मतानुसार घट का विस्खलन और पुनर्निर्माण इतनी शीघ्र गति से होता है कि इन दोनो क्रियाओ के मध्य काल का ज्ञान नही हो पाता। इस प्रकार यह एक जटिल प्रक्रिया है जो चक्षुगम्य या चक्षु का विषय नही है क्योकि यह अत्यन्त द्रुत गति से केवल नौ क्षणो के ये व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है।

नैय्यायिको को वैशेषिक दर्शन का उपयुक्त सिद्धान्त उपयुक्त प्रतीत नहीं होता अत वे इससे सहमत नही हैं। वे परमाणु पाक की अपेक्षा सम्पूर्ण पिण्डपाक को मानते हैं। उनके मतानुसार यदि द्रव्य के प्रत्येक अवयव (परमाणु) का पाक माना जाय जिससे पूर्व द्रव्य का नाश और पुन उसी द्रव्य की (नवीन) उत्पत्ति मानी जाय

तो ऐसा मानने में गौरव होगा। क्योकि नवीन द्रव्य की उत्पत्ति में कारणान्तर भी स्वीकार करना पड़ेगा। अत उनके मतानुसार घटादि अवयवी द्रव्य मे सूक्ष्म छिद्र होने से अग्नि के सूक्ष्मावयव उनमें प्रविष्ट होकर सम्पूण द्रव्य (घट) का पाक करते हैं। इस परिपाक के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण द्रव्य के रूप रग रस-गुण आदि मे परिवतन आ जाता है। इस मतानुसार न तो द्रव्य का नाश होता है और न उसकी नवीन उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह पिठरपाक कहलाता है। नैय्यायिक इसी पिठर पाक की पुष्टि करते हैं जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि इन्द्रिय गम्य पदार्थों पर ताप का असर होता है जो यह दर्शाता है कि वे सर्वथा ठोस नहीं अपितु सछिद्र होते हैं।

नैय्यायिक लोग वशेषिक की पीलूपाक प्रक पना पर इम आधार पर आपत्ति उठाते हैं कि यदि पहला घडा नष्ट हो गया और उसके स्थान पर सर्वथा नवीन घडा उत्पन्न हुआ तो दूसरे घड़ को वही पुराना घडा कैसे कहा जा सकता है? और दोनो घडो को एक ही कसे माना जा सकता है? हम यह कसे कह सकते हैं कि हम उसी पुराने घड को देखते है जिसे पहले देखते थे भेद केवल रग का है। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक के मत मे पृथ्वी के परमाणुओ का गुण और गध भी अनित्य है जबकि वस्तुत ऐसा नही है। कच्चे घडे और पक्के घड मे केवल पाक जनित रूपान्तर होता है न कि पर्वघट का विनाश और नवीन घट की उत्पत्ति। यही कारण है कि नय्यायिक सम्मत सिद्धा त मे हमे 'सैवाय घट इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। यही प्र यभिज्ञा इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे प्रमाण है।

अनेकान्तवाद

एका त से भि न या विपरीत अनेकान्त है। एकान्त में एक ही पक्ष का कथन या प्रतिपापादन होता है जबकि अनेकान्त मे अन्य पक्ष का भी प्रतिपादन किया जाता है। एकान्त के अनुसार जो कथन किया जाता है उसमे यह बात ऐसी ही है इसका प्रतिपादन किया जाता है जबकि अनेकान्त के अनुसार ही के स्थान पर भी' शब्द को विशेष मह व दिया जाता है। अर्थात यह बात ऐमी ही है कहने की अपेक्षा "यह बात ऐसी भी है' —इस प्रकार कहा जाता है। अनेकान्त मे एक ओर जहा पक्ष विशेष या दृष्टिकोण का एक पहलु है वही दूसरी ओर दूसरा पक्ष यह पहलू भी कहा जाता है। अत उसमें दृष्टिकोण की व्यापकता विद्यमान रहती है। अनेकान्त मे दूसरा पक्ष भी उतना ही महत्वपूण होता है जितना पहला पक्ष। अत यह समानता के दृष्टिकोण पर आधारित है। यही कारण है कि शास्त्र मे एक स्थान पर जो बात कही गई है अन्य स्थान पर वही बात अन्यथा रूप में या भिन्न प्रकार से कही जा सकती है।

इसका कारण वहां प्रसंग या विषय की भिन्नता है। इसीलिए उसमें व्यापकता का दृष्टिकोण रहता है। दृष्टिकोण की व्यापकता उदारता की सूचक होती है जिससे दूसरे के मत को समझने मे सहायता मिलती है। अनेकान्त के कारण विरोधभाव और विग्रह की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती और वातावरण में सौम्यता बनी रहती है।

अनेकान्त का अर्थ सामान्यत इस प्रकार से किया जा सकता है — न एकान्त इति अनेकान्त अर्थात जिसमें एकान्त (एक पक्ष का प्रतिपादन) न हो या जो एकान्त से विपरीत हो वह अनेकान्त है। इसी प्रकार अन्य व्याख्या के अनुसार अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन सोऽनेकान्त अर्थात जिसम अनेक अन्त यानी धर्म हो वह अनेकान्त है। धर्म शब्द यहा स्वभाववाची है। कही-कही यह गुण के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि वस्तु के लिए सामान्यत कहा जाता है कि वह अनेक या भिन्न गुण धर्म वाली है। जसे आयुर्वेद के अनुसार वायु मे रूक्ष शीत लघु सूक्ष्म चल विशद खर आदि अन्यान्य गुण धर्म पाए जाते हैं। पित्त में उष्णता तीक्ष्णता द्रवता स्नेह अम्लता सर कटु आदि गुण पाए जाते हैं और श्लेष्मा में शैत्य द्रवत्व स्निग्धता गुरुता श्लक्ष्णता आदि गुण पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि वस्तु या द्रव्य अनेक गुण धर्मात्मक है।

अनेकान्त म आग्रह के लिए कोई स्थान नही है। आग्रह ही दृष्टिकोण को सकुचित या एकपक्षीय बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय म आग्रह-पूर्वक जब कहा जाता है तो उससे वस्तु स्वरूप का वास्तविक प्रतिपादन नहीं हो पाता। यही कारण है कि वस्तु को जसा समझा जाता है वह केवल वैसी ही नहीं है, उससे भिन्न कुछ अन्य स्वरूप भी उसका है जिसे जानना या समझना आवश्यक है। जैसे देवदत्त अमुक लडके का पिता है जब यह कहा जाता है तो वस्तुत पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है अत यह ठीक है। किन्तु वह देवदत्त केवल पिता ही नही है अपितु वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है और अपनी बहिन की अपेक्षा से भाई तथा मामा की अपेक्षा से भान्जा भी है। इस प्रकार वह एक ही देवदत्त अनेक धर्मात्मक है। इसका स्वरूप अथवा वह वस्तुस्थिति अनेकान्त के द्वारा भली भाँति समझी जा सकती है।

आयुर्वेद शास्त्र म भी अनेकान्त का आश्रय लिया गया है और उसके आधार पर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है-यह अनेक उद्धरणो से सुस्पष्ट है। आयुर्वेद में जहां अनेकान्त के आधार पर विभिन्न विषयों का प्रतिपादन एव गम्भीर विषयो का विवेचन किया गया है वहां तन्त्रयुक्ति प्रकरण के अन्तगत उसका परिगणन कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र में कुल ३६ तन्त्र युक्तियां प्रतिपादित की गई हैं जिनमें अनेकान्त भी एक तन्त्रयुक्ति है। आयुर्वेद शास्त्रकारो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेकान्त की व्याख्या की है जो अपने-अपने

दृष्टिकोण से उपयुक्त है। सवप्रथम आचाय चक्रपाणि दत्त द्वारा विहित व्याख्या का अनुशीलन करते हैं जो निम्न प्रकार है—

अनकान्तो नाम अ यतरपक्षानवधारण यथा—ये ह्यातुरा भेषजावृत म्रियन्ते न च ते सब एव भषजोपपन्ना समत्तिष्ठरन।

—चरक सहिता सिद्धिस्थान १२/४३ पर चक्र णि टीका

अर्थात दूसरे पक्षो का अनवधारण करना अनेकान्त कहलाता है। जैसे—जो रोगी केवल भेषज के बिना मर जाते हैं वे सभी रोगी भेषज से युक्त होने पर ठीक नहीं होते।

यहा पर केवल एक पक्ष का ही कथन महर्षि द्वारा नहीं गया है अपितु अन्य पक्ष का समथन भी किया है। जो रोगी पूण चिकि सा नही मिल पाने के कारण मर जाते हैं वे सभी रोगी पूण चिकि मा मिलने पर ठीक हो ही जाते हैं यह आवश्यक नही है। अर्थात उनमे से भी कुछ रोगी पूण चिकि सा मिलने पर भी मर जाते हैं—यह आशय है। यहाँ पर महर्षि ने अपनी बात कहने के लिए अनेका त का आश्रय लिया है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सभी व्याधिया उपाय-साध्य नही होती हैं। जो रोग उपाय (चिकित्सा) से साध्य हैं वे बिना उपाय (चिकित्सा) के अच्छे भी नही होते। असाध्य व्याधियो के लिए षोडशकल भेषज (चिकित्सा) का विधान भी नही है क्योंकि विद्वान और ज्ञान सम्प न वद्य भी मरणो मुख रोगियो को अ छा करने में समथ नही होते।

अनेकान्त को महर्षि सुश्रुत ने कुछ दूसरे ढग स प्रस्तुत किया है जो भिन्न आशय का द्योतक है। जसे—

क्वचित्तथा क्वचिदन्यथति य सोऽनकान्त यथा—कचिदाचार्या बुवते द्रव्य प्रधान केचिद् रस केचिद वीय कचिद विपाकमिति।

—सुश्रुत सहिता उत्तरत त्र ६५/२४

अर्थात् कही ऐसा और कही अ यथा (दूसरा) इस प्रकार जो कथन किया जाता है वह अनेकान्त है। जैसे—कुछ आचार्य द्रव्य को प्रधान बतलाते हैं कुछ रस को कोई वीय को प्रधान मानते हैं तो कोई विपाक को।

यहा जो उदाहरण दिया गया है वह सम वय एव व्यापक दष्टिकोण क प्रतिपादक है। आयुवद शास्त्र मे सामा यत द्रव्य रस गुण वीर्य विपाक और प्रभाव में द्रव्य को प्रधान माना गया है किन्तु पथक पथक रस गुण वीर्य विपाक और प्रभाव को प्रधान मानने वाले आचार्यों के मतों को भी समादृत किया गया है जो अनेकान्त पर आधारित है। इसमे यद्यपि कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत वह विरोध या विरोधाभास न होकर दृष्टिकोण की उदारता और व्यापकता है जो समन्वय मूलक है।

महर्षि चरक ने केवल तन्त्रयुक्ति के रूप में ही अनेकान्त को नही अपनाया है, अपितु सिद्धान्त रूप में भी उसका प्रतिपादन किया है। तद् विषयक अनेक उद्धरण चरक सहिता मे उपलब्ध होते हैं। उन्होंने विभिन्न पक्षो के एकान्तिक दुराग्रह की निन्दा करते हुए एक स्थान पर कहा है—

तथर्षीणां विवदतामुवाचेद पुनर्वसु ।
मव वोचत तत्व हि दुष्प्राप पक्षसंश्रयात ।।
वादान सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव ।
पक्षान्त नव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ ।।
मुक्त्वव वादसघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम ।
नाविधूते तम स्कन्धे ज्ञेये ज्ञान प्रवर्तते ।।

—चरक सहिता सूत्रस्थान २५/२६ २८

अर्थात इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए ऋषियो के वचन सुनकर पुनर्वसु ने कहा कि आप लोग ऐसा नही कहे। क्योकि अपने-अपने पक्षो का आश्रय लेकर विवाद करने से तत्व को प्राप्त करना दुष्कर होता है। अर्थात् सिद्धात का निर्णय नहीं हो पाता। वाद (उत्तर) और प्रतिवाद (प्रत्युतर) को निश्चित सिद्धांत की तरह कहते हुए किसी एक पक्ष के अन्त तक नही पहुचा जा सकता है। जैसे तेल पेरने वाला बैल एक निश्चित घेरे मे घमता हुआ जहाँ से आरम्भ करता है पुन वहीं पहुच जाता है। उसी प्रकार एक पक्ष का आग्रहपूर्वक आश्रय करने वाला वाद विवाद करता हुआ अन्य पक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के मण्डन पूर्वक पुन उसी बिंदु पर आ जाता है जहा से उसने आरम्भ किया था। अत वाद विवाद की प्रक्रिया को छोडकर अध्यात्म (यथार्थ तत्व) का चिन्तन करना चाहिए। क्योकि जब तक अज्ञान रूपी तम का नाश नही होता है, तब तक ज्ञेय (जानने योग्य) विषय मे ज्ञान नहीं होता है।

अनेकान्त प्रतिपादन की दृष्टि से पुनर्वसु आत्रेय का उपर्युक्त कथन विशेष महत्वपूर्ण है। एकान्तवादियो के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन हेतु किए गए प्रयास की तुलना उन्होंने तेल पेरने वाले मनुष्य से की है जो निरन्तर एक निश्चित दायरे मे घूमता हुआ एक ही बिन्दु पर पुन आ जाता है और अन्य बातें उसके लिए महत्वहीन एवं नि सार होती हैं। पुनर्वसु आत्रेय ने अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जब किसी वस्तु या विषय विशेष के अन्वेषण एव लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति की जाती है तो आग्रह पूर्वक स्वपक्ष या अपनी बात दूसरो पर नही लादी जानी चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो इससे न तो वस्तु स्वरूप की मर्यादा की प्रतीति होना सम्भव है और न ही उससे लक्ष्य प्राप्ति की जा सकती है। एकान्त सदैव मत-भेदो को बढ़ाता है जबकि अनेकान्त उन्हें दूर कर सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करता

है। एकान्त-एकांगी होता है अत उससे वस्तु का एक पक्ष ही उद्भासित होता है और सत्य की पूर्णता उसे विवत नहीं कर पाती है। सत्य की अपूर्णता वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन मे बाधक होती है और कई बार उससे भ्रामक बातें ही प्रचारित की जाती हैं किन्तु अनेकान्त के द्वारा ऐसा नही होता।

यह निर्विवाद और असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण विषयो के प्रतिपादन मे आयुर्वेद शास्त्र मे स्थान-स्थान पर अनेकान्त का आश्रय लिया गया है। जसे वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ कतिपय दुराग्रही एव एका तवादी लोगों का यह दृढ मत है कि विष का प्रयोग सवथा जीवन का हरण करता है। तीक्ष्ण विष के प्रयोग से तो मनुष्य का प्राणान्त अवश्यम्भावी है। कि तु वस्तुस्थिति इससे भि न है। इसी तथ्य को जब अनेका त के परिप्रक्ष्य मे देखा गया तो महर्षि अग्निवेश को कुछ और ही अनुभव हुआ। उन्होने तीक्ष्ण विष के विषय मे स्वानुभूत तथ्य का विवेचन इस प्रकार से किया है—

> योगादपि विष तीक्ष्णमत्तम भेषज भवत्।
> भषज चापि दुय क्त तीक्ष्ण सम्पद्यते विषम ॥
> तस्मान्न भिषजा युक्त य क्तिबाह्य न भषजम।
> धीमता किंचिदादेय जीवितारोग्यकाक्षिणा ॥
>
> —चरक सहिता सूत्रस्थान १/१२६ २८

अर्थात् विधि पूवक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषधि हो जाता है और अविधि पूर्वक प्रयोग की नई श्रष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है। इसलिए जीवन और आरोग्य की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा युक्ति बाह्य (युक्ति पूवक प्रयोग नही करने वाले) वैद्य से कोई भी औषधि नही लेना चाहिये।

यहाँ पर अपेक्षा पवक विष का विषत्व और भषजत्व प्रतिपादित किया गया है। साथ ही युक्ति पूवक प्रयोग की अपेक्षा से औषधि का भेषजत्व और विषत्व बतलाया गया है। इस प्रकार का प्रतिपादन अनेकान्त का आश्रय लिये बिना सम्भव नही है। क्योंकि युक्ति की अपेक्षा से ही भषज श्रेष्ठ औषध हो सकता है। यदि युक्ति की पेक्षा न रखी जाय तो वही भेषज रोगी का प्राणहरण कर सकती है। जैसा कि आजकल प्राय देखा जाता है कि स्टेंप्टोमाइसिन पेनिसिलिन के इजेक्शन के प्रयोग मे बरती गई जरा सी असावधानी रोगी का प्राणान्त कर देती है। यही इजेक्शन अच्छी तरह विचार कर विधि पूर्वक प्रयोग किए जाने पर जीवनदायी बन जाता है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को संखिया कुचला धत्तूर आदि विषवर्गीय किसी द्रव्य का सेवन बिना संस्कार किए ऐसे ही करा दिया जाय तो निश्चय ही वह काल का ग्रास बन सकता है, किन्तु वही विष जब शुद्ध और संस्कारित करके मात्रा पूर्वक औषध रूप में प्रयुक्त किया

जाता है तो अनेक भीषण व्याधियो का नाश उसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणो ने आमवात (गठियावाय) की व्याधि मे विधि पूर्वक उचित मात्रा में सप विष का प्रयोग उपयोगी एव लाभप्रद सिद्ध किया है। इस प्रकार विषत्व की अपेक्षा से वह विष है किन्तु भेषजत्व की अपेक्षा से वही तीक्ष्ण विष जीवनदायी श्रेष्ठ औषधि है।

इस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसे अनेक प्रकरण एवं उद्धरण विद्यमान हैं जो अनेकान्त का आश्रय लेकर प्रतिपादित किए गए हैं। इससे न केवल उस विषय की दुरूहता की समाप्ति हुई है अपितु अनेक शकाओ का अनायास ही निरसन हो गया है। अतः यह कहन मे कोई सकोच नही है कि ऐसा करने से आयुर्वेद शास्त्र के दृष्टिकोण में पर्याप्त व्यापकता आई है और वह पूर्ण उदारतावादी कहलाने का अधिकारी है। जीवन विज्ञान के सदभ मे मानव प्रकृति एव आरोग्य मूलक सिद्धान्तो का प्रतिपादन आयुर्वेद शास्त्र की अपनी मौलिक विशेषता है। उसमे यदि सकुचित दृष्टिकोण एव दुराग्रहों का आश्रय लिया जाता तो निश्चय ही आयवद-शास्त्र की शाश्वतता और लोकोपकारी भावना का लोप हो जाता किन्तु ऐसा नही है। इस दिशा मे पर्याप्त अध्ययन मनन और अनुचिन्तन के द्वारा अनुसधान अपेक्षित है। अनेकान्त ने आयुर्वेद को कितना सहिष्णु और व्यापक दृष्टिकोण वाला बनाया है। इसका सहज आभास उन स्थानों से मिलता है जहाँ अन्य ऋषियो के भिन्न दृष्टिकोण मूलक वचनो को भी समादृत किया गया है। अत गम्भीर विमश पूर्वक इस दिशा मे पयाप्त अध्ययन मनन और अनुचिन्तन के द्वारा अनुसधान अपेक्षित है।

अष्टादश अध्याय

तन्त्रयुक्ति विज्ञानीय

तन्त्रस्य युक्तिरिति तन्त्रयुक्ति । तन्त्र कहते हैं शास्त्र को और युक्ति का अर्थ है योजना । अत शास्त्र की योजना को तन्त्रयुक्ति कहते हैं । शास्त्र को अथवा शास्त्र मे निहित विषय या गूढार्थ को प्रतिपादित के करने लिए जो योजना ग्रथकर्त्ता के द्वारा की जाती है वह तन्त्रयुक्ति कहलाती है । जैसे किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ के निर्माण मे व्याकरण छन्द आदि की अपेक्षा रहती है और उस शास्त्र को समझने के लिए व्याकरण छन्द आदि का ज्ञान अपेक्षित होता है तद्वत्‌ शास्त्र मे विशिष्ट रूप से कतिपय विषयो की योजना इस प्रकार की जाती है कि उसका ज्ञान शब्द विशेष के विशिष्टार्थ से ही होना सम्भव है । तन्त्रयुक्ति को आचार्य डल्हण ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है— **त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्र शास्त्र चिकित्सा च तस्य युक्तयो योजना स्तन्त्रयुक्तय** । अर्थात इससे शरीर की रक्षा होती है अत यह तन्त्र है यही शास्त्र है चिकित्सा भी यही है । उसकी युक्ति याने योजना को तन्त्रयुक्ति कहते है । आचार्य के इस स्पष्टीकरण से तन्त्र का अभिप्रतार्थ चिकित्सा या चिकित्सा शास्त्र ध्वनित होता है जो आयुर्वेद के प्रसग मे समीचीन है । क्योकि शरीर की रक्षा के लिए चिकित्सा की योजना ही अपेक्षित रहती है ।

हमारे देश मे प्राचीनकाल मे जितने भी ग्रन्थो या शास्त्रो का निर्माण हुआ है उनकी यह परम्परा रही है कि उनमे अनेक बात सूत्र रूप मे प्रतिपादित की गई हैं कुछ का सकेत मात्र कर दिया है कुछ गूढ भाषा मे प्रतिपादित हैं और कुछ घुमा फिराकर कही गयी हैं तो कुछ के लिए अलकारिक भाषा एव शब्द विन्यास का प्रयोग किया गया है । कुछ बात प्रकारान्तर से कही गई हैं तो कई बात ऐसी हैं जिनका शब्दार्थ कुछ और है जबकि भाव कुछ और है । ऐसे सभी स्थलो को समझने और उनका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने क लिए आचार्यों ने जो शास्त्र योजना की है उसका आश्रय लेना अनिवार्य है— यह शास्त्र योजना ही तन्त्रयुक्ति है ।

आयुर्वेद के चरक सहिता सुश्रुत सहिता आदि ग्रन्थ भी उसी परम्परा की देन हैं । अत इन ग्रथो मे उसकी रचना शैली एव परम्परा का निर्वाह किया गया है । यही कारण है कि इन ग्रथो मे विभिन्न स्थानो पर जो अस्पष्ट या गूढ विषय प्रतिपादित हैं

उनके सम्यक ज्ञान के लिए शास्त्र मे तन्त्रयुक्तियों को प्रतिपादित किया गया है। उन तन्त्र-युक्तियो को पढ़कर समझकर ही शास्त्र की योजना करनी चाहिये। जब तक उन तन्त्रयुक्तियो को नही समझा जायगा तब तक शास्त्र का ज्ञान एवं चिकित्सा के रहस्य को प्राप्त करना सम्भव नही है। इस सन्दर्भ मे शास्त्र का निम्न का वचन महत्वपूर्ण है—

अमन्त्रमक्षर नास्ति नास्ति द्रव्यमनौषधम् ।
अयोग्य पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभ ॥

अर्थात ऐसा कोई अक्षर नही है जो अमन्त्र हो (सभी अक्षर मन्त्र हैं) ऐसा कोई द्रव्य नही है जो अनौषध हो (समस्त द्रव्य औषध रूप हैं) अयोग्य पुरुष भी कोई नही है (सभी योग्य हैं) किन्तु विधिवत् योजना करने वाला दुर्लभ है।

तन्त्रयुक्ति की उपयोगिता

शास्त्र मे आए हुए पदो के अर्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन्त्रयुक्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु प्रसगोपात्त अर्थ का ग्रहण करना ही शास्त्र ज्ञान की दृष्टि से अपेक्षित रहता है। उसके लिए तन्त्रयुक्ति मार्ग निर्देश करती है। आयुर्वेद शास्त्र मे विशेषत पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ शास्त्र के अनुसार करना अभीष्ट रहता है। जैसे आयुर्वेद मे त्रिफला (तीन फल) से हरड बहेडा आवला ही अभिप्रेत है। अन्य तीन फल नही। निशा जिसका अर्थ रात्रि है शब्द से हल्दी का ग्रहण किया जाता है। इन सब बातो के ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्ति का ज्ञान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने तन्त्रयुक्ति के ज्ञान की उपयोगिता निम्न प्रकार से बतलाई है—

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मति ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात प्रबुध्यते ॥
अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान भाग्यक्षये यथा ॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि ने एक शास्त्र का भी सम्यकतया ज्ञान प्राप्त कर लिया है तन्त्रयुक्ति का जानने वाला वह युक्तिज्ञ अन्य शास्त्र को भी शीघ्र जान लेता है। शास्त्रो का अध्ययन कर लेने वाला भिषक तन्त्रयुक्ति के बिना शास्त्र के अर्थ को उसी प्रकार नही ग्रहण कर पाता है जिस प्रकार भाग्य का क्षय होने पर मनुष्य धन को प्राप्त नहीं कर पाता है।

अभिप्राय यह है कि शास्त्र के परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियो का ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा युक्ति ज्ञान के अभाव मे दुर्युक्त अच्छी भेषज भी हानि या अनर्थकारी हो सकती है जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजञ्चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम् ॥

अर्थात विधिपूर्वक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम भेषज हो जाती है और अविधिपूर्वक प्रयोग की गई श्रेष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है ।

इससे स्पष्ट है कि युक्तिज्ञ वैद्य ही भेषज का समुचित प्रयोग करने एव चिकित्सा के अभीष्ट फल को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है । अत तन्त्रयुक्तियो का ज्ञान प्राप्त करना वैद्य के लिए आवश्यक है ।

तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन

तन्त्रयुक्तियो के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्यावादी लोगो के द्वारा असगत तर्कों के आधार जिन बातो का प्रतिपादन एव समर्थन किया जाता है उनका निरसन युक्तियुक्त तर्कपूर्ण कथन के आधार पर करना तन्त्रयुक्ति के ज्ञान से ही सम्भव है । महर्षि सुश्रुत ने सुन्दर ढग से इसका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम् ।
स्ववाक्यसिद्धिरपि क्रियते तन्त्रयुक्तित ॥
व्यक्ता नोक्ताश्च ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मला ॥
लेशोक्ता ये च केचित स्युस्तेषाञ्चापि प्रसाधनम् ॥
यथाम्बुजवनस्यार्क प्रदीपो वेश्मनो यथा ।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तय ॥

—सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र ६५/४

अर्थात् तन्त्रयुक्तियो के द्वारा असदवादियो (मिथ्यावादियो) के द्वारा प्रयुक्त किए गए वाक्यो का प्रतिषेध और अपने वाक्य (कथन) सिद्धि की जाती है । वाक्यो या शास्त्र मे जो अर्थ ठीक से व्यक्त हुए नही होते हैं कहे गए नही होते हैं लीन (गूढ़ या छिपे हुए) होते हैं अनिर्मल (अस्पष्ट) होते हैं या सक्षिप्त रूप मे कहे गए होते हैं उन सबका साधन तन्त्रयुक्ति के द्वारा होता है । जिस प्रकार कमलो के बन को सूर्य और घर को प्रदीप प्रकाशित करता है उसी प्रकार तन्त्रयुक्तिया ज्ञान अर्थात शास्त्र के अर्थ को प्रकाशित करती हैं ।

तन्त्र युक्तियो की सख्या

महर्षि चरक ने छत्तीस तन्त्रयुक्तियो का निर्देश किया है जबकि महर्षि सुश्रुत के द्वारा बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ ही मानी गई हैं । भट्टार हरिश्चन्द्र ने चालीस तन्त्रयुक्तियो का परिगणन किया है और कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख

मिलता है। तन्त्रयुक्तियो की सख्या के विषय मे आचार्यों में मतभेद का कारण सम्भवत यह है कि स्वशास्त्र प्रयोजन के लिए जिस आचार्य को जितनी तन्त्रयुक्तियां अभीष्ट प्रतीत हुई उतनी ही तन्त्रयुक्तियों का प्रतिपादन उसने अपने शास्त्र मे किया।

महर्षि सुश्रुत ने जिन बत्तीस तन्त्रयुक्तियो का उल्लेख अपने शास्त्र में किया है वे निम्न हैं —

१ अधिकरण २ योग ३ पदार्थ ४ हेत्वर्थ ५ उद्देश ६ निर्देश ७ उपदेश ८ अपदेश ९ प्रदेश १ अतिदेश ११ अपवर्ग १२ वाक्यशेष, १ अर्थापत्ति १४ विपर्यय १५ प्रसग १६ एकान्त १७ अनेकान्त १ पूर्वपक्ष १९ निर्णय २ अनुमत २१ विधान २२ अनागतावेक्षण २३ अतिक्रान्तावेक्षण २४ सशय २५ व्याख्यान २६ स्वसज्ञा २७ निर्वचन २८ निदर्शन २९ नियोग ३ विकल्प ३१ समुच्चय ३२ ऊह्य।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त ३२ तन्त्रयुक्तियो के अतिरिक्त निम्न चार तन्त्रयुक्तिया और बतलाई हैं जिससे उनके द्वारा कथित युक्तिया छत्तीस हो गई हैं — *प्रयोजन प्रत्युत्सार उद्धार और सम्भव।*

भट्टार हरिश्चन्द्र द्वारा सम्मत तन्त्रयुक्तियाँ चालीस हैं। उन्होने उपर्युक्त तन्त्र युक्तियो के अतिरिक्त इन चार और तन्त्रयुक्तियो का उल्लेख किया है — *परिप्रश्न व्याकरण व्युत्क्रान्ताभिधान और हेतु। चरक के अनुसार इन चारो तन्त्रयुक्तियो का* समावेश उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियो मे ही हो जाता है। जैसे—परिप्रश्न का उद्देश मे व्याकरण का व्याख्यान मे व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश मे तथा हेतु का विवेचन शास्त्र में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाण के वर्णन के समय किया गया है। अत ये चार युक्तियाँ पृथक से मानना आवश्यक नही है।

उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियो का विवरण निम्न प्रकार है —

१ **अधिकरण—यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम। यथा रस दोष वा।** अर्थात जिस विषय को अधिकृत करके उसका वर्णन या विवेचन किया जाता है अथवा जिस विषय को अधिकार रूप मे कहा जाय उसे अधिकरण कहते हैं। जैसे रस या दोष। रस को अधिकृत करके सम्पूर्ण चिकित्सा का निर्देश किया गया है। दोष को प्रधान मानकर समस्त रोगों की उत्पत्ति मानी गई है। रस के बिना चिकित्सा सम्भव नहीं है और दोष के बिना रोगो की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

२ **योग— येन वाक्य युज्यते स योग।** अर्थात् वाक्य या पदों का एकत्र होना जिससे अर्थ ज्ञान होता है योग कहलाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने योग को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है— **'योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्।**

योग का अर्थ है योजना अर्थात किसी वाक्य या श्लोक मे बिखरे हुए पदों को व्यवस्थित एकीकृत करना । उदाहरणार्थ—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि तत्र प्रतिज्ञा मातजश्चाय गर्भ हेतु मातर मन्तरेण गर्भानुपपत्ते दृष्टान्त-कटागार उपनय यथा नानाद्रव्यसमुदायात् कटागार स्तथा गर्भनिर्वर्तनम तस्मा मातजश्चायमित्येषा प्रतिज्ञायोग ॥ अर्थात प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन । प्रतिज्ञा—यह गर्भ मातज है हेतु—माता के बिना गर्भ की अनुपपत्ति होने से दृष्टान्त—जसे कटागार उपनय जैसे विभिन्न द्रव्यो के समूह से कटागार का निर्माण होता है उसी प्रकार गर्भ का निर्माण होता है निगमन-अत गर्भ मातृज होता है— इस प्रकार यह प्रतिज्ञा योग है ।

३ पदार्थ— योऽर्थोऽभिहित सूत्रे पदे वा स पदार्थ· पदस्य पदयो पदानां वाऽर्थ पदार्थ अपरिमिताश्च पदार्था । —चक्रपाणिदत्त

अर्थात किसी सूत्र या पद मे जो अर्थ अभिहित होता है वह पदार्थ कहलाता है । एक पद का दो पदो का अथवा अनेक पदो का जो अर्थ होता है वह पदार्थ कहलाता है । पदार्थ अपरिमित होते हैं । एक पद के अनेक अर्थ भी होते हैं । अत प्रसगानुसार पद के अर्थ का ग्रहण करना चाहिए ।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त लिखते है —

तत्र द्रव्यमिति पदेन खादयश्चेतना षष्ठा उच्यन्ते पदयोरर्थो नाम यथा आयुषो वेद इति पदयोरायुर्बोधक तन्त्रमित्यर्थ । एव पदानामप्यर्थ उदाहार्य ।

अर्थात द्रव्य इस पद से आकाशादि पञ्च महाभूत और छठी चेतना धातु कहलाती है । दो पदो का अर्थ जसे आयुषो वेद (आयु का ज्ञान) इन दो पदो से आयु का ज्ञान कराने वाला तन्त्र (शास्त्र) अथात् आयुर्वेद । इसी प्रकार अनेक पदो के अर्थ के उदाहरण भी समझने चाहिए ।

४ हेत्वर्थ—हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते यथा समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम (च सू १२/५) इति वातमधिकृत्योक्त तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदय समानशब्द धातूनामिति करोति तेन यथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते । —चक्रपाणि दत्त

अर्थात हेत्वर्थ उसे कहते हैं जो किसी प्रकरण मे कही गई बात अन्य प्रकरण मे भी लागू हो । जैसे समान गुण वाले द्रव्य का सेवन धातुओ की वृद्धि का कारण होता है । यह कथन यद्यपि वात को अधिकृत करके कहा गया गया था जिसका अभि प्राय था कि वायु के समान गुण धर्म वाले द्रव्यो का सेवन करने से वायु की वृद्धि होती है इससे जैसे वायु के विषय मे कहा गया है वैसे ही रसादि के भी समान गुणाभ्यास से वह रसादि धातु की भी वृद्धि का कारण होता है ।

५ **उद्देश—उद्देशो नाम संक्षेपाभिधानं यथा-हेतुलिङ्गौषधज्ञानम (च सू १) अनेन सर्वायुर्वेदाभिधेयोद्देश ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात सक्षेप मे कहना उद्देश कहलाता है। जैसे चरक सहिता सूत्रस्थान अध्याय १ मे हेतु लिङ्ग-औषध का ज्ञान प्रतिपादित किया गया है। इससे सम्पूर्ण आयुर्वेद ही अभिध्रय है—यह उद्देश है।

महर्षि सुश्रुत ने इसका निम्न लक्षण बतलाया है— **समासवचनमुद्देश । यथा शल्यमिति ।** (सुश्रुत सहिता उत्तर तन्त्र ६५।१)।

अर्थात संक्षिप्त वचन उद्देश कहलाता है जसे शल्य। शरीर को पीडा पहुचाने वाली वस्तु को सक्षपत शल्य कहा गया है।

६ **निदश—निदशो नाम सख्येयोक्तस्य विवरण यथा—हेतुलिङ्गौषधस्य पुन प्रपञ्चन सवदा सवभावानां इत्यादिना इत्युक्त कारण (च सू अ १) इत्यन्तेन कारणप्रपञ्चनमित्यादि ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात सख्येय रूप मे कहे हुए विषय का विस्तारपूवक कथन करना निदश कहलाता है। जैसे हेतु लिङ्ग औषध का पुन सर्वदा सवभावानां' इ यादि से लेकर इत्युक्त कारण पर्यन्त विस्तार पूर्वक कथन किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने भी निदश के विषय में यही भाव व्यक्त किया है। यथा— **विस्तरवचन निदश यथा शारीरमागन्तुकञ्चेति ।** सु स उ त ६५।१

अर्थात विस्तार पूवक कहना निदश कहलाता है। जैसे शारीर और आगन्तुक। ऊपर सक्षेप मे कहे हुए शल्य के दो भेद करते हुए उसे शारीर और आगन्तुक बतलाया गया है।

७ **उपदेश**—उपदेशो नामाप्तानुशासन यथा—स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत तत स्वेद मनन्तरम। —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् आप्त के अनुशासन (आदेश) को उपदेश कहते हैं। जैसे चरक सहिता सूत्रस्थान अ १३ मे निर्दिष्ट है कि प्रथम स्नेह का प्रयोग कर तत्पश्चात स्वेदन का।

महर्षि सुश्रुत द्वारा कथित लक्षण के अनुसार **एवमित्युपदेश । यथा-तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नञ्च वर्जयेदिति ।** अर्थात् ऐसा करना चाहिये (या ऐसा नहीं करना चाहिए) यह उपदेश है। जैसे रात्रि में जागरण नहो करना चाहिए और दिवा स्वप्न (दिन में शयन करना) वर्जित करना चाहिये।

८ **अपदेश—अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचन यथा— वाताज्जलं जलादेश देशात् कालं स्वभावत । विद्याद्दुष्परिहार्यत्वादित्यादि तत्र प्रतिज्ञातार्थस्य हेतुवचन दुष्परिहार्यत्वादिति ।** —आचार्य चक्रपाणिदत्त

अर्थात् प्रतिज्ञात विषय के साधन (सिद्धि) के लिए जो हेतु रूप वचन कहा जाता है वह अपदेश कहलाता है। जैसे वायु से जल जल से देश और देश से काल स्वभावत दुष्परिहार्य होने से भारी समझना चाहिये। यहा प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए हेतु वचन दुष्परिहाय दिया गया।

महर्षि सुश्रुत ने अपदेश का कथन इस प्रकार से किया है— **अनन कारणेनेत्यपदेश यथोपदिश्यते मधर श्लेष्माणमभिवद्ध यतीति।** — सुश्रुतसहिता उत्तर-तन्त्र ६५।१२

अर्थात इस कारण से ऐसा कहना अपदेश कहलाता है। जसा कि उपदेश किया गया है—मधुर श्लेष्मा की वृद्धि करता है। (मधर होने से श्लेष्मा की वृद्धि होती है)

९ प्रदेश —**प्रदेशो नाम यदबहुत्वादर्थस्य कात्स्न्र्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते यथा—अन्नपानकदेशोऽयमक्त प्रायोपयोगिक।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात विषय की बहुलता (अधिकता) के कारण जिसे समग्र रूप से कहना अशक्य हो उसका एक देश से कथन करना प्रदेश कहलाता है। जैसे प्राय अधिकतर उपयोग मे आने वाले अन्न (आहार) और पान (अनुपान) के एक देश का यहा उपदेश किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रदेश का लक्षण इस प्रकार बतलाया है— **प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधन प्रदेश। यथा—देवदत्तस्यानन शल्यमुद्धृत तस्माद यज्ञदत्तस्याप्युद्धरिष्यति।**

अर्थात प्रकृत अर्थ की अतिक्रान्त (अतीत अर्थ) से सिद्धि करना प्रदेश कहलाता है। जैसे इससे देवदत्त का शल्य निकाला गया था अत यह यज्ञदत्त का भी निकालेगा।

१ अतिदेश—**अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यायमनुक्तार्थसाधनायव एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते। यथा यच्चान्यदपि किञ्चित स्यादनुक्तमपि पूजितम। वृत्त तदपि चात्रेय सदवाभ्यनुमन्यते इति।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात अनुक्त विषय के साधन के लिए जिस किसी भी विषय को प्रकाशित करक अन्यत्र तद्वदेव प्रयत्न करना चाहिए—ऐसा जहा परिभाषित किया जाता है वह अतिदेश कहलाता है। जैसे—इस आयुवद शास्त्र मे जिन सद्‌वृत्तो का वर्णन नही है, किन्तु जो अन्यत्र वर्णित हो उन सद्‌वृत्तो का पालन करना भी आत्रेय द्वारा सम्मत है।

महर्षि सुश्रुत ने कुछ भिन्न रूप मे अतिदेश का लक्षण बतलाया है जो इस प्रकार है— **प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेश। यथा—अनेनास्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति।** —सुश्रुत सहिता उत्तरतन्त्र ६५।१४

अर्थात् प्रकृत विषय से अनागत (भावी) विषय का साधन करना अतिदेश होता है। जैसे इस रोगी की वायु ऊर्ध्व गति कर रही है अत यह उदावर्त रोग से पीडित होगा।

११ **अपवर्ग—अपवर्गो नाम साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणं यथा—न पर्युषि-ताम्नमाददीतान्यत्र मांसहरितशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्य ।** **—चक्रपाणिदत्त**

अर्थात सम्पूर्ण रूप से कहे गए किसी विषय में से उसके एक देश को निकाल देना अपकर्षण कहलाता है। जैसे बासा अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये मांस हरित और शुष्क शाक एवं फल को छोड कर।

महर्षि सुश्रुत ने इसी बात को सक्षेप मे कहते हुए अपवर्ग का निम्न लक्षण बतलाया है— **अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्ग । यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टा अन्यत्र कीट विषादिति ।** अर्थात् सामान्य वचन के द्वारा किसी विषय को अभिव्याप्त करके उसमे से अश विशेष को पथक करना अपवर्ग कहलाता है। जैसे विष से आक्रान्त रोगी अस्वेद्य (स्वेदन के अयोग्य) होते हैं कीट विष से पीडित को छोडकर।

१२ **वाक्यशेष—वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येणवाक्येषु पदमकृत गम्यमानतया पूर्यते यथा— प्रवृत्तिहेतु भावानां। इत्यत्र अस्ति इति पद पूर्यते तथा जाङ्गलज रस इत्यत्र मांस शब्द पयते। वाक्येष चैत एव पदा शेषा क्रियन्ते येऽनि वशिता अपि प्रतीयन्ते।** **—चक्रपाणि दत्त**

अथात आचाय के द्वारा लाघवाथ वाक्यो मे जो पद निवेश नहीं किया जाता है किन्तु गम्यमान पूवक वह पूरित किया जाता है उसे वाक्यशेष कहते हैं। जैसे भावो की प्रवृत्ति मे हेतु' इत्यादि वाक्य मे अस्ति' (है) यह पद पूरित किया जाता है। इसी प्रकार जागल रस इस वाक्य मे मास पद पूरित करना होता है (जांगल पशु पक्षियो का मास रस)। वाक्यो मे ऐसे ही पद शेष रखे जाते हैं जो उनमे निवेशित (प्रविष्ट) हुए बिना भी उनका भाव प्रतीत कराते हैं।

इसी आशय का लक्षण महर्षि सुश्रुत ने भी बतलाया है जो इस प्रकार है— **येन पदेनानुक्तेन वाक्य समाप्यते स वाक्यशेष । यथा शिर पाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसा मित्युक्ते पुरुषग्रहण बिनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति।** **—सु उ ६५/१६**

अर्थात् जिस अनुक्त पद से वाक्य समाप्त होता है वह वाक्यशेष कहलाता है। जैसे शिर हाथ पर पार्श्व पृष्ठ, उदर उर कहने पर पुरुष शब्द का ग्रहण किए बिना भी यह ।न लिया जाता है कि ये (अग) पुरुष के होते हैं।

१३ **अर्थापत्ति—अर्थापत्तिर्नाम यदकीर्तितमर्थादापद्यते सार्थापत्ति । यथा-नक्त दधिभोजननिषेध अर्थाद्दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते।** **—चक्रपाणिदत्त**

अर्थात जिससे अकथित विषय का ग्रहण होता है वह अर्थापत्ति कहलाता है। जैसे—रात्रि मे दही खाने का निषेध है अर्थात दिन मे खाए-यह अर्थ निकलता है।

महर्षि सुश्रुत ने भी अर्थापत्ति का उपयुक्त लक्षण ही कहा है। इसके लिए उन्होंने

यह उदाहरण दिया है— **ओदन भोज्य इत्यक्तेऽर्थादापन्न भवति नाय पिपासुर्यवागूमिति।** अर्थात् भात खाना चाहिए – ऐसा कहने पर अर्थात्पत्ति से यह भाव निकलता है कि यह यवागू पीने का इच्छुक नही है।

१४ **विपयय विपययो नाम अपकृष्टात प्रतीपोदाहरण यथा निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशरते।** —**चक्रपाणि दत्त**

अर्थात अपकृष्ट से प्रतीप का उदाहरण विपयय होता है। जसे निदान मे कहा हुआ आहार इसे अनुकल नही होता है विपरीत आहार अनुकल होता है।

सुश्रुत ने विपयय का यह लक्षण बतलाया है— **यद यत्राभिहित तस्य प्रति लोम्य विपयय । यथा-कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्त विपरीत गृह्यतवढादय सुचिकित्स्या इति।**

अर्थात जो जहां कहा गया है उससे प्रतिलोम (उल्टा होना) विपयय होता है। जैसे कृश अल्प प्राण और भीरू दुश्चिकित्स्य होते हैं ऐसा कहने पर उसस विपरीत का ग्रहण होता है कि दढ आदि सुचिकित्स्य होते हैं।

१५ **प्रसग – प्रसगो नाम पूर्वाभिहितस्याथस्य प्रकरणागतत्वाविना पुनरभिधान यथा-तत्रातिप्रभावतां दश्यानामतिदशनमतियोग एवमाद्यभिधाय पुन अत्यग्रशब्दश्र वणाच्छ्रवणात सवशो न च' इत्यादिना पूर्वोक्त एवार्थोऽभिधीयते।** —**चक्रपाणि दत्त**

अर्थात् पूव मे कहे गए विषय का प्रकरण आदि उपस्थित होने पर पुन कहना प्रसग कहलाता है। जसे अति प्रभा वाले दृश्य द्रव्यो को देखना अतियोग कहलाता है ऐसा पहले कह कर पुन अत्यन्त उग्र शब्दो का श्रवण करने अथवा शब्दो का बिल्कुल भी श्रवण नही करने से' इत्यादि के द्वारा पूर्वोक्त का ही कथन किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रसग का विवचन करते हुए लिखा है—**प्रकरणान्तरेण समापन प्रसग । यद्वा प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकदुक्त समाप्यते स प्रसग'। यथा-पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति वदोत्पत्तावभिधाय भूतविद्यायां पुनरुक्त यतोऽभिहित पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष इति स खल्वेष कर्म पुरुषश्चिकित्सायामधिकृत।** —**सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र ६५/१९**

अर्थात् दूसरे प्रकरण से विषय की समाप्ति करना प्रसग कहलाता है। अथवा प्रकरणान्तरित जो विषय पुन कहा जाकर समाप्त किया जाता है वह प्रसग है। जैसे पञ्च महाभूत और आत्मा इनका समवाय ही पुरुष कहलाता है उसी मे चिकित्सा हो सकती है और वही अधिष्ठान है-ऐसा वेदोत्पत्ति अध्याय मे कहकर पुन भूतविद्या प्रकरण म कहना कि क्योकि पञ्च महाभूत और आत्मा का समवाय पुरुष कहा गया है अत वही कर्म पुरुष चिकित्सा के लिए अधिकृत है।

१६ एकान्त—एकान्तो नाम यदवधारणमोच्यते यथा निज शरीरदोषोत्थ। त्रिवृद्विरेचयतीत्यादि। —चक्रपाणिदत्त

अर्थात जो अवधारण से (निश्चय पूर्वक) कहा जाता है उसे एकान्त कहते हैं। जैसे—शरीर दोष से समुत्पन्न हुआ निज होता है निशोथ विरेचन करता है इत्यादि।

महर्षि सुश्रुत ने भी ऐसा ही लक्षण प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार-सर्वत्र यदवधारणनोच्यते स एकान्त। यथा त्रिवृत विरेचयति मदनफल वामयत्येव।

१७ अनेकान्त – अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारण यथा—ये ह्यातुरा केवला द्भेषजादृते म्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्ना समुत्तिष्ठरन्। —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् अन्यतर (किसी) पक्ष का अनवधारण (निश्चय पूवक कथन नहीं किया जाना)। जसे जो रोगी केवल भेषज के अभाव में मर जाते हैं वे सभी औषध प्राप्त होने पर स्वस्थ नही हो जाते हैं।

महर्षि सुश्रुत के द्वारा प्रतिपादित लक्षण के अनुसार-क्वचित्तथा क्वचिदन्यथति य सोऽनेकान्त। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्य प्रधान केचिद्रस केचिद्वीर्य केचिद्विपाक-मिति।

अर्थात कही वसा और कही ऐसा कहना अनेकान्त है। जैसे कोई आचाय कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है कोई रस को कोई वीय को और कोई विपाक को प्रधान मानते हैं।

१८ पूवपक्ष—पूवपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसदूषक वाक्य यथा—'मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत इति प्रतिज्ञातस्याथस्य सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेदन्यत्र चिल चिमात।

अर्थात प्रतिज्ञात विषय को दूषित करने वाला वाक्य पूवपक्ष कहलाता है। जैसे मछलियो का सवन दध के साथ नही करे इस प्रकार का प्रतिज्ञात विषय सभी मछलियो का सेवन दूध के साथ न करे चिलचिम (एक विशेष प्रकार की मछली) को छोडकर इस वाक्य से दूषित होता है।

महर्षि सुश्रत ने इससे भिन्न लक्षण बतलाया है जो इस प्रकार है – आक्षेप पूवक प्रश्न पूवपक्ष। यथा कथ वातनिमित्ताश्चत्वार प्रमेहा असाध्या भवन्तीति।

अर्थात् आक्षपपूर्वक प्रश्न करना पूर्वपक्ष होता है। जैसे वात से समुत्पन्न चार प्रमेह असाध्य कैसे होते हैं?

१९ निर्णय—निणयो नाम विचारितस्यार्थस्यव्यवस्थापन यथा-चतुष्पाद भेषज-स्यापि विचार कृत्वाऽभिधीयते— यदुक्त षोडशकल पूर्वाध्याये भेषज तद्युक्ति युक्तमल मारोग्याय।

अर्थात् विचारित विषय की व्यवस्था करना निणय होता है। जैसे चतुष्पाद

भेषजत्व आदि का विचार करके कहा गया है-पूर्व अध्याय में जो षोऽशकल भेषज बत लाई गई है उसका यदि युक्तियुक्त प्रयोग किया जाय तो वह आरोग्यदायक होती है।

महर्षि सुश्रु त पूर्वपक्ष के उत्तर को ही निर्णय मानते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—तस्योत्तर निर्णय । यथा—शरीर प्रपीडय पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानविद्ध मूत्र विसृजति वात एवमसाध्या वातजा इति। यथा चोक्तम—

कृत्स्न शरीर निष्पीडय मेदोमज्जावसायुत ।
अध प्रकुप्यते वायस्तेनासाध्यास्तु वातजा ॥

—सुश्रु त सहिता उत्तर तन्त्र ६५/२३

उस पूर्वपक्ष का उत्तर ही निणय होता है। जैसे—वायु शरीर को पीडित कर के पश्चात नीचे की ओर जाकर वसा मेद-म जा से अनुविद्ध मूत्र का त्याग करता है इसलिए वातज प्रमेह असाध्य होते है। जसा कि कहा गया है—

सम्पर्ण शरीर को पीडित करके मेद मज्जा और वसा से युक्त वायु अध भाग मे प्रकुपित होता है इसलिए वातज प्रमेह असाध्य होते है।

२ अनमत—अनमत नाम एकीयमतस्यानिवारणनानमनन यथा— गभ शल्यस्य जरायु प्रपातन कम सशमननित्येक इत्याद्य कीयमत प्रतिपाद्याप्रतिव धादनु म यते।

अर्थात् एकीयमत (किसी आचाय के मत) का निवारण नही करना याने उसे मान लेना अनुमत कहलाता है। जैसे—गभ शल्य की जरायु का गिरा देना—यह कम सशमन है—इस प्रकार यह किसी का (एकीय) मत है। एतद्विध एकीय मत का प्रतिपादन करके उसका प्रतिषध नहीं करते हुए उसे मान लिया जाता है।

यही भाव व्यक्त करते हुए महर्षि सुश्रुत ने अनुमत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है— परमतमप्रतिसिद्धमनुमतम्। यथा— अ यो ब्रयात् सप्त रसा इति तच्चा प्रतिषधादनमन्यते कथचिदिति। —स श्रु त सहिता उत्तर तत्र ६५/२४

अथात् दूसरे के मत का प्रतिषध नही करते हुए कथचिद् रूप से उसे मान लिया जाता है।

२१ विधान— वधान नाम यत्सूत्रकारश्च विधाय वणयति यथा—मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलै इत्यत्र दुष्टि शब्देन मलानां हीनत्वमधिकत्वमाचार्यगृहीत-माचार्यो वणयति-मलवृद्धि गुरुतया लाघवान्मलसक्षयम्। मलायनानां बुध्येत संगोत्सर्गा वतीव च इति केचित्त प्रकरणानुपूर्व्याऽर्थाभिधानं विधानमाहु। यथा—रसरुधिरमांस मेदोऽस्थिमज्जशुक्राणामुत्पादकमानुपूर्व्येणाभिधानम्। —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् सूत्रकार विधान करके जिसका वणन करता है। जैसे— अधिक मात्रा में दूषित हुए मलो के द्वारा मल के मार्ग-स्रोतस् बाधित होते हैं? यहां पर दुष्टि शब्द से

मलो का हीनत्व एव अधिकत्व आचार्य द्वारा ग्रहण किया गया है। आचार्य उसीका वर्णन करते हैं—गुरुता क कारण मल की वृद्धि और लाघव से मल का संक्षय (हानि) होता है। इसे मलवह स्रोतस् के सग (अवरोध) अथवा अति सर्ग (अधिक प्रवृत्ति) से जानना चाहिए। कुछ आचाय प्रकरण के आनुपूर्वी से (क्रमानुसार) विषय के प्रतिपादन को विधान कहते हैं। जसे रस रक्त मांस मेद अस्थि मज्जा और शुक्र की उत्पत्ति क्रम पूवक होती है।

यहा आचाय चक्रपाणि दत्त ने जो एकीय मत प्रतिपादित किया है वह महर्षि सुश्रुत के मत क समान ही है। सुश्रुत ने विधान को इस प्रकार निरूपित किया है—

प्रकरणानपूर्व्याभिहित विधानम। यथा-सक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याभिहितानि।

अर्थात् प्रकरण के आनुपूर्वी (क्रमानुसार) कहना विधान कहलाता है। जैसे ग्यारह सक्थि मम प्रकरण के अनुसार कहे गए हैं।

२२ अनागतावेक्षण—अनागतावेक्षण नाम यदनागत विधि प्रमाणीकृत्याथ साधन यथा—अथवा तिक्तसर्पिष इत्याद्यनागतावेक्षणेनोच्यते। —चक्रपाणि दत्त

अर्थात अनागत विधि प्रमाणीकृत करके विषय की सिद्धि करना अनागतावेक्षण है। जसे—अथवा तिक्त घृत का इत्यादि अनागतावेक्षण के द्वारा कहा जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने इसे और अधिक स्पष्टता से प्रतिपादित किया है। यथा—

एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम। यथा—श्लोकस्थाने ब्रूयाच्चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति।

अर्थात आगे कहा जायगा—ऐसा कहना अनागतावेक्षण है। जैसे सूत्रस्थान मे (ग्रंथकर्त्ता) कहे कि इसे चिकित्सा स्थान मे कहा जायगा।

२३ अतीतावेक्षण—अतीतावेक्षण नाम यत्तत्पूर्वमुक्तमवेक्ष्योच्यते यथा-सा कुटी तच्च शयन ज्वर संशमयत्यपि इत्यत्र स्वेदाध्याय विहितकुट्यादिकमतीतमवेक्षते। अर्थात विगत विषय का कथन करना अतीतावेक्षण कहलाता है। जैसे—वह कुटी और वह शयन ज्वर का संशमन करता है—यहां पर स्वेदाध्याय में विहित कुटी आदि को अतीत कहा जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने इसे अतिक्रान्तावेक्षण कहा है। इसका लक्षण उन्होने इस प्रकार बतलाया है— यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम। यथा— चिकित्सितेषु ब्रूयात् श्लोकस्थाने यदीरितम। —सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र ६५/२१

अर्थात् पहले जो विषय कह दिया गया है वह अतिक्रान्तावेक्षण कहलाता है। जैसे—चिकित्सा स्थान मे कहा जाय कि सूत्रस्थान में जो कहा गया है।

२४ संशयो नाम—विशेषाकांक्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानं यथा—'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्म कारणम। स्वभाव परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः॥

अर्थात् विशेष आकांक्षा पूवक निर्धारित दोनो विषयों का ज्ञान करना संशय कहलाता है। जैसे कोई लोग माता पिता को जन्म का कारण मानते हैं और अन्य लोग स्वभाव पर निर्माण यदृच्छा को मानते हैं इत्यादि कथन के द्वारा संशय कहा गया।

महर्षि सुश्रु त के अनुसार—उभयहेतुदर्शन संशय । यथा—तलहृदयाभिघात प्राणहर पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति । —सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र ६५/३२

अर्थात् दोनो प्रकार के हेतुओ का दिखाई देना संशय कहलाता है । जैसे तल हृदय का अभिघात प्राणहर होता है किन्तु हाथ पर का कट जाना प्राणहर नही है ।

२५ व्याख्यान—व्याख्यान नाम यत्सवबुद्ध यविषय व्याक्रियते यथा— प्रथमे मासि सम्मूर्च्छित सवधातुकलुषीकृत खेटभतो भवत्यव्यक्तविग्रह इत्यादिनाऽस्मदाद्य विविदितार्थव्याकरणम । —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् समस्त जनो की बुद्धि के अगम्य विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करना व्याख्यान कहलाता है । जैसे प्रथम माह मे सवधातुओ का सम्मिश्रण स्वरूप सकलित रूप बनकर कफ धातु का स्वरूप धारण कर अव्यक्त शरीर वाला होता है—इत्यादि के द्वारा अविदित विषय वाले हम लोगो के लिए स्पष्ट किया गया ।

महर्षि सुश्रु त ने भी इसी से समानता रखने वाला लक्षण प्रतिपादित किया है । यथा—तन्त्र ऽतिशयोपवणन व्याख्यानम । यथा—इह पञ्चविंशतिक पुरुषो व्याख्यायते । अ येष्वायुर्वेद तन्त्रषु भूतादिप्रभृत्यारभ्य चिन्ता । सु स उ ६५/३३

अर्थात् शास्त्र मे किसी विषय का अतिशय (विस्तार पवक) वर्णन करना व्याख्यान कहलाता है । जसे—यहाँ पच्चीस तत्वा मक पुरुष की व्याख्या की जाती है अन्य आयुवद ग्रथो मे पञ्चमहाभूत आदि से आरम्भ करके पुरुष की उत्पत्ति के विषय मे कहा गया है ।

२६ स्वसज्ञा—स्वसज्ञा नाम या त त्रकारव्यवहाराथ सज्ञा क्रियते । यथा—ज ताक होलाकादिका सज्ञा । —चक्रपाणिदत्त

अर्थात त त्रकारो के द्वारा व्यवहाराथ जो सज्ञा विहित की जाती है उसे सज्ञा कहते हैं । जैसे—जेन्ताक होलाक आदि ।

महर्षि सुश्रुत ने स्वसज्ञा का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से बतलाया है जो इस प्रकार है—अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा । यथा मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् लोके प्रसिद्धमुदाहरण वा । —सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र ६५/३४

अर्थात किसी विषय का इस प्रकार का नामकरण जो अन्य शास्त्र से असामान्य (विशिष्ट) हो स्वसंज्ञा कहलाता है । जसे—मिथुन' शब्द से मधु घृत का ग्रहण किया जाता है अथवा लोक मे प्रसिद्ध इसी भांति अन्य उदाहरण ।

२७ निवचन—निवचन नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्त' यथा—आयुर्नित्य-गस्येव कालस्यात्ययकारणम् । —चक्रपाणि दत्त

अर्थात विद्वान के बुद्धिगम्य जो दृष्टान्त होता है उसे निवचन कहते हैं । जैसे नित्य चलने वाले काल के नाश का कारण ज्ञात नहीं होता है । (पुनर्वसु आत्रेय ने

स्वभावोपरमवाद के सन्दर्भ में यह उदाहरण देकर अपने शिष्यों को समझाया है। अतः यह विद्वद्बुद्धिगम्य दृष्टान्त है।)

महर्षि सुश्रुत ने कुछ भिन्न प्रकार से निर्वचन का प्रतिपादन किया है। जैसे—'निश्चित वचन निर्वचनम्। यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद'।

अर्थात निश्चित वचन को निर्वचन कहते हैं। जैसे—इसमे आयु विद्यमान है या इससे आयु प्राप्त होती है, अतः यह आयुर्वेद है।

२८ निदर्शन—निदर्शन नाम मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्त यथा—विज्ञातममृत यथा। अर्थात् ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत करना जो मूर्ख (अल्प बुद्धि) और विद्वान सभी के लिए समान रूप से बुद्धिगम्य हो वह निदर्शन कहलाता है। जैसे विज्ञात (जानी पहचानी) औषधि उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अमृत होता है।

महर्षि सुश्रुत निदर्शन की व्याख्या करते हुए कहते हैं— दृष्टान्तव्यक्ति निदर्शनम। यथा—अग्निर्वायुना सहित कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति।

अर्थात् दृष्टान्त के द्वारा विषय को व्यक्त (स्पष्ट) करना निदर्शन कहलाता है। जसे—जिस प्रकार अग्नि वायु के साथ कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात पित्त-कफ से दूषित हुआ व्रण वृद्धि को प्राप्त होता है।

आचाय चक्रपाणिदत्त ने निवचन और निदशन मे निर्वचन को विशेष (महत्त्वपूर्ण) माना है। वे कहते हैं—निदशननिवचनयोरय विशेष—यन्निदर्शन मूर्खविदुषां बुद्धि सामान्यविषय निर्वचन तु पण्डितबुद्धिवेद्यमेव किंवा निर्वचन निरुक्ति॰ यथा विविध सर्पति यतो विसर्पस्तेन सज्ञित। अर्थात् निदर्शन और निर्वचन मे यह (निर्वचन) विशेष है। क्योकि निदशन तो मूख और विद्वान् दोनो की बुद्धि के लिए सामान्य विषय का प्रतिपादन करता है जबकि निवचन पण्डित बुद्धि द्वारा ज्ञ य विषय को ही ज्ञापित करता है। अथवा निर्वचन को निरुक्ति भी कहते हैं जैसे—विविध प्रकार से यह विसर्पणशील होता (फैलता) है अत इसे विसर्प कहते हैं।

२९ नियोग—नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधान यथा—न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिका विमोक्तव्या। —आचार्य चक्रपाणिदत्त

अर्थात् आवश्यक रूप से करने योग्य काय को करना नियोग कहलाता है। जैसे स्वेद और मूर्च्छा से युक्त होने पर भी तुम्हारे द्वारा यह चबूतरा नहीं छोड़ा जाना चाहिए।

महर्षि सुश्रुत भी नियोग के विषय मे ऐसा ही मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—'इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोग। यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति। —सु सं० उ० सं०

अर्थात् ऐसा ही करना चाहिये—यह नियोग है। जैसे पथ्य ही खाना चाहिए।

३ समुच्चय—समच्चयो नाम यदिद चेद चेति कृत्वा विधीयते यथा—वणश्च स्वरश्च अर्थात् यह और यह इस प्रकार करके कहना समुच्चय है। जैसे—वर्ण स्वर आदि। महर्षि सुश्रुत को भी समुच्चय से ऐसा ही भाव अभीष्ट है। वे कहते है— इदञ्चदञ्चेति समच्चय । यथा—मांसवग एणहरिणादयो लावतित्तिरिसारङ्गाश्च प्रधानानीति।

अर्थात यह और यह इस प्रकार से कहना समुच्चय है। जसे मांस वग मे एण हरिण आदि लाव तित्तिर और सारङ्ग प्रधान है।

३१ विकल्प—विकल्प पाक्षिकाभिधान यथा—सारोदक वाऽय कुशोदक वा।

अर्थात किसी विषय का पाक्षिक (आधा या आंशिक कथन करना)। जसे—सारोदक अथवा कुशोदक।

विकल्प के विषय मे महर्षि सुश्रुत का भी ऐसा ही अभिमत है। वे कहते हैं—इद वद वेति विकल्प । यथा—रसौदन सघृता यवागर्वा।

अर्थात यह अथवा यह इस प्रकार कहना विकल्प है। जसे—रसौदन (मांस रस एव भात) अथवा घी के साथ यवाग।

३२ ऊह्य—ऊह्यं नाम यदनिबद्ध ग्रंथ प्रज्ञया तर्कत्वनोपदिश्यते। यथा—परिसख्यातमपि यद्यद्द्रव्यमयौगिक मन्येत तत्तदपकषयेत। —चक्रपाणि दत्त

अर्थात ग्रन्थ मे जो प्रतिपादित नही है उसे प्रज्ञा और तक के आधार उपदिष्ट करना ऊह्य कहलाता है। जसे—परिगणित किया हुआ भी जो जो द्रव्य अयौगिक माना जाए उसे कम कर दे (निकाल द)।

महर्षि सुश्रत ने ऊह्य का जो लक्षण बतलाया है वह इस प्रकार है—यद निर्दिष्ट बुद्ध्यावगम्यते तदूह्यम। यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधञ्चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं भोज्य लेह्य पेयमिति एव चतुर्विध वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्।

अर्थात जो अनिर्दिष्ट विषय बुद्धि से जाना जाता है वह ऊह्य कहलाता है। जैसे—अन्नपानविधि मे कहा गया है—चार प्रकार का अन्न बतलाया जाता है—भक्ष्य भोज्य लेह्य पेय। इस प्रकार चतुर्विध कहने पर द्विविध का भी कथन हो जाता है।

३३ प्रयोजन—प्रयोजन नाम यदथ कामायमान प्रवतते। यथा—धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम। —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् जिस विषय की अभिलाषा रखते हुए कर्त्ता प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। जैसे इस तन्त्र (ग्रन्थ-चरक सहिता) का प्रयोजन धातु साम्य हेतु क्रिया चिकित्सा करना है।

महर्षि सुश्रुत ने इस प्रयोजन नामक तन्त्रयुक्ति को नही माना है।

३४ प्रत्युत्सार—प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं यथा—वार्योविद प्राह रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधा इत्यादि। हिरण्याक्षो निषेधयति न ह्यात्मा रसज स्मृत इत्यादि। —चक्रपाणि दत्त

अर्थात युक्ति एव तर्क से अन्य आचार्य के मत का निवारण करना प्रत्युत्सार कहलाता है। जैसे वार्योविद का मत है कि समस्त प्राणी रसज (रस से समुत्पन्न) हैं और विभिन्न प्रकार की व्याधिया भी रसज हैं। हिरण्याक्ष उसका निषेध करते हुए कहते हैं—आत्मा रसज नही है।

३५ उद्धार—उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं यथा— 'तेषामेव हि भावानां सपत् सञ्जनयेन्नरम। तेषामेव हि भावानां विपत व्याधीनुदीरयेत इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम। —चक्रपाणिदत्त

अर्थात दूसरो के पक्ष (कथन) को दूषित करके अपने पक्ष का समर्थन करना उद्धार कहलाता है। जसे—जिन भावो की प्रशस्तता (गुणवत्ता) मनुष्य को उत्पन्न करती है उन्ही भावो की विपत (अप्रशस्तता वैषम्य) व्याधियो को उत्पन्न करती है। इ यादि के द्वारा अपने पक्ष का समथन करना।

महर्षि सुश्रु त ने उद्धार का परिगणन नही किया है।

३६ सम्भव—सम्भवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भव यथा—मुख पिप्लव्यगनीलिकादय सम्भवन्तीति। —आचाय चक्रपाणि दत्त

अर्थात जो जिसमे उत्पन्न होता है (अन्यत्र नही) वह उसका सम्भव है। जैसे मुख पर पिप्लु व्यग नीलिका आदि की उत्पत्ति। अभिप्राय यह है कि पिप्लु आदि रोग मुख पर ही उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार छत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ होती हैं। भट्टार हरिश्चन्द्र ने चार अन्य तन्त्र युक्तियाँ और मानी हैं। यथा—परिप्रश्न व्याकरण व्युत्क्रान्ताभिधान और हेतु। चरक संहिता मे इनका कथन नहीं किया गया है अत उपयु क्त में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे परिप्रश्न का उद्दे श में और व्याकरण का व्याख्यान में अन्तर्भाव हो जाता है। व्युत्क्रान्ताभिधान निदेश का ही भेद है अत वह उसी में अन्तर्भू त है। हेतु शब्द से जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे गए हैं उनका हेतु में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

एकोनविंश अध्याय

व्याख्या कल्पना ताच्छील्य, अर्थाश्रय एव तन्त्रदोष

पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त कछ अन्य बातें और हैं जिनका ज्ञान शास्त्र को समझने के लिए आवश्यक है। इनका वणन या उल्लेख भी प्राय तन्त्र के अन्त मे किया जाता है। किन्तु वर्तमान मे उपलब्ध किसी भी ग्रथ या शास्त्र मे इनका प्रतिपादन नहीं मिलता है। आचाय चक्रपाणि दत्त ने तन्त्रयुक्ति के प्रकरण मे कहा है कि पन्द्रह प्रकार की व्याख्या सात प्रकार की कल्पना इक्कीस अर्थाश्रय सत्रह ताच्छील्य और चौदह तन्त्रदोष बतलाए गए हैं जिनका वणन आगे उत्तरतन्त्र मे किया हुआ होने से यहाँ (सिद्धिस्थान मे) नही किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि चरक सहिता मे उत्तरतन्त्र भी पूव मे विद्यमान रहा होगा। सुश्रत सहिता एव अष्टाग हृदय मे भी इन व्याख्या आदि का कोई विवरण या उल्लेख नहीं मिलता है। अष्टाग हृदय के यशस्वी टीकाकार आचार्य अरुणदत्त ने अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरा व्याख्या मे विस्तार से इन पर प्रकाश डाला है। भट्टार हरिश्चन्द्र ने भी अपनो चरकन्यास टीका मे उन सभी का प्रतिपादन सुन्दर ढग से विस्तारपर्वक किया।

पचदशविध व्याख्या

व्याख्या का सामान्य अथ होता है किसी पद या वाक्य या अश या प्रकरण या अध्याय या शास्त्र की विशिष्ट विवेचना पवक आख्या करना अथवा उसका अथ स्पष्ट करना। जसा कि व्याख्या शब्द के विश्लेषण से स्पष्ट है, जो निम्न प्रकार है—वि + आ + ख्या इति व्याख्या—विशेषण आ समन्तात ख्यापयतीति व्याख्या। जो कथित अश के अर्थ को स्पष्ट करे उसे व्याख्या कहते हैं। व्याख्या के द्वारा शास्त्र के गूढ़ अस्पष्ट एवं लीन भाव (अथ) को स्पष्ट किया जाता है। व्याख्या के द्वारा अल्पमति भी शास्त्र के रहस्य को समझने मे समथ हो जाता है। अत व्याख्या वही श्रष्ठ एव साथक मानी जानी है जो अध्येता के लिए सरल सुबोध एव शास्त्र के गूढार्थ को स्पष्ट करने मे समर्थ हो। व्याख्या सक्षिप्त भी हो सकती है और विस्तृत भी। यह तो व्याख्येय अश पर निभर करता है। व्याख्या के माध्यम से व्याख्याकार अपने दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन करता है। ग्रंथ मे जो बातें अति संक्षेप या सूत्र रूप में कही गई हैं व्याख्याकार उन्हे विवेचित कर विस्तार पूर्वक कहता है। व्याख्या में इस बात का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है कि व्याख्या के दौरान ग्रंथकर्ता के द्वारा कथित मूल भाव खण्डित या विलुप्त न हो।

आचार्यों के अनुसार व्याख्या पन्द्रह होती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

व्याख्या तु पंचदशविधा तां व्याकरिष्याम । तद्यथा-पिण्डपदपदार्थाधिकरण प्रकरणार्थकृच्छ्रफलकठन्यासप्रयोजनानुलोमप्रतिलोमसूत्रसमव्याजव्याख्या ।

व्याख्या पन्द्रह प्रकार की बतलाई गई है—१ पिण्ड व्याख्या २ पदव्याख्या ३ पदार्थ व्याख्या, ४ अधिकरण व्याख्या ५. प्रकरण व्याख्या ६ अर्थ व्याख्या ७ कृच्छ्र व्याख्या ८ फलव्याख्या ९ कठव्याख्या १ न्यासव्याख्या ११ प्रयोजन व्याख्या १२ अनुलोम व्याख्या १३ प्रतिलोम व्याख्या १४ सूत्रसम व्याख्या १५ व्याज व्याख्या ।

१ पिण्डव्याख्या—पिण्डव्याख्या नाम या सक्षेपत तन्त्राध्यायचतुष्कप्रकरण सूत्राणां अन्वाख्या । यथा—निमित्तैरित्यनेन सूत्रेण कृत्स्नमरिष्टस्थान समासत उपसंगृहीतम तथा यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषा विपर्यये विपरीता इति सर्व विकारविघातभावाभाव प्रति विशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्त ।

पिण्डव्याख्या उसे कहते हैं जो सक्षप से तन्त्र अध्याय चतुष्क प्रकरण तथा सूत्र के विषयों का निर्देश करे । जसे—निमित्तों से इत्यादि सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण अरिष्टस्थान सक्षेपत निर्दिष्ट किया गया है तथा जब ये तीन निदानादि विशेष होते हैं इससे विपरीत होने पर विपरीत होते हैं । इस प्रकार ये समस्त विकारों की अनुत्पत्ति और सब रोगो की उत्पत्ति को भिन्न भिन्न विशषताओ मे उत्पत्ति स्वरूप कारण कहे गए हैं ।

इसके अतिरिक्त तन्त्र आदि पदो की निरुक्ति भी पिण्डव्याख्या के ही अन्तर्गत आती है । यथा—

निरुक्त तन्त्रणात्तन्त्र स्थानमर्थप्रतिष्ठया ।
अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

२ पदव्याख्या—पदव्याख्या नाम यत पदानां परस्परतो विच्छेद कृत्वोच्चारणम । यथा—अधि + आय = अध्याय वि + आ + ख्या = व्याख्या ।

पद के अवयवों का परस्पर विच्छेद कर जो स्पष्टीकरण किया जाता है वह पदव्याख्या कहलाती है । यथा—अधि + आय = अध्याय वि + आ + ख्या = व्याख्या ।

३ पदार्थव्याख्या— 'पदार्थव्याख्या नामामीषामेव पदानामर्थवद्भावविवरणम् । यथाऽस्मिन्नेव सूत्रे अथ शब्दो मंगलाधिकार ।

अर्थात् इन्हीं पदो का जब अर्थ सहित भाव बतलाया जाता है तब वह पदार्थ व्याख्या कहलाती है । जैसे—अथ शब्द का मगल अर्थ में प्रयोग ।

४ अधिकरण व्याख्या—अधिकरणव्याख्या नाम यद् वस्तु प्रकृतमपेक्ष्य तदनुवर्णेन व्याख्यानमारभ्यते । यथा निर्दिष्टवस्त्वधिकारानुवर्णनादिरष्टलक्षणयोर्हेतुलक्षणचिकित्सा व्याख्याता —अनेनैव प्रकृत इत्येवम् इति ।

अर्थात् जब प्रकृत वस्तु का आधार लेकर अनुक्रमत उसका व्याख्यान किया

जाता है तब वह अधिकरण व्याख्या कहलाती है। जसे—अष्टौ निन्दितीय प्रकरण मे अनुषंगत स्थूल और कृश के हेतु लक्षण और चिकित्सा का विवरण किया गया। उसी प्रकार वातकलाकलीय मे वात के अतिरिक्त अन्य विषयो का प्रतिपादन किया गया और नक्षत्रग्रहादि विकृति के प्रकरण मे भेषजोद्धरण का उपदेश किया गया।

५ प्रकरणव्याख्या—प्रकरणव्याख्या नाम एकस्मिन्नर्थ सूत्रे वा प्रकृतेनाप्रकृतम साध्यते। यथा चत्वार कणरोगा इत्यारभ्य यावच्चत्वारो मर्च्छाया व्याख्याता अत्र समानदोषतया समानसंख्यानाच्च व्याख्या एव प्रकृतरप्रकृति साध्यते।

अर्थात किसी अथ या सूत्र मे प्रकृत वस्तु से अप्रकृत वस्तु का व्याख्यान करना प्रकरणव्याख्या कहलाती है। जसे चार कण रोग इत्यादि से आरम्भ कर चार मूर्च्छा पयन्त व्याख्या की गई। यहा समान दोष तथा समान सख्या होने से व्याख्या है। इसी प्रकार प्रकृति से अप्रकृति का साधन किया जाता है।

६ अथव्याख्या— अथव्याख्या नाम यत्र प्रकरणे सूत्र वा तत्वन वर्णन भावस्य क्रियते। यथा—गुर्वाविगणयोग।

अर्थात जब प्रकरण या सूत्र म विषयवस्तु का तत्वत वणन किया जाता है तब वह अथव्याख्या कहलाती है। जसे—प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा गया—

प्रकृतिरुच्यते स्वभावो य पुनराहारद्रव्याणां स्वाभाविको गर्वाविगुणयोग।

७ कृच्छव्याख्या— कच्छव्याख्या नाम यत्र लेशोक्तानाम अविस्पष्टानां अप्रकरणसूत्रे यत्नादुद्भावनम। यथा—वनस्पतिसत्वानकारेणत्यनेन लेशतो वनस्पती नामपि ज्ञानमवभाव दशयति।

अर्थात लेशोक्त एव अविस्पष्ट अर्थों का जिससे यत्नपूवक स्पष्टीकरण हो वह कृच्छव्याख्या कहलाती है। जसे 'वनस्पतिसत्वानुकारेण' इस कथन से वनस्पतियो मे भी लेशत ज्ञान का अस्तित्व सूचित होता है।

फलव्याख्या— फलव्याख्या नाम यस्मिन वस्तुनि साध्ये बहुत्वनिश्चयेऽथ—रस इत्यवाच भद्रकाप्य इत्यारभ्य—असख्येया रसा इत्यनेन।

साध्य विषय के प्रतिपादन क्रम मे अनेक परकीय मतो का उल्लेख करते हुए उनका अगभाव से समावेश कर किसी निष्कष पर पहुचना फलव्याख्या कहलाती है। जसे—रसो की सख्या के प्रसग मे अनेक मतो का उल्लेख कर अन्त मे एक निष्कश दिया गया और अन्य मतो का अगभाव से समावेश कर लिया गया।

९ कठव्याख्या— कठव्याख्या नाम यस्मिन् सूत्रे निदशनी भूतान्यन्यान्युदाहरणानि तन्त्रान्तरत समाकृष्य स्थाप्यन्ते यथा पथिव्यादिषु महाभूतसज्ञा स्थापिताऽऽचार्येण रसादिषु धातुसज्ञा निवशिता-तत्रैव विचायते किं खलु महाभूतान्यपि खादीनि धातुसज्ञानि भव त्येवति वक्तव्यम। तत्र प्रामाण्यात खादयश्चेतना षष्ठा धातव पुरुष स्मृत। षडधातुजस्तु पुरुषो रोगा षडधातुजास्तथा षडधातव समुदिता लोक इति सज्ञां लभन्ते (इत्यादिना) विषयस्य तन्त्रान्तरोक्तोक्तिभि साधनायोपनीयते।

सूत्र में निर्दिशत पदार्थों की व्याख्या जब तन्त्रगत प्रामाण्य के आधार पर की जाती है तब वह कठव्याख्या कहलाती है। यथा—पृथिवी आदि की महाभूत संज्ञा है और धातु संज्ञा रस रक्त आदि की है। किन्तु पुरुष के सम्बन्ध में पृथिवी आदि की संज्ञा भी धातु हो जाती है जिससे पुरुष षड्धात्वात्मक कहा जाता है।

इसे भट्टार हरिश्चन्द्र ने उच्छित व्याख्या कहा है।

१ न्यासव्याख्या— न्यासव्याख्या नाम यस्मिन्नधिकरणे वर्तमानेन प्रकृते नाधिकरणार्थेन सम्बन्धमभिसमीक्ष्याप्रकृतस्यार्थ उच्यते। यथा—तथा ज्वरादीनप्यातकान् मिथ्योपचारितानकालमृत्यून पश्याम इति ज्वर चोक्तमपेक्ष्याहाग्निवेश्य 'किं न खलु भगवन ज्वरितेभ्य पानीयमुष्ण प्रयच्छन्ति भिषज।

अर्थात न्यासव्याख्या उसे कहते हैं जिसके द्वारा जिस अधिकरण मे वर्तमान प्रकृत विषय के प्रकरणगत अथ से सम्बन्ध देखकर अप्रकृत विषय का अथ किया जाता है। यथा—कालाकाल मृत्यु—विवेचन के प्रकरण मे ज्वर के साथ सम्बन्ध देखकर यह प्रश्न किया गया कि वैद्य ज्वरित को उष्ण जल पीने के लिए क्यो देते हैं ?

११ प्रयोजनव्याख्या— प्रयोजनव्याख्या नाम यत सूत्रमभिधीयमानस्यार्थस्या व्यतिरिक्तस्यार्थनिवृत्तौ निमित्तभावमपगमयति यथा—यावन्तो हि लोके भावविशेषा तावन्त पुरुषे यावन्त पुरुषे तावन्तो लोके—न ह्यनेन सूत्रणारब्धेन कश्चिदुपकारो दृश्यते यथा लोकपुरुषसामान्यदर्शननिमित्ताभता अस्योत्तरकाल सत्याबुद्धिर्जायत इति नोक्त स्यात तस्मादनेन प्रयोजनेद लोकपुरुषसामान्याख्यान प्रवृत्तम।

सूत्र मे कथित विषय की साथकता के प्रयोजन-परक जो स्पष्टीकरण किया जाता है वह प्रयोजन व्याख्या कहलाती है। यथा—लोक-पुरुष सामान्य प्रकरण मे निर्दिष्ट विषय के स्पष्टीकरण के लिए सत्य-बुद्धि की उत्पत्ति प्रयोजन बतलाया गया है। यदि यह प्रयोजन न कहा जाय तो सारा विषय अस्पष्ट और निरथक रह जाता है।

१२ अनुलोमव्याख्या— अनुलोमस्य व्याख्यानम येनवानुक्रमेण सूत्रेऽर्था निबद्धा तेनवानुक्रमेण भाष्येऽप्यभिधीयन्त यथा—प्रकृतिकरणसयोगादीन सूत्रयित्वा भाष्यम करोत तत्रप्रकृतिरुच्यते स्वभाव एवमा द।

जिस क्रम से सूत्र मे विषय निबद्ध है उसी क्रम से यदि भाष्य मे भी विवरण किया जाय तो वह अनुलोम व्याख्या कही जाती है। जैसे—प्रकृति करण संयोग आदि तथा कारण करण कार्ययोनि आदि का जिस क्रम से सूत्र मे उल्लेख किया गया उसी क्रम से भाष्य भी किया गया।

१३ प्रतिलोमव्याख्या—प्रतिलोमव्याख्या नामानुपूर्व्या सूत्रे नियुक्तोऽर्थ—स्तस्यानुपूर्वी व्युत्क्रम्यायस्य भाष्यमवतारयति। यथा—त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् विषमहेतुत्यागस्य समहेतुसेवनस्य च पूर्वकमप्रणीतं दृष्ट्वापि कथमेतं च कृतवान् सर्वथिमोत्पत्तिमपकर्षणमेवाहित काय तत्र प्रकृतिविघातानन्तर विकारोपशमनं भावानामनुपसेवनमत्र प्रतिलोमव्याख्याने प्रयोजनम्। तास्यामुपकल्पितमधिकृत्य

पश्चात् मूलं एव संशोधयिष्यामीति क्षीरादिभि साथ प्राक्कपपादयेत् समीरणार्थं च क्रिमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च। अतो निदानवर्जन आदौ नोपदिष्टम।

जहाँ पर सूत्र मे निर्दिष्ट अर्थ का आनुपूर्वी क्रम भगकर भाष्य किया जाता है वह प्रतिलोम व्याख्या कहलाती है। यथा—विषमहेतु के त्याग और सम के सेवन से धातुसाम्य का उपदेश करने के बाद पुन उपदेश किया कि क्रिमिरोग मे पहले क्रिमियो का अपकर्षण करना चाहिये तत प्रकृतिविघात तथा निदानोक्त भावो का सेवन करना चाहिये। समीरण और कोष्ठाभिसरण के लिए पहले निदान का ही सेवन कराया जाता है। अत निदान वर्जन पहले नही बतलाया।

१४ सूत्रसमव्याख्या— सूत्रसमा व्याख्या नाम यत्र प्रागुद्दिष्टे तत्सूत्रस्यापि तत्तुल्यमभिधीयत यथा—ऋत्वानपूर्वी शिशिरादिशरत्पर्यन्ता पठिता तेनैव क्रमेण चयप्रकोपप्रशमा श्लेष्मादीनां समपपद्यन्ते तनैव क्रमेण संशोधनमुक्तवान – हैमन्तिक दोषचय वसन्त प्रवाहयेत—एव सूत्र समवेक्ष्य भाष्य सूत्रसमा व्याख्या कथ्यते।

सूत्रसमव्याख्या वह है जहा पूर्व निर्दिष्ट सूत्र के समान आगे के विषय उपस्थित किये जाए। यथा—ऋतुओ की गणना शिशिर से शरद तक की गई है उसके बाद उसी क्रम से वात पित्त-कफ के चय प्रकोप प्रशम तथा उनके संशोधन का उपदेश किया गया।

१५ ध्वजव्याख्या— ध्वजव्याख्या नाम ध्वजमात्र सूत्रस्यार्थ कृत्वा सन्तिष्ठत यथा— विपरीतगुणदेशमात्राकालोपपादित । भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकारा साध्य सम्मता इत्यत्र विपरीतमिति भणता विपरीतस्य स्थापयितव्यम। सति ह्यविपरीत विपरीतमिति तच्च विपरीत सामान्य स्थाप्यत। तच्च द्रव्य गुण कर्म सामान्य च वृद्धिकारणम विपर्यय विशेष सोऽपि द्रव्यगुणकर्मणा ह्रासकारण तस्य वृद्धिह्रासकारणमतावित्ति।

जो ध्वजा के समान सूत्र के अर्थ का संकेत करती है वह ध्वज व्याख्या कहलाती है। जैसे—देश मात्रा काल के अनुसार विपरीत गुण औषधि से साध्य विकारो का निराकरण होता है यह कहने से सामान्य और विशेष दोनो का संकेत होता है। तथा द्रव्य-गुण-कर्म का सामान्य वृद्धि का कारण तथा विशेष ह्रास का कारण होता है इतना अर्थ निकलता है।

सप्तविध कल्पना

पन्द्रह प्रकार की व्याख्या का वर्णन करने के बाद सप्तविध कल्पना का प्रतिपादन किया गया है। कल्पना का सामान्य अर्थ होता है रचना या निर्माण करना या विधिवत् रचना आदि। आयुर्वेद मे यद्यपि औषधि निर्माण के सन्दर्भ मे कल्पना शब्द विशिष्ट अर्थपूर्ण एव विशिष्टार्थ का द्योतक है तथापि शास्त्रीय सन्दर्भ में उसका अपना विशिष्ट महत्व है। कल्पना शब्द यहां शैली-परक है और तन्त्र की शैली से सम्बन्ध रखता है।

कल्पना सात प्रकार की बतलाई गई है—१ प्रधान २ गुण, ३ लेश ४ इंगित ५ विभक्त ६ भक्ति ७ आज्ञा।

'सप्तविधा कल्पनेत्युक्तम् तद्यथा प्रधानगुणलेशेङ्गितविभक्तभक्त्याज्ञा कालख्या।

१ प्रधानकल्पना— 'तत्र प्रधानकल्पना नाम (प्रधानस्य कल्पना प्रधानेन वा कल्पना) यथा—सर्पि स्नेहयति क्षीरं जीवयति मधु सन्धत्ते इत्यत्र गवां क्षीरसर्पिषी प्रकृष्टगुणत्वात मधु च माक्षिकम प्रधानत्वात् प्रधानेन तु कल्पना यथा—तैलम्, यथा वा गौरसानां च यो वर्गो नवम परिकीर्तित न तु गवामेवात्र रस केवलो ह्युपदिष्ट महिषीजातिप्रभृतीनामपि तत्र रसा निरुक्ता प्राधान्येन तु कल्पनाव्यपदेश।

प्रधान की या प्रधान से जो कल्पना की जाती है वह प्रधान कल्पना कहलाती है। यथा घृत स्नेहन करता है क्षीर जीवनी शक्ति को बढ़ाता है और मधु सन्धान करता है। यहाँ पर प्रकृष्ट गुण एवं प्रधान होने के कारण गाय का दूध और घी तथा मधुमक्खी का मधु लेते हैं—यह प्रधान की कल्पना हुई। प्रधान से भी कल्पना करते हैं यथा—तेल या गोरस। तेल शब्द से यद्यपि अन्य तेलों का ग्रहण होता है तथापि प्रधान होने के कारण तिल तैल का ही ग्रहण करते हैं और इसी आधार पर इस सज्ञा की कल्पना हुई। इसी प्रकार गोरस से महिषी आदि के रस का भी ग्रहण करते हैं किन्तु प्रधान होने के कारण गौ के आधार पर यह कल्पना हुई।

२ गुण कल्पना— गुणकल्पना नाम येन धर्मेण पदार्थो पर्याप्तप्रयोजने नियुज्यमानो भवति तेन धर्मेण युक्तोऽसावगुणोऽपि सन् गुण इति कल्प्यते। यथा-बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥ उच्यत-सूत्र भाष्ये कर्मण्यपि गुणकल्पनामकरोत' घृत पित्तानिलहरमित्यादि।

गुण या धर्म के अनुसार जब प्रयोग होता है तो वह गुणकल्पना होती है। जैसे चिकित्सा चतुष्पाद निरूपण मे भेषज की कल्पना गुण के आधार पर की गई है। इसी के अनुसार कर्म मे भी गुणकल्पना हो जाती है जैसे—घृतं पित्तानिलहरम् इत्यादि।

३ लेशकल्पना— लेशकल्पना नाम अनपदिष्टस्य विशेष—यत् किञ्चित् सूत्रावयव परिगृह्यार्थ कल्प्यते यथा—नयतंत्र किञ्चित् कालमृत्योरकालमृत्योर्वा लक्षण प्रणीतं तत्तु लेशत उपनीयत।

जो विषय अनुपदिष्ट हो किन्तु सूत्रावयव के संकेत पर उसका अर्थ गृहीत हो वह लेश कल्पना कहलाती है। जैसे—नयतन्त्र में काल और अकाल मृत्यु का लक्षण दिया गया और वहा से उसका लेश ग्रहीत हुआ।

४ इंगित कल्पना – इंगितकल्पना नाम अकथयंस्तन्त्रकार यावदर्थ दर्शयति भावत यथा सर्वविद्यास्थानारम्भस्तम्भेऽस्मिन्नुक्तं कर्णाटपठितप्रश्लेषावयवमन्यते।

यथा शान्तपोयक्षा इत्यनेन वार्तापिण्डप्रह: शास्त्रोपसंवेशनम दैवगोब्राह्मणगुरु-वृद्धसिद्धाचार्यान् सेवयेदित्यभाविना स्मृतेरभ्याहार। धर्मार्थकाममोक्षाणामहितानामनुप-सेवने हितानां चोपसेवने प्रवर्तितव्यमित्यनेन विद्योपयोग:। नाविज्ञातस्वरं नार्थनिष्पत

पदन्नातिद्रुतं नातिविलम्बितं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यस्येदित्य ध्ययनशिक्षावरोध ।

द्रव्याणां कल्पविधानोपदेशान् कल्प । अनवपतितशक्लमकष्टं शक्वं इत्यनेन व्याकरणोपदेश । तन्त्रमाख्यातमित्यनेन निरुक्तसंग्रहणम् । पुष्यहस्तश्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते चन्द्रे मुहूर्त नागबलामूलान्युद्धरेदिति ज्योतिष्टोम यत्नो पावर्तनम् । मत्पदमात्रस्य प्रवस्योपदेशात् छन्दो विचितिसम्प्रवक्ष । यथा—बहुविधमिव मवतमर्वजाल तथा दीर्घजीवितमविच्छिन्न तथा बृहच्छरीर गिरिसारसारम् एवमादि सामान्यादीनामपनिबन्धनात्तर्कावरोध । विवादमार्गपदाभिधानाच्च हेतुशास्त्रनिगमनम । विक्षपकालात भावानां काल शीघ्रतरोऽत्ययो तथा तथा स्वाभावोपरम सदा इत्यनेन बौद्धप्रवचनमुपहृतम । लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षो इत्यनेन—मोक्षमार्गस दर्शनम ।

बिना कहे हुए तन्त्रकार इगित के द्वारा जब अर्थ को उपस्थित करता है तब यह इंगित कल्पना कहलाती है।

५ विभक्ताविभक्त कल्पना— विभक्ताविभक्तकल्पना नाम सक्षपोक्तस्यार्थस्य सतो यस्य विभाग तल्लक्ष्यते तस्य विस्तर कल्प्यते यथा—हेतुलिंगौषधज्ञानमिति एतानि त्रीणि पदानि सूत्राणि—एतदेव च विस्तार्यमाण कृत्स्न तन्त्र भवति ।

सक्षेप से प्रस्तुत अर्थ को जब विस्तत किया जाय तो वह विभक्तकल्पना होती है । यथा—हेतुलिंगौषधज्ञान इस त्रिसूत्र के विवरण के रूप मे ही सारा तन्त्र हुआ ।

६ भक्तिकल्पना— भक्तिकल्पना नाम यत्तदिति कल्प्यते उपचारमात्रेण यथा—आयुर्वेदोऽमृतानामिति ।

जो केवल उपचार के लिए जो कुछ भी कहा जाय वह भक्तिकल्पना होती है । यथा—उपचारवश आयुर्वेद को अमृतो मे श्रेष्ठ बतलाया गया ।

७ आज्ञाकल्पना— आज्ञाकल्पना नाम यस्य हेतुरनुष्ठाने न शक्यतेऽर्थस्यास्मद् विधैरभिधातु केवलमाप्तवचन प्रमाणीकृत्यानुभूयत यथा न छिन्द्यात्तृणम न भूमिं लिखेत एतस्मादिति न ह्यस्मिन् शक्यत हेतुराविष्कर्तु म कल्पनाम करणमनुष्ठानमित्यर्थ ।

जिस विषय का कथन करने के लिए हेतु का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं हो केवल अप्तवचन को ही प्रमाण मानकर अनुभव किया जाता है उसमे कोई हेतु नहीं दिया जा सकता वह आज्ञा कल्पना कहलाती है । जसे तिनका मत तोडो भूमि पर मत लिखो इत्यादि ।

सप्तदश ताच्छील्य

ताच्छील्य का सामान्य अर्थ होता है किसी विषय भाव या वस्तु के सदृश या तत्समान अन्य भाव का ज्ञान होना । जसे बाह्य भौतिक जगत् मे स्थित अग्नि भौतिक द्रव्यो का पाक करती है । उसी प्रकार सदृश भाव युक्त विषय या वस्तु का ज्ञान जिससे

होता है वह ताच्छील्य कहलाता है। आचार्यों ने इनकी संख्या सत्रह बतलाई है जो निम्न प्रकार है—

१ ताच्छील्य, २ अवयव ३ विकार ४ सामीप्य ५ भूयस्त्वम् ६ प्रकार ७ गुणि गुण विभव ८ ससक्तता ९ तद्धर्मता १० स्थान ११ साहचर्य १२ तादर्थ्य १३ कर्म १४ गुणनिमित्तता १५ चेष्टानिमित्तता १६ मूल संज्ञा १७ तात्स्थ्यम।

इनका विवरण निम्न प्रकार है—

१ ताच्छील्य— इसका सामान्य अर्थ है सादृश्य भाव। जब दो भिन्न द्रव्यो या भावो मे गुण धर्म स्वभाव या प्रकृति का सादृश्य भाव पाया जाता है तो वह ताच्छील्य कहलाता है। जैसे महर्षि चरक ने लोक और पुरुष का साम्य प्रतिपादित किया है। ताच्छील्य के उदाहरण में बतलाया गया है कि जिस प्रकार पुरुष सोया हुआ होता है उसी प्रकार शरीर के अगो की सुप्तता होना।

२ अवयव— किसी विषय का कथन करने पर उससे सम्बन्धित विषयान्तर का ज्ञान होना अवयव कहलाता है। जसे— लघन से विकारोपशमन होकर आरोग्य का सम्पादन होता है। ऐसा कथन करने पर अनुक्त इस बात का भी ज्ञान होता है कि लघन नही करने से विकार का शमन नही होता है और शरीर मे रोग स्थिति बनी रहती है।

३ विकार— विकार का सामान्य अर्थ है विकृति। प्रस्तुत प्रकरण मे ऐसे पद का प्रयोग जो उसके वास्तविक अर्थ को प्रकट नहीं करता हो विकार से अभिप्रेत है। जैसे पालक एक प्रकार का शाक है। उसे जब पकाया जाता है तो वह अपने मूल गुण धर्म को छोड देता है किन्तु फिर भी वह शाक ही कहलाता है अत यह विकार है। अथवा द्रव्य विशेष की अवस्थान्तर भी विकार कहलाती है। जसे दूध से दही जमाया जाता है। अत दही दूध का विकार कहलाता है।

४ सामीप्य— भट्टार हरिश्चन्द्र ने इसे 'संश्लेष' कहा है। जसे—सामीप्य नाम 'संश्लेष तत संश्लेषादेतत् (वस्त्वन्तरम) पितद्वदुपचार लभते। यथा— श्रोत्रप्रभृतीनीन्द्रियाणि शिरसा संश्लिष्टानीत्य पचय ते यदुत्तमांगमपानां शिरस्तदभिधीयते इत्यारभ्य यावत प्रतिश्यायमुखनासाक्षिकर्णरोगा।

अर्थात समीपता का अर्थ है संश्लेष। उस संश्लेष से यह (अन्य वस्तु) भी उसी के समान उपचार को प्राप्त होती हैं। जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियां शिर से संश्लिष्ट हैं—ऐसा व्यवहार किया जाता है। जो अगो में उत्तमांग है वह शिर कहलाता है—यहां से प्रारम्भ करके प्रतिश्याय मुख नासा, अक्षि कर्ण रोग पर्यन्त। (देखिये चरक संहिता सूत्रस्थान अ १७ मे १२ एवं १३)।

आचार्य अरुणदत्त ने इसका विवेचन नहीं किया है।

५ भूयस्त्व— जो अनेक में विद्यमान रहता हुआ आधिक्य से जहाँ लक्षित होता है अर्थात् जिसकी प्रमुखता रहती है वह भूयस्त्व है। जैसे अम्ल रस भोजन को रुचिकर बनाता है—ऐसा कहा गया है। क्या मधुरादि रस भोजन को रुचिकर नहीं

बनाते हैं—इसका उत्तर देते हुए कहा गया कि अम्ल रस में भोजन की रोचकता अधिकता से पाई जाती है।

६ प्रकार—जो जिस भाव का समान धर्मी होता है वह उसका प्रकार है। जसे—एरण्ड नाल से कण्ठ का स्पर्श करते हुए वमन करावे—ऐसा कहा गया है। उसके प्रकार भूत सुवचला शतपुष्पा आदि के नाल का ग्रहण यहाँ नही है। अभिप्राय यह है कि एरण्ड नाल ही अभीष्ट है।

७ गणि गुण विभव— जहाँ गुण गुणत्व से और गुण गुणित्व से व्यपदिष्ट होता है वहा गुणि गुण विभव होता है। गुणी गुणत्व से जैसे—शारीर गुण दो प्रकार के होते हैं—मलभूत और प्रसाद भत। मल भत— स्वेद मूत्र पुरीष वात पित्त श्लेष्मा कर्णादि का मल। प्रसादाख्य मल रसादि शुक्रान्त धातुए। गुण शब्द से गुणि कहलाते हैं। इनका गुणित्व कसे है ? द्रव्यत्व होने से। द्रव्य गणित्व होने से। ये सब द्रव्य हैं गुण गुणित्व से जैसे—ऋषिगण रसायन के सेवन से मेधा स्मति बल से युक्त अमित आयु वाले हुए।

८ ससक्ता—एक अनेक के साथ सम्बद्ध इष्ट कर्मों मे विद्यमान होने हुए अन्य सम्बन्धियो मे एक का ही व्ययदेश होना ससक्तता है। जसे—द्रव्य मधुर रस वाले मधुर प्राय मधर प्रभाव वाले मधुर प्रभाव प्राय वाले होते हैं। मधुर स्कन्ध मे मधुर रस वाले द्रव्यो का उल्लेख है। वहाँ पर एक मधुर रस अनेक द्रव्यो से सम्बद्ध हैं। उन द्रव्यो मे अम्लादि रसो की भी सम्भावना होती है। अत मधुर प्राय कहा गया है। यही ससक्तता है।

९ तद्धमता—जो तथाभूत (उसी प्रकार) का होता है धम दशन से अभिन्न (सदृश) मे व्याख्या को प्राप्त करता है वह तद्धमता है। जैसे—पृथ्वी पर मृत्यु के अनुचर घूमते "। यह कथन छद्मचर (अकुशल) वैद्य के लिए कहा गया है जो यम तुल्य होता है। दोनो ही मत्यु के अनुचर हैं।

१ स्थान—जहाँ स्थानी से स्थान और स्थान से स्थानी का ज्ञान होता है वह स्थान कहलाता है। जसे—श्रोत्र। श्रोत्र इन्द्रिय होती है उसका सम्बन्ध स्थान से है। श्रोत्रेन्द्रिय स्थानी है उससे उसके अधिष्ठान कण का ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त रस कहने पर जिव्हा विषयक भाव का बोध होता है किन्तु इसका ज्ञान रसेन्द्रिय से होता है जो जिव्हा (अधिष्ठान) मे स्थित रहती है। यह स्थान से स्थानी का बोध कराता है।

११ तादर्थ्य—जिस प्रयोजन के लिए जो भाव प्रवर्तित होता है उसी से व्यपदेश करना तादर्थ्य कहलाता है। जैसे—स्नेह-स्वेद से आस्य (दोषोत्क्लेश के द्वारा) करके अपामार्ग तण्डुल आदि का विरेचन देकर शिरो विरेचन देना चाहिये। उस प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति की जाती है। भट्टार हरिश्चन्द्र ने इसे अभिताय कहा है।

१२ साहचर्य—जो जिसके साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है वह उसी सम्बन्ध से उसी सम्बन्धी शब्द को प्राप्त करता है। जैसे—छत्री दण्डी मौली आदि। मनुष्य के पास छाता होने पर वह छत्री दण्ड होने पर दण्डी कहलाता है। अत छाता का छत्री (छाता धारी मनुष्य) दण्ड का दण्डी (दण्ड धारी मनुष्य) का साहचर्य भाव होता है।

१३ कर्म—कर्म नाम यत् न च कर्म कर्मेति चोपचर्यते। यथा—एतमेकमयनं मुक्तमोक्षस्य दर्शितम्' तद्वत् स्मृति बल येन गतं न पुनरागता। अर्थात जो कर्म नही है किन्तु कर्म उपचरित होता है। जसे मुक्ति को प्राप्त जनो के द्वारा मोक्ष का यही एक मार्ग बतलाया गया है उसी प्रकार जिससे स्मृति बल चला गया और पुन' वापिस नही आया।

१४ गुण निमित्तता—गुणनिमित्तं नाम यत कस्यचिद भावस्य विभूति प्रशंसा प्रख्याप्यते। यथा—प्रीतिर्बल सुख वृत्तिविस्तारो विभव' कुलम। यशोलोका सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्य सश्रिता'। इत्यपत्यस्य प्रशसा पूर्विका विभूति प्रख्याप्यत।

अर्थात जो किसी भाव की विभूति प्रशसा को ख्यापित करती है वह गुण निमित्तता होती है। जैसे—प्रीति बल सुख वृत्ति का विस्तार वैभव कुल यश लोक सुखोदक और तुष्टि (सन्तोष) ये समस्त भाव अपत्य (सन्तान) मे आश्रित होते हैं। इस प्रकार अपत्य की प्रशसा पूर्वक विभूति ख्यापित की गई है।

१५ चेष्टा निमित्त—चेष्टानिमित्तं नाम यन्निमित्तमात्र कस्यचित क्रिया च भवति भावस्य धर्मस्येत्यथ न ह्यत्र प्रस्पन्द क्रिया इष्टा। तद्यथा ज्वलत्यात्मनि सत्त्व तत्सत्वं सम्प्रकाशते। शुद्धस्थिरप्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा।

अर्थात किसी भाव याने धर्म की जो क्रिया निमित्त मात्र होती है उसे चेष्टा निमित्त कहते हैं। यहाँ प्रस्पन्द क्रिया इष्ट नही है। जसे—वह अवरुद्ध मन आत्मा मे इस प्रकार प्रकाशित होता है जसे शुद्ध स्थिर और निर्मल किरण वाला दीपक दीपाशय मे प्रकाशित होता है। यहां पर सत्व की प्रदीप की भाँति निर्मलता (तेज) उर्ध्व विसर्पित होने के लिए नहीं है उसी प्रकार वह सन्निकृष्ट अन्य द्रव्यों को नहीं जलाता है रूप में अथवा स्पर्श मे तैलवर्ती का दीपोदान है। यहाँ तो मात्र प्रकाश क्रिया को ही ग्रहण करके जलता है—यह समाख्या होती है।

१६ मूल संज्ञा—मूल संज्ञा नाम यो लोकेऽस्मिन्नर्थ प्रसिद्ध तत्र चान्यस्मिन्नर्थे निवेशित यथा—लिङ्गमाकृतिश्चिह्नं संस्थान व्यञ्जन रूपम' इति। रूपञ्च लोके शुक्लनीलसितकृष्णादिषु स्वसंज्ञास्तु विधाय लक्षणार्थाभि निरूढम्।

अर्थात् लोके में जो अर्थ प्रसिद्ध है उससे भिन्न अर्थ में निवेशित करना मूल संज्ञा होती है। जैसे-लोक मे रूप शब्द का अर्थ शुक्ल नील कृष्ण आदि के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु आयुर्वेद में रोग के लक्षण के लिए व्यवहृत होता है। लक्षण के पर्यायों मे रूप का भी समावेश है। जैसे—लिंग आकृति संस्थान चिह्न रूप।

१७ तात्स्थ्य—तात्स्थ्यं नाम यदन्यस्तस्यैवार्थस्य भाव तत्स्थत्वादन्यस्यैव कल्प्यते तद्यथा—वस्तिमेहनयो शूलं मूत्रकृच्छ्रविरोधजा। तत्रात्मन शूलं वस्तिमेहनयोरेव कल्प्यते तत्प्रदेशस्थत्वात् इति।

जो अन्य अर्थ का भाव वहां स्थित होने से अन्य का ही समझा जाता है वह तात्स्थ्य होता है। जैसे—कहा गया है कि बस्ति एव शिश्न का शूल मूत्रकृच्छ्र शिरोरुजा। यहाँ वस्तुतः शूल का अनुभव आत्मा को होता है किन्तु स्थान विशेष मे होने से बस्ति व शिश्न का शूल कहा जाता है।

एक विंशति अर्थाश्रय

शास्त्र के सुकर ज्ञान के लिए जिस प्रकार तन्त्रयुक्ति व्याख्या कल्पना का समुचित ज्ञान अपेक्षित है उसी प्रकार आश्रय' का ज्ञान भी आवश्यक है। शास्त्र मे प्रतिपादित विभिन्न विषयो के वर्णन लिए जो वर्ण विन्यास किया जाता है उनके समुचित अर्थज्ञान के लिए आश्रय का आश्रय लेना उपयोगी होता है। आश्रय शास्त्र में प्रतिपादित शब्दो वाक्यो अर्थ एव भाव की सगति बैठाने मे महत्वपूर्ण होते हैं। शास्त्र मे जो आश्रय बतलाए गए है उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे विशिष्ट प्रकार के नियम का सकेत करते हैं। उनसे शास्त्र मे अपनाई गई विशिष्ट शैली एव शब्द विन्यास की प्रक्रिया विशेष का भी आभास मिलता है। अष्टांग सग्रह के टीकाकार आचार्य अरुणदत्त ने बीस आश्रय बतलाए हैं जबकि भट्टार हरिश्चन्द्र ने इक्कीस आश्रयो का उल्लेख किया। उनका विवरण निम्नानुसार है—

१ आदि लोप—आदि याने आरम्भ के पद का अभाव। किसी सूत्र या पद में पूर्ववर्ती शब्द का प्रयोग नहीं किया जाना आदि लोप होता है। जैसे रस ब हयति अर्थात रस ब हण करता है। यहाँ रस से पहले मास का लोप है। इसी प्रकार धारणाद्धातव यहा धारण शब्द से पूर्व देह' शब्द का लोप है।

२ मध्यलोप— किसी सूत्र या वाक्य मे मध्यवर्ती पद का प्रयोग नही किया जाना मध्यलोप कहलाता है। जैसे अन्न विज्ञानीय या द्रव द्रव्य विज्ञानीय मे मध्य पद स्वरुप का प्रयोग नही होने से यह मध्यलोप है। पूणपद अन्नस्वरुप' तथा द्रवद्रव्यस्वरुप विज्ञानीय होना चाहिये।

३ अन्तलोप— जिस सूत्र या पद या वाक्य मे अन्तवर्ती शब्द का प्रयोग नही किया गया हो वह अन्तलोप कहलाता है। जसे सर्पास्ते पीतमारुता यहा पर अन्त मे इव शब्द का लोप है। इसी प्रकार य स्यादनबलो धातु स्नेहवध्य स चानिल। यहाँ अन्त मे प्राय शब्द लोप है।

४ उभय लोप—दो पदो का प्रयोग नही किया जाना उभय लोप कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है १ आदिमध्यलोप २ आद्यन्तलोप ३ मध्यान्त लोप। आदि मध्य लो रसाधिकार मे मधुराम्ललवणकटतिक्तकषाय ये षडरस बतलाए गए हैं। यदि कहा जाय अम्लकटतिक्तकषाया तो यहा आदिभत मधुर और मध्यमभूत लवण का लोप है। इसी प्रकार 'मधराम्लकटतिक्त कहने पर मध्यभत लवण तथा अन्तभूत कषाय का लोप है यह मध्यान्त लोप हैं। अम्ललवणकटतिक्ता कहने पर आदिभूत मधर और अन्तभूत कषाय का लोप है यह आद्यन्त लोप है।

५ आदिमध्यान्त लोप—जिस सत्र या वाक्य मे आदि मध्य अन्त तीनो पदों का प्रयोग नही किया जाय तो वहां आदि मध्यान्त लोप होता है। जैसे द्वौ रसाविति

—व मल्लकटकार्यामिति अर्थात् दो रस कह गए हैं-अम्ल और कट । यहाँ आदि मृत मधुर म ध्यस्त ल ण और तिक्त तथा अन्तभ कषाय का लोप है ।

६ उपधालोप इसका उल्लेख भट्टार हरिश्च द्र ने किया है । अरुणदत्त ने इसका उल्लेख नहीं किया है । भट्टार हरिश्च द्र के वचनानुसार पञ्चरसेन द्रव्येण मधुराम्ललवणकटुकषा या इत्यत्रोपान्तस्य लोप । अन्त्यात् पूर्वो वर्णः उपधा संज्ञा इत्युक्तम । अस्माच्च कषायात्तिक्त पूर्व इति ।

अन्त से पूर्ववर्ती पद उपधा कहलाता है । उसका लोप होना उपधा लोप होता है । जैसे-पाँच रस वाले द्रव्य से मधुर अम्ल-लवण-कटु-कषाय का कथन करने पर उपान्त (अ त का पूर्ववर्ती या समीप वर्ती) तिक्त का लोप किया गया । अत यह उपधा लोप है ।

७ वर्णोपजन—ग्रथ मे यदि कोई वण अनुक्त है तथा बाद म व्याख्या के समय आचाय द्वारा उपज्ञानीय अथ का कहा जाना वर्णोपजन है । जैसे 'त्रिरात्र यावक वाल पचाह चापि सर्पिषा' यन्तं स्नेह्य अथवा सवक्तव्य यह वण उपजनित होता है ।

ऋषिक्लिष्ट कोई ऐसा पद या शब्द जो ऋषिपत्रक द्वारा असावधान चित्त होने से अथवा अशक्ति से भ्रष्ट रूप से या अशुद्ध रूप से उच्चारित होकर वैसा ही लोक मे प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाय वह ऋषिक्लिष्ट होता है । जैसे—लोम के स्थान पर रोम परोडाश के स्थान पर परोलाश आदि ।

६ तन्त्र शील – सूत्रका के द्वा । शिष्य को समझाने के लिए स्वयं ही सन्देह उत्पन्न कर पन उसका निराकरण क ते हैं वह तन्त्रशील होता है । जसे—सशयश्चात्र कथ न खल्वाम इतश्च्यवता न शे । स्वयमवोत्तरात्र स यहम उत्तरत्र पुनर्निर्धारयन्नाह अन्मा मातृ पितुर्वा य सोऽपत्य सं रेरोदि । ए म बिना । अर्थात चरक सहिता शरीर स्थ न मे यदि माता या पिता की आ मा सन्तान मे सचरित होती है—इत्यादि के द्वा । स्वय प्रथम स न्देह उत्पन्न कर आगे उसका निराकरण कर दिया गया । यह तन्त्र रचना की श ी विशेष है अत इसे तन्त्रशील कहा गया ।

१० त त्र सज्ञा ग्रथ या तन्त्र मे सन्दभ विशेष मे किसी शब्द विशेष का सीमित अथ मे प्रयोग करना तन्त्र सज्ञा कहलाता है । जैसे नव ज्वर मे कषाय का निषध किया गया है । कषाय शब्द से सामान्यत पचविध कषाय अभिप्रेत होता है किन्तु नव ज्वर के प्रसग में कषाय का सीमित अर्थ क्वाथ ही लिया गया है ।

११ प्रकृत—प्रकृत का सामान्य अर्थ है प्रस्तुत । अर्थात ग्रंथ मे जहाँ जसा प्रसग हो तदनुसार ही अर्थ ग्रहण करना प्रकृत कहलाता है । जैसे— क्षार क्षीर फल पुष्प भस्मतैलानि कण्टक । यह औद्भिद गण है । इसके सन्दर्भ में यहाँ क्षीर शब्द से स्नुही अर्क आदि का क्षीर अभिप्रेत है न कि गाय भैंस आदि का क्षीर ।

१२ समानतन्त्र प्रत्यय—ग्रंथ में प्रतिपादित किसी विषय विशेष का साधन करने के लिए तन्त्रान्तर मे प्रतिपादित कथन को उद्धृत क ना समानतन्त्र प्रत्यय कहलाता है । जैसे—शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य को नख केश दाढ़ी आदि दस दिन में काट लेना चाहिए । इसके समर्थन मे अन्य शास्त्रो के वचनो को उद्धृत रखा ।

१३ परतन्त्रप्रत्यय— ग्रंथ में प्रतिपादित किसी विषय की प्रसिद्धि के लिए अन्यस्त भिषक तन्त्र के लिए अन्य तन्त्र के उदाहरण का प्रतिपादन करना शक्य हो वह परतन्त्र उदाहरण (प्रत्यय) कहलाता है। जैसे आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्ष सा निगद्यते। यहाँ पर इस तन्त्र (चरक संहिता) में शब्दादि गुण अर्थ संज्ञा वाले हैं। आत्मा इन्द्रिय मन इन द्रव्यों से शब्दादि गुणों का सन्निकर्ष नहीं होता है। क्योंकि सन्निकर्ष संयोग को कहते हैं वह भी गुण है। परादि गुणों में उसका पाठ है। इसके अतिरिक्त गुण गुणाश्रित नहीं होते हैं। अतः यहाँ सन्निकर्ष की उपपत्ति नहीं है। परतन्त्र से इस अर्थ की सिद्धि के लिए उदाहरण दिया गया है।

१४ हेतु हैतुक धर्म—एक रोग से दूसरा रोग उत्पन्न होने पर प्रथम रोग का कारण दूसरे रोग का भी कारण बने वह हेतु हैतुक धर्म होता है। जैसे पित्तातिसार से रक्तातिसार होता है। यहाँ पित्त से ही पित्तातिसार होता है और पित्त ही रक्त को दूषित कर रक्तातिसार उत्पन्न करता है। अतः रक्तातिसार का मूल कारण पित्त है अतिसार नहीं। यही हेतुहैतुक धर्म है।

१५ कार्य कारण धर्म कार्य संज्ञा से कारण का और कारण संज्ञा से कार्य का निर्देश करना कार्य कारण धर्म होता है। दोष भी रोग शब्द को प्राप्त करते हैं। वहाँ दोष कारण होते हैं। जैसे सर्वेषामपि रोगाणां कारणं कुपिता मलाः समस्त रोगों का कारण कुपित मल होते हैं ऐसा वचन है। वही दोष रोग कहलाता हुआ कारणभूत दोष में कार्यभूत रोग उपचारित होता है। ऐसा कार्यकारण संज्ञा निर्दिष्ट है।

१६ आख्यात विपर्यय ग्रंथ निर्माण तथा शास्त्र रचना के उद्देश्य से सौकर्य के लिए पद सूत्र या प्रकरण के क्रम को उलट-पलट देना आगे पीछे कहना आख्यात विपर्यय कहलाता है। जैसे मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी मन दश इन्द्रिया अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और अष्ट धातुमय प्रकृति। यहाँ मन का व्याख्यान करने के पश्चात इन्द्रियों और उनके अर्थ तथा अष्ट धातुमय प्रकृति की व्याख्या करके आकाशादि पंच महाभूत की व्याख्या की गई। इसी प्रकार अन्नपान विधि की व्याख्या में प्रथम पान का और बाद में अन्न का वर्णन किया।

१७ शब्दान्तरत्व—किसी रोग या अन्य द्रव्य के लिए एक से अधिक शब्दों (पर्यायों) का उल्लेख करना शब्दान्तर (शब्दान्तरत्व) कहलाता है। जैसे आयु के लिए धारि जीवित चेतनानुवृत्ति नित्यग अनुबन्ध आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना।

१८ प्रत्यय धर्म जो हेतु धर्म उपपत्ति मात्र से किसी हेतु के द्वारा पर्यादिष्ट नहीं होता है वह प्रत्यय धर्म कहलाता है। जैसे— देवादयः कुर्वन्त्युन्मत्तम्— अर्थात देव आदि उन्मत्त करते हैं। यहाँ देव ऋषि पितर गन्धर्व आदि को उन्माद का हेतु प्रतिपादित किया गया है। किन्तु वस्तुतः ये उन्माद कर्तृत्व में हेतु नहीं हैं। प्रज्ञापराध ही मुख्य हेतु हैं। इस प्रकार प्रधान कारण की उपेक्षा कर गौण कारण को महत्व देना प्रत्यय धर्म है।

१९ उपनय— उप समीप नीयते इति उपनयः अर्थात निकट या समीप में लाना उपनय कहलाता है। भट्टार हरिश्चन्द्र के अनुसार स्वतप्रवित पूर्व सूत्र से अन्य प्रकरण (प्रासंगिक होने पर) प्रस्तुत या वर्णन करना उपनय कहलाता है। जैसे—

यथा पुष्कीये के आहाराधिकार प्रकरण में चौरासी अन्नपानासव बतलाए गए हैं। अष्टाँग हृदय में मात्राशितीय अध्य य मे विसूचिका रोग का वर्णन।

२ सम्भव—ऐसे विषय का प्रतिपादन या वर्णन करना जो उस सम्पूर्ण प्रकरण का व्यापक करे सम्भव कहलाता है। जैसे—भोजन वेला में आचमन करे। यहाँ आच न का उल्लेख भोजन प्रकरण की व्यापकता के कारण किया गया है।

२१ विभव विविच्यमान जो सूत्र या प्रकरण अर्थ के व्यापक होने से सम्पूर्ण शास्त्र के द्वा । व्याख्यायित होता है वह विभव कहलाता है। जैसे शल्य शालाक्य आदि आयुर्वद के आठ अग सम्पूर्ण त त्र को व्याप्त करते हैं अत उनकी व्याख्या सम्पूर्ण शास्त्र के द्वारा की जाती है।

चतुर्दश तन्त्रदोष

तन्त्र याने शास्त्र को दूषित करने वाले सूत्र पद भाव या विषय को तन्त्रदोष कहा जाता ह। तन्त्रयुक्ति के स दभ म इनका ज्ञान भी अपेक्षित है ताकि शास्त्र का विधिवित अध्ययन करने वाले विज्ञ जन त त्र दोषों का ध्यान रखते हुए और इनका परिहार करते हुए निमल ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो। तन्त्रदोष के ज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

कुलक्षणैर्हीनत्वमङ्गानामपि भूषणम्।
इत्थं तन्त्रसम्बन्धाद्दोषविज्ञानमीयते॥

अर्थात अगो का दुर्लक्षणो (अशुभ लक्षणों) से विहीन रहित) होना भी भूषण होता है इस प्रकार अलका से सम्बन्धित होने से दोष विज्ञान कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि जब दोषो का सम्यग ज्ञान होगा तब ही उनके परिहार या ट क ने का उपाय किया जायगा। अत शास्त्र का निदु ट सुलक्षण युक्त एव विद्वान गनीत यो य बनाने के लिए प्रथम त त्रदोषो का ज्ञान अपेक्षित है

सामान्यत आचार्यों द्वारा चतुदश त त्रदोष बतलाए गए हैं। उनका विवरण निम्नानुसार है—

१ अप्रसिद्ध शब्द—जो शब्द लोक मे प्रचलित या प्रसिद्ध न हो ऐसे शब्दो का प्रयोग करना अप्रसिद्ध शब्द कहलाता है। जैसे—उदावक्य गमनं लक्ष्मी सम्मज्ञानान अर्थात उदक्या (रजस्वला) का आगमन असुख का कारण होता है। यहा उदक्या शब्द अप्रसिद्ध एव अप्रचलित है क्योकि उसका सामान्यत व्यवहार नहीं होता है।

असमाप्तार्थ जो अनुपसहृत यान अन्यक रूप से कहा जाय वह असमाप्तार्थ होता है। जैसे पिप्पली पिप्पलीमूल च चित्रक । इस प्रकार यह पुन कहा गया। आगे यह कुछ नही कहा गया कि इनम क्या करना है। यह अनर्थक कथन होने से असमाप्तार्थ ह।

३ अनर्थक अनर्थक नाम यत्र वर्णक्रमे आचार्य केवल। यथा—क च ट त पा इति पञ्च वर्गाः तत्र न कश्चिद् अर्थः साक्षाद्युक्तः। अर्थात् वर्ण क्रम में आचार्य के द्वारा जो कहा जाय वह अनर्थक है जैसे क च ट त प ये पाँच वर्ग हैं। इसमें आचार्य द्वारा कोई भी साक्षात अर्थ नही कहा गया है।

आचार्य अरुणदत्त ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—अनर्थकं नाम यदन्यार्थं पदेनापगताभिधेयम्। अर्थात जो अन्य अर्थ वाले पद से अपगताभिधेय हो वह अनर्थक है।

४ **अवाचक**—यत्सकेतरहितमपि सूत्रोच्यमानम । यथा-इन्द्रवारुणीशब्दस्थाने वासवसुराशब्द-अर्थात् सकेत रहित भी सूत्र द्वारा उच्यमान हो । जैसे—इन्द्रवारुणी शब्द के स्थान पर वासवसुरा शब्द का प्रयोग । आचाय अरुणदत्त के अनुसार जो सूत्रमे असम्बद्ध हो ।

५ **असुखाक्षरपदम**— ऐसे विषमाक्षर का निवेश जिसका उच्चा ण कठिनता से हो जैसे— **कार्तास्न्यं म** ।

६ **विरुद्ध** यह तीन प्रकार का होता है। दृष्टान्तविरुद्ध सिद्धान्त विरुद्धऔर समय विरुद्ध । दृष्टान्त विरुद्ध जैसे—पुरुष नित्य है (प्रतिज्ञा) अकृतकत्व होने से (हेतु) जैसे—हम लोग (दृष्टान्त) । हम लोगो के शरीर अकृत या नित्य नहीं है । अत यह उदाहरण (दृष्टान्त) ठीक नही होने से विरुद्ध है । सिद्धान्त विरुद्ध जैसे मधुराम्ललवण रस श्लेष्मा का शमन करते हैं । वस्तुत ये तीनो रस श्लेष्मा की वृद्धि करते हैं न कि शमन । सिद्धान्त विरुद्ध होने से यह सिद्धान्त विरुद्ध है । समय विरुद्ध—यथार्थदर्शी पूर्वाचार्यों के द्वारा जो कहा गया उसका अतिक्रमण करके उसके विरुद्ध कार्य करना । जैसे आचार्यों ने कहा है— मिट्टी का ढला नहीं फोड भूमि पर न लिखे तिनका नही त ड़े इत्यादि । इसके विपरीत ढेला फोडना भूमि पर लिखना तिनका तोडना समय विरुद्ध है ।

७ **अति विस्तृत**—अनावश्यक रूप से त त्र मे विषयो को अ यधिक विस्तार पूर्वक वणन करना । जसे त त्र मे मधुर स्कन्ध का वणन करते समय मधर रस वाले मधर प्रभाव वाले मधर प्रभाव प्राय वाले जितने भी द्रव्य पथ्वी पर हैं उन सभी का वणन करना विषय एव त त्र का अनावश्यक विस्तार है ।

अतिसक्षिप्त त त्र मे किसी भी विषय को अ य त सक्षप मे कहना जिमस विषय का सम्यगवबोध नही हो पाए । जसे— हेतु लिङ्गौषध इन पदो को कहा जाय इसकी व्याख्या या विस्तार पूवक कथन नही किया जाय ।

६ **अप्रयोजन** – बिना प्रयोजन किसी काय या त त्र रच । मे प्रवत्त होना अप्रोजन कहलाता है । जसे-तन्त्र में आचरणीय विषय प्रतिपादित किया गया । यदि उसका प्रयोजन ऐसा आचरण करने से आयु आरोग्य एव यश की प्राप्ति होती है न बतलाया जाय तो उस आच ण मे कौन प्रवत्त होगा ।

१ **भिन्न क्रम**—त त्र मे किसी विषय का निरूपण पूव मे जिस क्रम से किया गया है उसी क्रम से आगे वणन नही किया जाय तो वह भि न्नक्रम होता है । जसे शास्त्र मे हेतु, लिंग और औषध का ज्ञान प्राप्त करने का निदेश किया गया है । किन्तु आगे चलकर उसी क्रम से उसका वणन नही किया जाय । प्रथम औषध (चिकित्सा) का निर्देश बाद में लिंग का और अन्त मे हेतु का प्रतिपादन करना भिन्न क्रम का द्योतक है ।

११ **संदिग्ध**—जिस विषय मे निणय नही हुआ हो उसे संदिग्ध कहते हैं । जैसे अकाल मृत्यु है अथवा नही ?

१२ **पुनरुक्त**—किसी विषय का पुन पुन कथन करना पुनरुक्त होता है ।

१३ **प्रमाणानुपगृहीत**—जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से प्राप्त करना शक्य न हो वह प्रमाण से अनुपगृहीत होता है ।

१४ **व्याहत**—जिसमे पूर्व वाक्य वृत्ति से उत्तर वाक्य अथवा उत्तर वाक्य वृत्ति से पूर्व वाक्य व्याहत या खण्डित होता है वह व्याहत कहलाता है ।